सम्पादक: शिवदानसिंह चौहान

आलोचना

जकमल प्रकाशन

आलोचना

ङ्क ५ अक्टूबर १९५२

ांक ३) इस विशेषांक का ५)

ची

प्रकाशकीय

मान्य पाठकों को इतिहास अंक की अक्टूबर मास में प्रतीक्षा है। इसके प्रकाशन में जो असम्भव देरी हुई है उसके लिए हम सभी पाठकों के सम्मुख उत्तरदायी हैं, परन्तु हमें विश्वास है कि हमारे पाठकों को इस बात में सन्देह न होगा कि यदि अपरिहार्य कठिनाइयाँ न उपस्थित हो गई होतीं तो अंक समय से ही उन्हें मिलता। फिर भी विलम्ब के लिए हमें हार्दिक खेद है। भविष्य के लिए हम सभी पाठकों को आश्वस्त करना चाहते हैं कि 'आलोचना' नियमित रूप से समय पर ही निकला करेगी।

इतिहास विशेषांक

जब इतिहास अंक की घोषणा की गई थी तो अनुमान था कि इस विशेषांक की कुल सामग्री २५० पृष्ठों में समा सकेगी। जैसा कि आप देखेंगे, इस अंक के २५६ पृष्ठों में इतिहास-सम्बन्धी सामग्री का आधा भाग ही प्रकाशित हो सका है। इससे अधिक सामग्री एक ही अंक में देना किसी प्रकार सम्भव न देख हमने निश्चय किया है कि अगला अंक 'इतिहास शेषांक' के नाम से निकले। तदनुसार जनवरी १९५३ के अंक में इतिहास-सम्बन्धी वह सामग्री ही छपेगी जो हमारे पास शेष है। इस अंक की सूची 'इतिहास अंक' के कवर के तीसरे (अन्दर के) पृष्ठ पर छपी है। अक्टूबर ५२ और जनवरी ५३ के दोनों अंकों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गए हैं।

—प्रबन्ध-विभाग

आलोचना

सम्पादकीय

साहित्य के इतिहास की समस्या

हर नई परिस्थिति में, जब पुराने समाज-सम्बन्ध और विचार समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने लगते हैं और भावी विकास की सम्भावनाएँ समाज के गर्भ में परिपक्व होकर नये जीवन-लक्ष्यों की चेतना जगाने और नये मानव-उद्योग और संघर्ष का आवाहन करने लगती हैं, उस समय मनुष्य परिस्थितियों के अन्तर्विरोध से उत्पन्न समस्याओं को समग्र रूप में समझने-सुलझाने और नई प्रेरणा और अन्तर्दृष्टि पाने के लिए मानव-इतिहास का नये सिरे से अध्ययन करता है। यह अध्ययन कभी निरुद्देश्य नहीं होता। जो प्रगति के आकांक्षी हैं वे इस अध्ययन द्वारा सत्य का अन्वेषण करते हैं, अर्थात् इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए वे उसके विकास-नियमों और विकास-धाराओं का उद्घाटन करके एक सजीव, गत्यात्मक समाज-सिद्धान्त की उद्भावना करते हैं। और जो प्रगति-विरोधी हैं वे इतिहास को असम्बद्ध, कारणहीन, स्वयंभू घटनाओं का पुञ्ज सिद्ध करके उसकी भावी प्रगति की दिशा पर परदा डालते हैं। इस प्रकार वर्ग-समाज के अन्तर्विरोधों के कारण इतिहास के प्रति भी परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों का जन्म हुआ है।
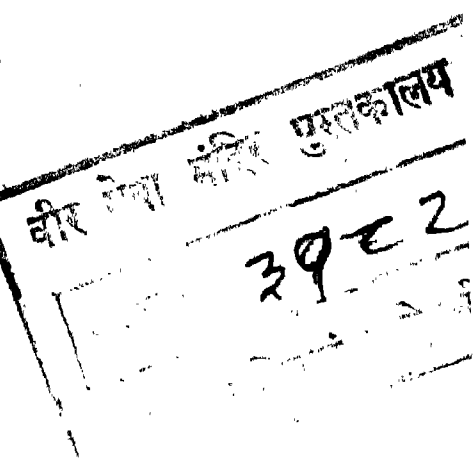
यह स्थिति साधारण इतिहास के क्षेत्र में ही नहीं है बल्कि मनुष्य-रचित हर भौतिक अथवा विचारगत क्रिया-कलाप के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन-क्षेत्रों में भी है। अर्थात् नृशास्त्र, शिल्प-विज्ञान, समाज-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, पुरातत्त्व, राजनीति, दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में इतिहास के अध्ययन के वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक, दोनों दृष्टिकोण प्रचलित हैं। अवैज्ञानिक दृष्टिकोण तो अनेक हैं। कुछ प्राचीन काल से ही चले आते हैं, कुछ नई-नई परिस्थितियों में प्रभु-वर्ग की स्थिति के अनुकूल विकास पाते रहे हैं।

वर्ग-समाज से पहले आदिम युग में भी मनुष्य ने इतिहास को समझने की चेष्टा की

थी। उस समय की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) इस बात का प्रमाण हैं कि देवमाला और प्रलय के बाद पंचभूतों से जगत् की उत्पत्ति की कल्पना करके आदिम मनुष्य ने एक ऐसे ऐहिक सिद्धान्त की उद्‌भावना की थी जिसके द्वारा उसने प्रकृति को स्वयं अपनी सफलताओं को छवियों (इमेज) में अंकित करके देखा था और सामाजिक उत्पादन की अपनी प्रयोगशील चेष्टाओं में प्रकृति को भी मानवीय धातु से गढ़ डाला था। आदिम मानव की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) चाहे कोरी कल्पनाएँ ही क्यों न हों, किन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य निहित है। जीवन और जगत् का जो प्रतिबिम्ब संघर्षशील आदिम मनुष्य के मानस पर पड़ा, उसकी चेतना से उसने विश्व का एक सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक विवरण देने का प्रथम प्रयास किया था। सभी देशों की पुराण-कथाओं में भगवान् को ही सृष्टि का कर्ता माना गया है। लेकिन आदिम मनुष्य ने इस सृष्टि को तो है ही, स्वयं भगवान् को भी मनुष्य की छवि (इमेज) में ही ढाला है। इस प्रकार इस परिकल्पना में भगवान् तो केवल कार्य-कारण-शृङ्खला की प्रथम कड़ी था। किन्तु बाद में, वर्ग-समाज के पैदा होने पर, इतिहास एक भिन्न चीज बन गया। इतिहासकारों ने आदिम मानव की परिकल्पना को उलट दिया। दावा किया गया कि मनुष्य ने अपनी छवि में भगवान् को नहीं, बल्कि भगवान् ने अपनी छवि में मनुष्य को बनाया है, और इतिहास मनुष्य द्वारा भगवान् के ही आदेशों-उद्देश्यों के पालन और पूर्ति का वृत्त है। अर्थात् इतिहासकार ने इतिहास की वस्तु और सामग्री में से किसी पैटर्न, व्यवस्था, नियम की खोज बन्द करके केवल अदृष्ट द्वारा आरोपित नियमों और व्यवस्थाओं को ही स्वीकार कर लिया। यह जगत् भगवान् की लीलाभूमि समझा गया और प्रत्येक महाप्रलय के बाद सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की पुनरावृत्ति होते जाना, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति के लिए कर्मानुसार चौरासी लाख योनियों में भटकना या मोक्ष प्राप्त कर लेना ही इस जीवन और जगत् का रहस्य और उद्देश्य माना गया।

किन्तु इसके भी बाद जब मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देता हुआ पूँजीवादी वर्ग उठा तो उस प्रारम्भिक उत्थान के चेतना-विकासी जागरण-युग में मनुष्य और व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की जाने लगी। फलतः इतिहास का केन्द्र स्वर्ग से उतारकर पृथ्वी पर ले आया गया और नरेशों के अन्तःपुरों और दरबारों से हटाकर सामान्य जीवन में और समर-भूमि के रक्त-सिंचित मैदान से अलग करके मनुष्य की सभ्यता के विकास-पथ के बीच स्थापित किया गया। और यह समझने के लिए कि मनुष्य आदिम युग की वहशी और बर्बर अवस्थाओं से निकलकर 'सभ्यता' के युग में कैसे आया, उस युग के सद्यःविकसित समाजशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर इतिहास के नियामक कारणों की खोज आरम्भ हुई। किसी ने सिद्ध किया कि महान् व्यक्तियों की प्रतिभा ही इतिहास की संचालिका शक्ति है, महान् व्यक्ति ही इतिहास के निर्माता हैं, अतः उनकी जीवनियों का अध्ययन ही इतिहास का अध्ययन है। किसी ने दावा किया कि मनुष्य का संचित ज्ञान ही ऐतिहासिक विकास का मूल कारण है। किसी ने वैज्ञानिकों के अन्वेषणों और शिल्पियों के शिल्पज्ञान को ही मूल कारण बताया। किसी ने भौगोलिक स्थिति, जलवायु तथा भूमि की विशेषताओं को ही इतिहास का नियामक माना। और किसी ने नये पूँजीवादी साम्राज्यों का एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका में विस्तार होते देखकर जातिगत (रेशियल) विशेषताओं और रक्त की शुद्धता को ही तमाम ऐतिहासिक विकास और मानव-जीवन की समृद्धियों का उपभोग करने का अधिकारी होने का मूल

कारण ठहराया। कहने का तात्पर्य यह कि नई पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न यान्त्रिक भौतिक-वादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इतिहास के अनेक एकांगी सिद्धान्त समय-समय पर यूरोपीय रिनेसाँ (सांस्कृतिक नवजागरण) के बाद सामने आए, जिन्होंने ऐतिहासिक वास्तविकता को केवल ऊपरी सतहों पर ही जाँचा-परखा। ये सिद्धान्त इतिहास की गति को समग्र रूप से देखने-समझने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि न दे पाए। अवसरानुकूल इन दृष्टिकोणों का आश्रय लेकर जहाँ विकासशील पूँजीवाद ने मानव-प्रगति में योग दिया, वहाँ अपने ह्रासकाल में उसने सारी मानव-जाति को महायुद्धों की आग में झोंकने का औचित्य भी मनवाना चाहा। आज पूँजीवादी समाज की आन्तरिक असंगतियाँ इतनी तीव्र हो गई हैं कि उसकी व्यवस्थित अव्यवस्था व्यापक अराजकता में परिणत हो चुकी है। ऐसे में इतिहास का अध्ययन सामाजिक जीवन के सत्य को जानने और उसके विकास-नियमों का उद्घाटन करने के लिए करना प्रभुवर्ग के लिए निरापद नहीं रहा। इसीलिए सब सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों को पूर्व-ग्रह घोषित करके यह सिद्ध करने की कोशिश हो रही है कि इतिहास में किसी पैटर्न या विकास-धारा की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि इतिहास असंबद्ध घटनाओं और अदृष्ट कारणों का ही पुञ्ज है। या फिर वैज्ञानिकता का और सूक्ष्म उपक्रम करके यह सिद्ध किया जा रहा है कि इतिहास अनेक कारणों और तथ्यों से मिल-कर बनता है। उनमें से किसी को कम या अधिक महत्त्व का कहना असम्भव है, इसलिए इतिहास-कार का कार्य केवल इतना है कि वह इन तथ्यों के कार्य-कारण-सम्बन्धों का निर्धारण किये बिना ही, निरपेक्ष भाव से केवल एक के बाद दूसरे तथ्य को ज्यों-का-त्यों दर्ज करता जाय।

परन्तु मनुष्य का इतिहास कोई असम्बद्ध घटना-पुञ्ज नहीं, एक रचनात्मक प्रक्रिया (प्रोसेस) है, और इतिहास की दृष्टि में केवल उन घटनाओं, तथ्यों और कार्यों का ही महत्त्व है जो सामाजिक जीवन के लिए अर्थवान् हैं, जो सामाजिक जीवन को और इस प्रकार व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य यदि वास्तविकता—जीवन और प्रकृति—के सत्य का बोध प्राप्त कर सकता है, जैसा कि विज्ञान द्वारा उसने किया है और करता जा रहा है, तो वह इतिहास द्वारा सामाजिक जीवन के सत्य का बोध भी प्राप्त कर सकता है। और मनुष्य ने ठोस ऐतिहासिक तथ्यों और विकास-धारा का अध्ययन करके इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास भी कर लिया है जो धार्मिक और यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोणों से भिन्न है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास में परिवर्तन की गति न आवृत्तिमूलक है न भगवान् या महान् व्यक्तियों की इच्छा से संचालित है और न भौगोलिक परिस्थितियों या जातीय (रेशियल) विशेषताओं से नियमित है। वास्तव में जीवन की परिस्थितियाँ ही इतिहास की ऊर्ध्वोन्मुखी गति-विधियों का नियमन करती हैं। इनमें भौगोलिक परिस्थितियों का महत्त्व आनुषंगिक ही है, क्योंकि वे समाज के विकास में केवल सहायक या बाधक हो सकती हैं, उसका मूल कारण नहीं बन सकतीं। जीवन की परिस्थितियों में भौतिक मूल्यों को पैदा करने वाली, मनुष्य की 'उत्पादन प्रणाली' ही ऐतिहासिक विकास का सबसे महत्त्व-पूर्ण और निर्णायक कारण है। 'उत्पादन-प्रणाली' के अन्तर्गत 'उत्पादन की शक्तियाँ' भी आती हैं और 'उत्पादन-सम्बन्ध' भी, अर्थात् इसमें उत्पादन-यन्त्र और अपने अनुभव और श्रम-कौशल से इन उत्पादन-यन्त्रों को बनाने और प्रयोग में लाने वाले मनुष्य भी शामिल हैं और उत्पादन-सम्बन्ध भी, अर्थात् मनुष्य का यह सामाजिक जीवन, जिसके पारस्परिक सहयोग

या वर्ग-शोषण पर आधारित समाज-सम्बन्धों में एक-दूसरे से बँधकर मनुष्य भौतिक मूल्यों के उत्पादन-कार्य में अनिवार्यतः संगठित होते हैं।

इस सतत परिवर्तनशील उत्पादन-क्रिया और समाज-संबन्धों में पड़कर ही मनुष्य वास्तविकता के सत्य का बोध करने वाली ऐन्द्रिक चेतना का विकास करता है और राजनीतिक संगठनों, विचार-धाराओं, सिद्धान्तों, कलाओं, साहित्यों और संस्कृतियों को जन्म देता है। जीवन की परिस्थितियाँ ही विचारों को जन्म देती हैं, लेकिन इससे विचारों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। 'विचार' चाहे इतिहास की गतिविधि के निर्णयकारी तत्त्व न हों, किन्तु अपनी प्रचण्ड शक्ति से उसकी प्रगति में साधक या बाधक बन सकते हैं और बनते हैं। इस प्रकार समाज का इतिहास उत्पादन-प्रणाली के विकास का इतिहास है, श्रम में लगे मनुष्य या जन-समूह का इतिहास है; क्योंकि वही भौतिक-मूल्यों का निर्माण करता है, और अन्त में, जीवन के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में अविराम होते आने वाले परिस्थिति-जन्य-वर्ग-संघर्ष का इतिहास है जिसके माध्यम से ही अब तक इतिहास का ऊर्ध्वोन्मुखी विकास संभव हुआ है और उत्पादन की शक्तियों ने इतनी उन्नति कर ली है कि एक ओर यदि वर्ग-समाज के उत्पादन-सम्बन्ध और उसके पोषक विचार अब इतिहास की प्रगति के मार्ग में बाधक बन गए हैं,तो दूसरी ओर एक ऐसे वर्गहीन, शोषणहीन समाज की स्थापना हकीकत बन गई है जो मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण कर सके। मनुष्य का इतिहास अब तक मानव-मुक्ति के इस लक्ष्य की ओर ही ऊर्ध्वोन्मुखी विकास करता आया है, और कर रहा है।

साहित्य के इतिहास की समस्या के प्रसंग में इस भूमिका की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि सामान्य इतिहास-सम्बन्धी धारणाएँ और दृष्टिकोण साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन को भी प्रभावित करते हैं। और यदि प्रचलित दृष्टिकोण एकांगी हो तो उस दृष्टि से लिखा गया साहित्य का इतिहास भी एकांगी होगा— वह न साहित्यिक आन्दोलनों और प्रवृत्तियों का ही सही विवेचन कर पायगा और न प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य की श्रेष्ट कृतियों का वैज्ञानिक मूल्यांकन ही कर सकेगा। किन्तु साहित्य के इतिहास के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का तात्पर्य यह नहीं कि ऐतिहासिक तथ्यों को किसी पूर्व-निर्धारित योजना या विचार-सूत्रों की परिधि के भीतर ठूँस-ठाँसकर भर दिया जाय। या समाज और साहित्य का सीधा सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए यह सिद्ध किया जाय कि समाज का सामान्य आर्थिक-राजनीतिक विकास जिस स्तर तक हो चुका होता है, साहित्य और कला का विकास भी उसी स्तर का होता है। या साहित्य के वर्ग-आधार को उद्घाटित करने के लिए प्राचीन काल के या आधुनिक काल के श्रेष्ठ लेखकों को शोषक वर्गों की विचार-धारा का ही प्रतिबिम्बन करने वाला सिद्ध किया जाय, या अवसर के अनुकूल उनकी साधारण जन की आर्थिक समस्याओं या विषमताओं से सम्बन्ध रखने वाली इक्की-दुक्की उक्तियों के उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिशील और क्रान्तिकारी ठहराया जाय। इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अनिवार्यता आज इसलिए पैदा हो गई है कि हिन्दी में अधिकतर एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ही प्रचलित हैं। शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गए, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाए जाते रहे हैं, चाहे ये समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचार-धारा से प्रेरित

हों या मार्क्सवादी विचार-धारा से। हर्ष की बात है कि हमारे सुयोग्य सहयोगी और हिन्दी के उदीयमान आलोचक श्री नामवरसिंह ने अपने निबन्ध 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' में हिन्दी-साहित्य के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों की खूबियों और खामियों का वैज्ञानिक विवेचन किया है और हिन्दी-साहित्य के इतिहास की समस्याओं का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से निदर्शन कराया है। हमें उनके तर्कों को दुहराने की जरूरत नहीं।

समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोणों के अपनाये जाने के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की सामान्य परिस्थितियों ने ही अब तक इन दृष्टिकोणों को औचित्य प्रदान किया है। सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में 'भारतीय सांस्कृतिक नव-निर्माण' (रिनेसाँ) की अन्तःप्रेरणा बना है। हिन्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर भारतेन्दु के समय से ही वास्तविक रूप में शुरू हुई। तभी से नई राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप साहित्य के इतिहास की खोज और लेखन का कार्य शुरू हुआ। इतिहास की यह खोज कभी निरुद्देश्य नहीं रही। साधारण जनता को ही अपने देश की गौरवशाली तथा जीवन्त 'सांस्कृतिक विरासत' का वास्तविक उत्तराधिकारी होने की घोषणा चाहे पहले-पहल प्रगतिशील लेखक-आन्दोलन ने ही की हो और इस विरासत की रक्षा करने का बीड़ा भी उठाया हो, लेकिन यदि देखा जाय तो भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी के देशभक्त लेखक अपनी-अपनी समझ-बूझ के अनुसार इस कार्य को इतने स्पष्ट शब्दों में घोषित किये बिना ही करते आ रहे थे। राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने तथा उसे जन-साधारण तक पहुँचाने की क्रिया अधिक व्यापक आधार खोजती गई। शिवसिंह 'सरोज' से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने चाहे मध्ययुगीन हिन्दी कवियों के वृत्त एकत्र किये हों, चाहे अतीत के रत्नों को खोजकर उन्हें पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों से अधिक महान् और गौरवशाली सिद्ध किया हो, चाहे साहित्य की प्रवृत्तियों का निर्धारण करके इतिहास को व्यवस्था और नियम देकर उन प्रवृत्तियों की कारणभूत सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन किया हो, चाहे 'लोक-मंगल' की कसौटी पर साहित्य की प्रवृत्तियों और कवियों को परखा हो, या चाहे हिन्दी-साहित्य के विकास की भूमिका की खोज में वैदिक-काल से लेकर अपभ्रंश-काल तक की सम्पूर्ण भारतीय चिन्ता-धारा के विविध प्रभावों के ताने-बाने का उद्घाटन किया हो, अन्ततः इन सभी विचारकों का व्यक्त या अव्यक्त उद्देश्य सांस्कृतिक विरासत पर स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वाली जागरूक भारतीय जनता के उत्तराधिकार को प्रमाणित करना ही था। यह दूसरी बात है कि वर्ग-चेतना के अभाव में, इस विरासत में कौनसे तत्व प्राणवन्त और प्रगतिशील हैं और कौनसे अपनी उपयोगिता खोकर निर्जीव और प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं, उनको एक-दूसरे से विलगाने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि इन देशभक्त इतिहासकारों के पास नहीं रही। अतीत के भण्डार में जो-कुछ था वह सब उन्होंने सहेजकर जमा कर लेना चाहा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी इन तथ्यों से परिचित हैं कि स्वयं शुक्लजी ने भी चाहे प्राचीन लेखकों के काव्य-तत्व का विवेचन क्यों न किया हो, पर उनके काव्य की विचार-वस्तु को वास्तविकता की कसौटी पर नहीं परखा। इसीलिए प्राचीन लेखकों का सम्यक् मूल्यांकन

नहीं हुआ; केवल उनकी काव्य-शक्ति का विवेचन और अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार उनकी भक्ति-भावना की प्रभाववादी ढंग से प्रशंसा ही की गई। अधिक-से-अधिक इतना अवश्य स्वीकार किया गया कि मध्ययुग में सामन्ती वर्ग की नैतिकता और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध जन-चेतना धार्मिक आन्दोलनों के रूप में फूट पड़ी थी, और भक्ति-काव्य इसी लोक-चेतना का परिणाम था।

इसीलिए, आज भी मनुष्य के सामान्य इतिहास के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास की दृष्टि से और विशेषकर अपने देश के राष्ट्रीय जागरण से प्रेरित 'सांस्कृतिक नवनिर्माण' की दृष्टि से जिसकी प्रक्रिया को अभी पूरा होना निःशेष है, स्थायी विश्व-शान्ति, जनवादी समाज और मुक्त-जीवन के लिए संघर्ष करने वाले सर्व-साधारण के हित में अतीत से प्राप्त 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने का प्रश्न हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है, ताकि जनता इस स्फूर्तिदायी और चेतना-विकासी विरासत से वंचित न रहे। अतः सांस्कृतिक विरासत के प्रश्न को पूरी गम्भीरता से यहाँ उठाना ही हमारा उद्देश्य है, क्योंकि इस प्रश्न का समाधान करके ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। अन्य प्रश्न, जैसे काल-विभाजन की समस्या या हिन्दी में खोज-कार्य की समस्या आदि, महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी गौण हैं।

अपनी पुस्तक 'A Contribution to the Critique of Political Economy' में यूनान की देवमाला या पुराण-कथाओं पर टिप्पणी देते हुए कार्लमार्क्स ने 'सांस्कृतिक विरासत' का प्रश्न उठाया था। यह बताते हुए कि कला के कई सर्वोच्च विकास-कालों का सीधा सम्बन्ध न समाज के सामान्य विकास के साथ रहा है और न उसके भौतिक आधार और ऊपरी ढाँचे के संगठन के साथ, मार्क्स ने ग्रीक (यूनानी) कला का उदाहरण दिया था। और यह स्पष्ट करते हुए कि चूँकि ग्रीक-कला की विचार-वस्तु ग्रीक-जीवन से ही ली गई थी और वह सीधी उस जीवन की ही पैदावार थी, इस-लिए पौराणिक विचारों पर आधारित कला की आवृत्ति इस औद्योगिक युग में निश्चय ही नहीं हो सकती, मार्क्स ने प्रश्न उठाया था, "इस विचार को समझने में कठिनाई नहीं है कि ग्रीक-कला और महाकाव्य सामाजिक विकास के एक विशेष युग की पैदावार हैं और उसी से बँधे हैं। कठिनाई तो यह समझने में आती है कि वह आज भी हमारे अन्दर सौन्दर्य-बोध कराके आनन्द देने में क्यों समर्थ हैं और कई अर्थों में उन्होंने कला के ऐसे प्रतिमान और नमूने पेश किये हैं जिनकी श्रेष्ठता को पा लेना अस-म्भव है।"

यह निश्चित है कि मनुष्य के भावों की चिरन्तन सत्ता का दावा करके इस प्रश्न का वैज्ञा-निक या इतिहास-संगत उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर पाने के लिए हमें, 'कला क्या है' इस प्रश्न को समझना होगा और सामा-जिक जीवन से कला के सम्बन्ध-सूत्रों को खोज निकालना होगा। तभी विगत युगों की श्रेष्ट कलाकृतियों की चिरन्तन महानता का रहस्य उद्घाटित हो सकेगा और सांस्कृतिक विरासत का प्रश्न अपने सही रूप में समझा जा सकेगा। इस प्रकार यदि देखें तो साहित्य के इतिहास की समस्या बहुत-कुछ साहित्य के समीक्षा-शास्त्र की ही समस्या है।

साहित्य और कला वस्तु-चित्रों तथा मानव-चरित्रों की भाषा में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर-विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान सम्भावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रति-बिम्बित करती है। साहित्य और कला की कृतियाँ

इसका परिणाम होती हैं। जगत् और जीवन के सत्य को जिस प्रकार विज्ञान 'विचारों' के माध्यम से सिद्ध और प्रमाणित करता है, कला वास्तविकता सत्य या अन्तर्द्वन्द्व को रूप-चित्रों (इमेज) के माध्यम से दर्शनीय बनाकर इन्द्रियगम्य बनाती है। इस प्रकार वर्ग-समाज की कला या साहित्य और अब तक की कला और साहित्य का निर्माण वर्ग-समाजों में ही हुआ है—सत्ताधारी वर्गों की चेतना-मात्र का प्रतिबिम्बन नहीं है, जिसके कारण कला-साहित्य का वर्ग-आधार खोजने के लिए कलाकारों-साहित्यकारों को शोषक वर्गों की विचार-धारा का प्रतिनिधि सिद्ध किया जाय। यह तो सभी जानते हैं कि एक वर्ग-समाज की समाज-व्यवस्था शोषक-शोषित के सम्बन्धों से नियमित होती है। फलतः शोषक-वर्ग की विचार-धारा ही ऐसे समाज में न्याय-सम्मत विचार-धारा होती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि शोषित वर्गों की अपनी विचार-धारा होती ही नहीं। इन दोनों विचार-धाराओं के निरन्तर संघर्ष और सम्पर्क तथा विगत के संचित ज्ञान से मिलकर ही किसी वर्ग-समाज की जीवन-परिस्थितियों के अनुसार सोचने-विचारने की पद्धतियाँ बनती हैं। कलाकार या साहित्यकार को भी अन्य लोगों की ही तरह जन्म के साथ ही समाज की प्रचलित वर्ग-विचार-धारा और अतीत के संचित ज्ञान का कोष उपलब्ध होता है। परन्तु सच्चा कलाकार या साहित्यकार अपनी वस्तुनिष्ठा और संवेदना के सहारे समाज-लब्ध वर्ग-विचार-धारा और विचार-सूत्रों के ही माध्यम से सामाजिक और व्यक्ति-जीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्ति दे देता है, और इस प्रकार सामाजिक सत्य का उद्घाटन करता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास के लिए तत्कालीन समाज में प्रचलित सामन्ती दृष्टिकोण के कारण नारी चाहे 'सहज अपावन' और 'ताड़न की अधिकारी' ही क्यों न रही हो, किन्तु उन्होंने 'रामचरितमानस' में या अन्यत्र नारी के जो मूर्त्त चित्र खींचे हैं, उनमें नारी का चरित्र अपनी पूर्ण मानवीय गरिमा के साथ उभरकर सामने आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वर्ग-समाजों के बन्धनों में जकड़ी रहने पर भी श्रमिक जनता ही वास्तव में भौतिक मूल्यों का उत्पादन करती आई है और इस प्रकार अपना रक्त-स्वेद बहाकर समूचे मानव-समाज को वर्ग-हीन समाज के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाती लाई है, उसी प्रकार वर्ग-समाजों की परिस्थितियों से उत्पन्न विचार-शृङ्खलाओं या जीवन-जगत् को देखने की दृष्टि-सीमाओं से आबद्ध कलाकार और साहित्यकार भी वास्तविकता के सत्य को रूपायित करते आए हैं। नये मानव-मूल्यों की सृष्टि करते हुए मनुष्य के सांस्कृतिक अथवा कहें मानवीय आध्यात्मिक विकास को पग-पग आगे बढ़ाते आए हैं तथा मनुष्य के हृदय में वर्ग-समाज के शोषण-सम्बन्धों का अन्त करके मानवीय समाज-सम्बन्धों की स्थापना करने की मुक्ति-कामी आकांक्षा जगाते आए हैं। इसीलिए उनकी कृतियों में मानवीय हृदय का स्पन्दन और श्वास की गरमाई है, जो सहज ही मनुष्य के भविष्य में विश्वास जगाती है और विगत और वर्तमान की समस्याओं को उनके वास्तविक रूप में समझने की अन्तर्दृष्टि देती है। उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच करके यह देखा जाय कि अपने जीवन-काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार-सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने एक सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तु-निष्ठा से अपने युग-जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त्त चित्रण किया। अर्थात् उन्होंने अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न निर्णयकारी

सामाजिक समस्याओं को और उनके प्रति समाज के सभी वर्गों की स्थिति को खुली आँखों से देखकर कहाँ तक एक कलाकार के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से, व्यक्ति-चित्रों के माध्यम से, समाज के सभी वर्गों के अन्तर्सम्बन्धों को चित्रित किया है। साहित्य-कला की यह कसौटी साहित्य-कला के इतिहासों, महान् साहित्यकारों-कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों की परम्परा से निर्धारित है। कला चूँकि वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है इसलिए उसमें व्यक्त किसी भी विचार की सचाई वास्तविकता से तुलना करके ही जाँची जा सकती है।

इतिहास की यह वस्तुवादी दृष्टि ही सांस्कृतिक विरासत का सही मूल्यांकन कर सकती है और शोषक समाज में 'प्रगति' के सही अर्थ से हमें परिचित करा सकती है। जिस तरह प्राचीन काल के लेखक अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न व्यापक सामाजिक जीवन के सत्-असत् और मंगल-अमंगल पक्षों से तटस्थ नहीं रहे, बल्कि उन्होंने अपने हृदय की पूरी करुणा और समवेदना से शोषित जनता की जीवन-परिस्थितियों का चित्रण किया और सत्य और न्याय का पक्ष लिया, उसी प्रकार आज का इतिहासकार भी समाज के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास के प्रति तटस्थ नहीं हो सकता। तटस्थ होकर वह न प्राचीन लेखकों की महान् कृतियों का मूल्यांकन कर सकता है और न 'सांस्कृतिक विरासत' की रक्षा ही। इसलिए आज साहित्य के इतिहासकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि केवल भक्ति-काव्य, रीति-काव्य या आधुनिक काल की छायावाद, यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियों को उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में रखकर जाँचे, जिन्होंने इन धाराओं को जन्म दिया तथा जिन्हें इन धाराओं ने प्रतिबिम्बित करके प्रभावित किया, बल्कि उसके सामने यह समस्या भी है कि वह—यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में ही रहें तो—चन्द, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी देव, पद्माकर, घनानन्द, मतिराम, भूषण आदि मध्य-युग के प्रमुख भक्त और रीतिवादी कवियों तथा राष्ट्रीय जागरण-युग के भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त आदि साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करे कि किस प्रकार वर्ग-समाज के इन प्रह्लादों ने वर्ग-समाज की विशिष्ट परिस्थितिजन्य विचार-सीमाओं में आबद्ध रहते हुए भी अपनी प्रतिभा से मनुष्य के गत जीवन या वर्तमान जीवन के सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनका कलात्मक सौन्दर्य, अर्थ-गाम्भीर्य और उदात्त मानववादी नैतिक अन्तःस्वर वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं से संघर्ष करने वाले आधुनिक पाठक को भी प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सांस्कृतिक विरासत' के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढ़ती जाती है।

—शिवदानसिंह चौहान

निबन्ध

नामवरसिंह

इतिहास का नया दृष्टिकोण

मनुष्य अपने इतिहास का ही नहीं, इतिहास-विधायक दृष्टिकोण का भी निर्माण करता है और 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' जीवन-जगत् के प्रति ऐसा ही सर्वव्यापी दृष्टिकोण है जिसे आधुनिक युग की इतिहास-शिल्पी शक्तियों ने गढ़कर अस्त्र के रूप में अपनाया है। परन्तु अभी तक इसे सम्पूर्ण मानव जाति नहीं अपना सकी है; कुछ इतिहास-विरोधी शक्तियाँ इसकी प्रगति में बाधा डालने के लिए नित्य नये शिगूफे छोड़ रही हैं—कभी खण्डन तो कभी संशोधन; कभी परम्परा के नाम पर उसका बहिष्कार तो कभी उसके पुराना पड़ जाने की शिकायत, आदि आदि। इस तरह के प्रयत्न दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि अन्य विचार-प्रणालियों की तरह साहित्य में भी हो रहे हैं। तैयार तो हर क्षेत्र में हर पहलू से भ्रान्ति-निवारण के लिए रहना है, परन्तु इस समय मानव-आत्मा के शिल्पी साहित्यकारों के लिए आवश्यक हो उठा है कि साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में भी उस ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्वचन करें। इतिहास का वह दृष्टिकोण लोगों के लिए अब अपरिचित नहीं रहा कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को दुहराया जाय; प्रत्येक आवश्यकता के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना ही प्रयत्न की नवीनता है। आज ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता है।

परन्तु इतिहास-लेखन का कार्य एकदम नये सिरे से नहीं शुरू करना है। ऐतिहासिक अध्ययन की हमारी अपनी परम्परा है। जब तक हम उस परम्परा का विश्लेषण नहीं कर लेते, हमारा नया प्रयत्न अपूर्ण होगा। नई परिस्थिति में इतिहास का उपयोग करते समय पूर्ववर्ती इतिहासकारों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

पिछले सौ वर्षों से हिन्दी-साहित्य के तथा कथित इतिहास-ग्रन्थ निकलते आ रहे हैं और समयानुसार उनके दृष्टिकोणों तथा प्रणालियों में विभिन्नता रही है। उन्नीसवीं सदी के प्रायः सभी इतिहास-ग्रन्थ संग्रह हैं। ये संग्रह भी तरह-तरह से किये गए हैं। फ्रांसीसी लेखक गार्सां द तासी ने 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी' (१८३९ और १८४६ ई०) में ७० कवियों का संग्रह वर्णानुक्रम से किया है तो शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' (१८७७ ई०) में यों ही एक सहस्र कवियों का वृत्त एकत्र कर दिया है जिसमें जीवनी के साथ कविताओं के उदाहरण भी

हैं। ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नॉर्दर्न हिन्दोस्तान' (१८८६ ई०) में शिवसिंह सरोज की ही सामग्री को कालक्रम से इतिहास का रूप देने की चेष्टा की। इन संग्रहों का प्रयोजन शायद हिन्दी-साहित्य का केवल परिचय देना था और जैसा प्रयोजन वैसा निर्वचन। उन्होंने कुछ प्रसिद्ध और ज्ञात कवियों की सूची छाप दी। यह प्रवृत्ति साहित्य के इतिहास में ही नहीं थी बल्कि उस युग के समस्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण का एक अंग-मात्र थी। इतिहास का अर्थ था व्यक्तियों की सूची और उसका उपयोग था कोरी जानकारी प्राप्त करना अथवा अधिक-से-अधिक काव्य के उदाहरणों का रसास्वादन।

आज ऐसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण के उपयोग का सवाल उठाना तो दूर उसके कुछ दिनों बाद ही समाज ने उसे छोड़ दिया। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर ने हमारे देश में नई चेतना ला दी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना उमड़ी। विदेशियों के विरुद्ध अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आकांक्षा हुई। वर्तमान तो उनका दास था, इसलिए अतीत का सहारा लिया गया। स्वतन्त्रता के संग्राम में इतिहास का उपयोग पहली बार करने की चेष्टा की गई। इस प्रवृत्ति ने एक ओर अतीत के छिपे रत्नों को खोजने के लिए प्रेरित किया तो दूसरी ओर उन रत्नों को पुराने-से-पुराना सिद्ध करने तथा विदेशी प्रतिभाओं की तुलना में गौरवशाली दिखाने का प्रोत्साहन दिया। इस भावना ने पूर्ववर्ती इतिहासों के तथ्यपरक कंकाल को त्वचा से ढककर आकार प्रदान किया। उस युग के साहित्य ही नहीं, सभी विषयों के इतिहासों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। नागरी प्रचारिणी सभा ने व्यापक रूप से (१६००–१६११ ई०) कवियों की खोज का काम शुरू किया और उसके द्वारा आठ जिल्दों में प्रकाशित रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने लगभग ५००० कवियों का विशाल वृत्त-संग्रह 'मिश्रबन्धु विनोद' तीन भागों में (१६१३ ई०) लिख डाला। 'हिन्दी नवरत्न' इसी का सार तथा पूरक बनकर सामने आया। इन प्रयत्नों ने ढंग तो पुराना ही रखा, परन्तु यह दिखा दिया कि कवि-संख्या की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का इतिहास किसी साहित्य से हीन नहीं है और इसमें ऐसे नवरत्न भी हैं जो ऊँचाई में उन्नीस नहीं हैं।

शीघ्र ही पुनर्जागरण की भावना वैयक्तिक धरातल से आगे बढ़कर व्यापक सामाजिक क्षेत्र के रूप में उतरी और गांधीजी के साथ राष्ट्रीयता की भावना ने विकास का नया चरण रखा। विचारों में सामाजिक चेतना आई। इतिहास में व्यक्तियों के सहारे समूची जाति का कार्य-कलाप दिखाने की चेष्टा होने लगी। व्यक्ति अपनी समस्त परिस्थितियों के साथ वर्णित हुआ। साहित्य; जो इतिहास के अलग-अलग कवियों की समीक्षाओं का संग्रह था, भिन्न-भिन्न युगों की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन से भी संवलित हो उठा। एक युग तथा एक प्रकार की रचना करने वाले कवियों की सामान्य विशेषताओं के अनुसार प्रवृत्तियों तथा युगों का विभाजन किया गया और इन साहित्यिक प्रवृत्तियों को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से सम्बद्ध करने का प्रयत्न हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१६२६ ई०) और डा० श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१६३० ई०) इस युग के प्रतिनिधि इतिहास हैं। इन दोनों में भी शुक्लजी के इतिहास को अग्रणी तथा पथप्रदर्शक मानना चाहिए।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के जिस कंकाल को आकार भर दिया था उसमें शुक्लजी

ने रक्त-संचार किया और साथ ही उसे मांसल भी बनाया। ढाँचा 'मिश्रबन्धु विनोद' का ही था; सामग्री भी वही थी। शुक्लजी ने उस संग्रह से संकलन किया; खोज से प्राप्त नई सामग्री के अनुसार यत्र-तत्र तिथि, स्थान तथा ग्रन्थ-संख्या सम्बन्धी संशोधन और विचार भी किया, लेकिन उनका मन तथ्यों की छानबीन की ओर उतना नहीं रमा। उनकी रस-दृष्टि तथा विवेचनशील प्रतिभा कवियों के मूल्यांकन में अधिक खुली। कवियों के जीवनवृत्त ग्रन्थ-सूची आदि से आगे बढ़कर उन्होंने कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य का उद्घाटन किया। सबकी रचना का नमूना देने का ढंग तो ज्यों-का-त्यों रहने दिया, परन्तु नमूनों को अधिक प्रतिनिधि तथा उत्कृष्ट बनाने की चेष्टा की। कवियों के नाम के पहले क्रम-संख्या देने का ढंग भी वही रहने दिया, परन्तु प्रवृत्ति-साम्य और युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने सामूहिक प्रभाव डालने की ओर ध्यान रखा। इसीलिए कुछ प्रवाह-पतित विशिष्ट कवियों को भी फुटकल खाते डाल देना पड़ा। इस तरह इतिहास के आदि, मध्य आधुनिक जैसे कोरे कालपरक विभाजन को उन्होंने वीरगाथा, भक्ति, रीति और गद्य-काल की भावपरक क्यारियों में पुनः रोपने का उद्योग किया; साथ ही इन सबका सामान्य परिचय देकर एक ऐतिहासिक प्रवाह दिखाना चाहा। उन्होंने प्रवाह की गति का उत्थान-पतन भी दिखाया और 'लोक-संग्रह' की कसौटी पर इतिहास के समाजोन्मुख और समाज-पराङ्मुख युगों में अन्तर बतलाया। कुल मिलाकर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि शुक्लजी को जो इतिहास पंचांग के रूप में प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने मानवीय शक्ति से अनुप्राणित कर साहित्य बना दिया।

बाबू साहब वह गहराई और बारीकी तो न निभा सके, लेकिन उन्होंने शुक्लजी के इतिहास के विच्छिन्न प्रवाह को क्रम-संख्या, रचनाओं का नमूना आदि बातें घटाकर अविच्छिन्न-सा दिखलाना चाहा। हाँ, उन्होंने शुक्लजी की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का खाता और लम्बा कर दिया।

फिर तो इन इतिहासों के पीछे लगी संक्षिप्त, मध्यम, सरल और सुबोध अनेक छात्रोपयोगी इतिहास-पुस्तकें आई जिनमें नकल छिपाने के लिए यत्किंचित् शुक्लजी की तथ्य-सम्बन्धी भूलों का सुधार और अधिक-से-अधिक कालों के नाम-परिवर्तन का सुझाव मिलता है। ये सभी प्रयत्न उसी सीमा में हुए, क्योंकि वह सीमा ऐतिहासिक और युगीन थी।

युग-परिवर्तन के साथ ही शुक्लजी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा पद्धति की सीमाएँ स्पष्ट होने लगीं। वस्तुतः इतिहास की वह प्रणाली उनके जीवन-जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही निर्धारित हुई थी। उनके बाद वाली पीढ़ी को 'शुक्ल-इतिहास' में सामाजिक परिस्थितियों, साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा साहित्यिक व्यक्तियों के बीच जो कार्य-कारण-सम्बन्धी असंगति दिखाई पड़ने लगी वह उनके और उनके युग के जीवन-जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण की असंगति थी। राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधी-युग था जिसमें व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। मध्यवर्गीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के पीछे शेष जन-समूह नत्थी-भर था। विचार व्यापक जन-समाज से छिन्न थे। यही कारण है कि शुक्लजी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं। जिस युक्ति से वे परिस्थितियों से उत्पन्न बताये जाते हैं वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती जैसे भक्त कवियों को मुसलमानी शासन की दासताजन्य निराशा से उत्पन्न बताना। युग-विभाजन करने में उनका 'औसतवाद' वाला

सिद्धान्त भी इसी अलगाव का परिणाम है और उनके दृष्टिकोण की असंगति को और भी उभार-कर रखता है। एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलने वाली परस्पर-विरोधी विविध सामाजिक शक्तियों के अन्तर्विरोध का पता न था। इसीलिए उन्हें अपने इतिहास के हर युग में एक फुटकल खाता खोलना पड़ा। दृष्टिकोण की इसी सीमा के कारण उनके मूल्यांकन की पदावली भी सीमित अथच अवृत्तिमयी रही। इसीलिए अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी शुक्लजी का इतिहास आगामी युग के लिए अपूर्ण प्रतीत हुआ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४० ई०) ऐसे ही समय नवीन युग की भूमिका बनकर प्रकाश में आई। पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास-प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी-पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य के विराट् पुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्यिक इतिहास के माध्यम से युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार-सरणी और भाव-परम्परा का दर्शन कराया। हिन्दी जाति तथा हिन्दी-साहित्य के सम्यक् स्वरूप का परिचय देने के लिए आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी-साहित्य का निरूपण किया। परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी-साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था। इस नैरंतर्य-निरूपण में समाज-साहित्यकार तथा साहित्य की परस्पर सम्बद्धता, क्रमबद्धता तथा गतिशीलता ऐसे सजीव और अंगांगिभाव से निभाई गई कि अतीत वर्तमान की चेतना बन गया। यहाँ सामाजिक परिस्थितियाँ घटनाओं के द्वारा सतही ढंग से वर्णित न थीं, बल्कि सजीव सामाजिक शक्तियों के क्रियाकलापों के माध्यम से अभिव्यक्त की गईं। इसीलिए समाज और साहित्यकार में कारण-कार्य-सम्बन्ध स्थापित करने में चूक नहीं हुई। हिन्दी-साहित्य को संस्कृत और अपभ्रंश के ह्रासशील रूढ़ साहित्य के गर्भ से उत्पन्न लोकशक्ति की नवीन आकांक्षा कहना इसी सामाजिक दृष्टिकोण का परिणाम था। जो लोग केवल ऊपरी राजनीतिक परिवर्तनों के प्रभाव के अनुसार हिन्दी के भक्ति-काव्य को निराशा से उत्पन्न कहते थे उनके लिए यह बहुत बड़ी चुनौती थी। इतना ही नहीं, सन्त और भक्ति-काव्य को जाति-विरोधी तथा वर्ण-विरोधी दिखलाकर आचार्य द्विवेदी ने वस्तुतः अपने युग में प्रचलित प्राचीन सामन्ती जीवन-मूल्यों पर प्रहार किया। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के उद्गम-स्थलों का पता देते हुए रूढ़ि और नवीनता के ह्रास विकास का संक्षिप्त रचनात्मक कोश है। आधुनिक युग के साहित्य की विधायक शक्तियों को पहचानते हुए भी 'भूमिका'-लेखक ने केवल गतिविधि का संकेत करके सन्तोष किया है। निस्सन्देह, 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नवीन युग और साहित्य के नवीन इतिहास की भूमिका है।

असंगतियाँ तो यहाँ भी हैं जैसे सामाजिक ढाँचे के विवेचन में आर्य-अनार्य मूलक जातिगत (रेशल) सिद्धान्तों का सहारा, जो १९वीं सदी के यूरोप का आदर्शवादी दृष्टिकोण था और जिसके कारण आगे चलकर 'फासिज्म' का उदय हुआ। किन्तु उक्त ग्रन्थ से यह युक्ति हटा देने पर भी मूल स्थापना में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसी तरह, परम्परा-निर्वाह पर सम्भवतः अधिक बल प्रतीत होता है। इन कारणों से नवीन इतिहास की पृष्ठभूमि के रूप में इसे स्वीकार

करते हुए भी हम इसके आदर्शवादी दृष्टिकोण तथा प्रणाली को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

अब तक इतिहास के जिन दृष्टिकोणों और प्रणालियों की चर्चा हुई उनसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हर नये युग में भारतीय समाज ने सामूहिक रूप से एक ही दृष्टिकोण का अवलम्बन किया। यह प्रतीति प्रायः उचित और सत्य है। इस बीच थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी स्वतन्त्रता के संघर्ष में भारतीय समाज के सभी स्तर प्रायः संयुक्त से थे। इसलिए इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण और प्रणाली में भी आधारभूत मतभेद न था। परन्तु पाँचवें दशक से उक्त संयुक्त मोर्चे के स्तरों में मतभेद प्रकट होने लगा और यहीं से इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा प्रणालियाँ भी परस्पर-विरोधी आने लगीं। ऐसे दृष्टिकोणों में सबसे पहले जो सामने आया वह यह है कि इतिहास में 'दृष्टिकोण' के लिए कोई स्थान नहीं है; घटनाओं की खोज ही इतिहास है। इतिहास के इस तथ्यपरक दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिकता' के नाम पर प्रचारित किया गया। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी कुछ खोज-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। कुछ विश्वविद्यालयों ने इसी प्रणाली को शिक्षोपयोगी (ऐकैडेमिक) कहकर खोज का अधिकांश कार्य करवाया है।

इतिहास के प्रति ऐसा तथ्यपरक और नकारात्मक दृष्टिकोण अपने साहित्य का नया अनुसन्धान नहीं है; यूरोप में पिछले कई दशकों से बुर्जुआ इतिहासकार इस मत का प्रचार कर रहे हैं। वहाँ जब दार्शनिक और वैज्ञानिक स्तर पर 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का विरोध करते न बना तो बुर्जुआ इतिहासकारों ने इतिहास की प्रणाली को सर्वथा दृष्टिकोणरहित करने का नारा लगाया और तर्क दिया कि दृष्टिकोण-विशेष से इतिहास लिखने के कारण वह पूर्वग्रह-ग्रस्त अथच विकृत हो जाता है। कहना न होगा कि यह भी एक दृष्टिकोण है। ऊपर से दृष्टिकोण का निषेध करते हुए भी दृष्टिकोण अपनाने की यह चाल आत्म-निषेध द्वारा अपनी सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न जैसा है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि अपने यहाँ भी इतिहास का यह 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण उसी उद्देश्य से प्रयुक्त हुआ, (क्योंकि यूरोप के हर नये विचार को बिना परख के अनजान भाव से अपनाना 'शुद्ध' विद्या-व्यसन भी तो हो सकता है) फिर भी यह दृष्टिकोण नकारात्मक तो है ही। तथ्य और विचार को एकदम अलग नहीं किया जा सकता। जिस तथ्य-संग्रह में हम किसी योजना अथवा दृष्टिकोण का अभाव देखते हैं, वस्तुतः वह भी एक दृष्टिकोण ही है। 'हम किसी सामाजिक प्रयोजन के लिए ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग न करेंगे', यह 'शुद्ध' उद्देश्य समाज-निरपेक्षता तथा पराङ्मुखीणता का ही परिणाम है। आँकड़ों और घटनाओं को ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा सामाजिक शक्तियों के प्रयत्नों के रूप में व्याख्या न कर सकना असमर्थता भी हो सकती है, लेकिन व्याख्या करने से इन्कार करना शरारत है अथवा अपनी कमजोरी छिपाने का स्वाँग। तटस्थता और निष्पक्षता का अभिनय पर-प्रवंचना ही नहीं आत्म-प्रवंचना भी है। मानव-इतिहास की प्रवाहमान धारा में धारा और किनारा सब-कुछ मनुष्य ही है; तटस्थ कोई नहीं। जो विरोधी धाराओं के संघर्ष से घबड़ाकर निष्पक्षता में विश्राम करना चाहता है वह प्रवाह-पतित अनजाने ही इतिहास-विरोधी धारा में जा पड़ता है। यद्यपि इन विद्वानों के तथ्य-संग्रह नये इतिहास के लिए उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी आज ऐसे नकारात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता।

अब तक की समूची इतिहास-सम्पदा—खोज, मूल्यांकन आदि—को हम उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार करते हैं और अपने पूर्ववर्ती इतिहास-शिल्पियों के ऋणी हैं कि उन्होंने हमारा भार बहुत-कुछ हल्का कर दिया है। हमारे लिए उनके तथ्य ही उपयोगी नहीं हैं, बल्कि उनका वह उत्साह भी प्रेरणादायक है जिससे उन्होंने साम्राज्यी शक्तियों से संघर्ष करने में इतिहास का उपयोग किया और मानव-मुक्ति के अन्तिम लक्ष्य को निकट लाने में यथाशक्ति योग दिया। पिछली पीढ़ियों के निरन्तर प्रयत्न ने ही हमें इस ऐतिहासिक भूमिका में पहुँचाया है और अब हमारा कर्तव्य है कि आवश्यकता के वास्तविक रूप को पहचानकर इतिहास की व्याख्या और परिवर्तन का विधान करें। सौभाग्य से इसी आवश्यकता से उत्पन्न और साथ ही इसकी पूर्ति करने वाला वैज्ञानिक जीवन-दर्शन हमें उपलब्ध है। यह जीवन-दर्शन है : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यानी भौतिकवादी दृष्टिकोण और द्वन्द्वात्मक प्रणाली। सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए इसका विस्तार किया गया है और उसी विस्तार को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं।

हमें यह उपलब्ध है, इसका यह अर्थ नहीं है कि 'रेडीमेड' की तरह इस्तेमाल करें। उपलब्ध वस्तु या विचार को भी प्राप्त करना पड़ता है और उसे हर आदमी स्वयं अपने लिए प्राप्त करता है। प्राप्त करने के लिए अध्ययन-मनन ही काफी नहीं है, बल्कि उसे जीवन-संघर्ष के हर क्षेत्र में कार्य-निर्देशक तथा अस्त्र के रूप में इस्तेमाल भी करना पड़ता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रवर्तकों और योग्य अनुयायियों के साहित्य-विषयक बिखरे हुए विचारों को सी-तांगकर सुथना तैयार करने से हिन्दी-साहित्य का इतिहास नहीं ढँक सकता। हमें उन सूत्रों को केवल पथ-निर्देशक के रूप में सामने रखना चाहिए। ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह पहली सीख है। अस्तु,

सबसे पहले हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की पहली विशेषता है—किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य प्रसंग में देखना। हिन्दी-साहित्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र, विच्छिन्न और असंबद्ध इकाई नहीं है। वह अन्य विचार-प्रणालियों, साहित्यों और परिस्थितियों से परस्पर सम्बद्ध है। यह सम्बन्ध सजीव है, मशीन के पुर्जों की तरह एक जगह फिट किया हुआ नहीं है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य को पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य तथा सम-सामयिक अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अलग करके देखने में भूल की थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी भूल-सुधार के लिए मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य का पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य तथा समसामयिक अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के परिवेश में अध्ययन किया। इसी तरह प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति के साथ राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए भी पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का सजीव सम्बन्ध नहीं दिखलाया। ये सभी भूलें आध्यात्मिक प्रणाली के कारण हुईं।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की दूसरी विशेषता है—वस्तुओं व्यक्तियों घटनाओं और विचारों को गतिशील परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना। घटनाओं के सजीव सम्बन्ध का अर्थ ही यह है कि यह सम्बन्ध स्थिर नहीं है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युग और व्यक्तियों के सम्बन्धों में एक क्रम है; यह क्रम केवल कालानुक्रम ही नहीं है। इस क्रम में आन्तरिक विकास की गति का पता चलता है। क्रम गति से ही सम्भव है और गति का स्पष्ट अर्थ है उद्भव और नाश की

कड़ी। एक साहित्यिक प्रवृत्ति के अन्त से ही दूसरी साहित्यिक प्रवृत्ति की उत्पत्ति जुड़ी हुई है। कुछ पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास बतलाते समय इस सिद्धान्त को भुलाकर एक ही प्रवृत्ति को शाश्वत और सनातन रूप में दिखलाने की चेष्टा की है। जैसे सन्त परम्परा को उठाया तो जयदेव से लेकर गाँधी तक पहुँचा दिया और दिखलाया कि एक ही प्रवृत्ति शताब्दियों से अविकल रूप में चली आ रही है। हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों का इतिहास लिखने वालों ने प्रायः इस उत्थान-पतन के गतिशील क्रम को भुला दिया है। बाबू साहब ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में वीरगाथाओं की परम्परा दिखाते समय यही भूल की है। यह भी आध्यात्मिक प्रणाली का दोष है।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की तीसरी विशेषता है—विकास-क्रम को ऊर्ध्वोन्मुख और अग्रसर रूप में देखना। विकास का अर्थ पुनरावृत्ति अथवा वृत्ताकार परिक्रमा नहीं है। पुनरुत्थान युग के इतिहासकारों ने बहुत सी वर्तमान प्रवृत्तियों को ज्यों-का-त्यों अतीत में खोज दिखाया और अतीत के स्वर्ण-युग के पुनरागमन की कल्पना की। छायावादी कविता की 'रोमाण्टिक भावना' को कुछ विचक्षणों ने रीति-काल के घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि कवियों पर आरोपित कर दिया। इसी तरह 'बिहारी सतसई' को 'शादा सतसई' के नजदीक बैठाया गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्वच्छ दृष्टि ने इस तरह के भ्रमों का उच्छेद 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में किया है। इतिहास में कोई प्रवृत्ति दुहराई जाने पर उपहासास्पद हो जाती है जैसे 'रामायण' के वजन पर आधुनिक युग में लिखा हुआ 'कृष्णायण'। यह ऊर्ध्वोन्मुख विकास-क्रम सोद्देश्य है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। यदि इस बात को भुला दिया जायगा तो फिर इतिहास के अध्ययन और निर्माण का प्रयोजन ही क्या होगा? पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने इसे लक्षित नहीं किया था, इसीलिए वे इतिहास के केवल स्याहानवीस बने रहे।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की चौथी विशेषता है—वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगति अथवा अन्तर्विरोध को पहचानना। उदाहरणस्वरूप भक्ति-काव्य के लोकोन्मुखी यथार्थ और अलौकिकता में आश्रय लेने वाले आदर्श में अन्तर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध के समझने पर ही स्पष्ट हो सकता है कि किस प्रकार उनके अलौकिक तत्त्वों को लेकर पीछे सम्प्रदाय और मठ खड़े हो गए और लोकोन्मुखी यथार्थ ने १६वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण को बल दिया। इसी तरह नायिका भेद-परक रीतिवादी काव्य का उद्गम समझने के लिए कृष्ण-काव्य के अन्तर्विरोधों का ज्ञान आवश्यक है। आधुनिक युग में छायावाद के अन्तर्विरोधों ने ही प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ भावना को जन्म दिया। असंगतियों अथवा अन्तर्विरोधों के सहारे ही एक युग में पाई जाने वाली अनेक प्रवृत्तियों का कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इसी प्रणाली के अभाव में शुक्लजी को अपने इतिहास में 'औसतवाद' का सहारा लेना पड़ा। युग-विशेष की प्रवृत्ति ही नहीं बल्कि प्रत्येक साहित्यकार तथा साहित्यिक कृति में यह असंगति मिलती है, क्योंकि वह असंगति वाले समाज की उपज है। कभी-कभी लेखक के राजनीतिक-सामाजिक दृष्टिकोण तथा साहित्यिक चित्रण में असंगति दिखाई पड़ती है। इसलिए इन बातों को ध्यान में रखने पर ही इतिहास का सम्यक् अध्ययन तथा साहित्यकारों का सही मूल्यांकन सम्भव है।

ऐसी ऐतिहासिक प्रणाली का सही उपयोग भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही हो सकता है, क्योंकि साहित्य के इतिहास को परस्पर-सम्बद्ध, क्रमबद्ध, गतिशील, आवृत्तिहीन ऊर्ध्वमुख ढंग

से वही देख सकता है जो उसे मूर्त और ठोस रूप में देखे। मनोलोकवासी आदर्शवादी विचारक इसे उक्त ढंग से नहीं देख सकते। यदि देखने की चेष्टा भी करें तो तस्वीर उन्हें उल्टी दिखाई पड़ेगी। इसलिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली भौतिकवादी दृष्टिकोण का अनिवार्य अंग है।

साहित्य के इतिहास में भौतिकवाद का प्रयोग करते समय 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' की पहली चेतावनी यह है कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला आदि की भाँति साहित्य के भी अपने नियम हैं इसलिए उन नियमों की जानकारी पहले होनी चाहिए। यदि हम साहित्य की रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ नहीं जानते, तो भौतिकवाद के सामान्य सिद्धान्त इस दिशा में कोई सहायता नहीं कर सकते। साहित्य का भी अपना शास्त्र है और उस शास्त्र की महान् परम्परा है—रस-विवेक, अलंकार विधान, पद-चयन, छन्दोज्ञान, शैली-सिद्धि, नाट्य-विधान, औपन्यासिक कला, कहानी कौशल आदि उसके विविध अवयव हैं। साहित्य के इतिहासकार के लिए इनकी बारीकियों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन इन बारीकियों का जानना अपने-आप में साध्य नहीं है। इन नियमों की जानकारी साधन ही हो सकती है—रचयिता के लिए भी और पाठक के लिए भी। केवल इसी हद तक साहित्य तथा उसके नियमों की सत्ता स्वतन्त्र है।

इसके अतिरिक्त साहित्य तथा उसके नियम अन्य वस्तुओं और विचारों से सम्बद्ध हैं। इसलिए साहित्य तथा उसके नियमों की जड़ें स्वयं साहित्य में ही नहीं हैं, बल्कि उसके बाहर हैं; बाहर का अर्थ है वातावरण, परिस्थिति और समाज। यहीं आदर्शवाद और भौतिकवाद में मतभेद है। आदर्शवादी विचारक साहित्य की जड़ें व्यक्ति-साहित्यकार के मन में खोजते हैं जब कि भौतिकवाद उन जड़ों को उस समाज और परिस्थिति में खोजता है जिससे स्वयं व्यक्तिमन भी विकसित और निर्धारित हुआ है। समाज ने साहित्य को उत्पन्न किया है, साहित्य ने समाज को नहीं। इसलिए साहित्य का इतिहास समझने के लिए समाज के विकास का ज्ञान आवश्यक है।

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि समाज से एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद साहित्य स्वयं सामाजिक शक्ति बन जाता है और समाज के विकास में योग देता है। यदि ऐसा न हो तो फिर साहित्य की उपयोगिता ही क्या रहे। इसलिए मुख्य समस्या यही है कि कोई साहित्यिक कृति प्रभावशाली होने से पूर्व उत्पन्न कैसे हुई। इसके लिए हमें समाजिक नियमों की ओर जाना होगा। किन्तु यहाँ भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि सामाजिक पृष्ठभूमि का अनुसन्धान साहित्य के अध्ययन का साधन मात्र है, साध्य नहीं। साहित्यिक विवेचन को समाज-शास्त्रीय विवेचन बना देना अवैज्ञानिक है। सामाजिक पृष्ठभूमि का उपयोग साहित्यिक समस्याओं को समझने की कुंजी के रूप में होना चाहिए; इससे अधिक जोर देना गलत है।

आदर्शवादी इतिहासकारों ने भी हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय भक्ति-काव्य, रीति-काव्य, छायावाद आदि की सामाजिक पृष्टभूमि दी है और उससे उन काव्य-धाराओं की उत्पत्ति अथवा प्रभावित होना भी दिखलाया है। किन्तु उनका सारा प्रयत्न चौखट में 'फिट' करने जैसा लगता है। वे ऐतिहासिक घटनाओं का हवाला देकर सीधे-सीधे लेखक तथा उसकी कृतियों को उसमें ला बिठाते हैं। कहना न होगा कि इस साँचेबाजी में लेखक और कृति की दुर्गति हो जाती है। यदि वह साँचे से बड़ा हुआ तो उसके अंग काट दिए जाते हैं और यदि छोटा पड़ा तो खींचकर बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। अक्सर महान् साहित्यकार अपने युग के घटना-लेखकों के आँकड़ों से अधिक व्यापक और गहरे यथार्थ का अंकन करते हैं। वे उन घटनाओं के मूल तत्त्व

को पकड़कर वास्तविकता की अभिव्यंजना करते हैं। इसलिए घटनाओं में 'फिट' करने पर प्रायः उनका कटा-छँटा और एकांगी रूप ही सामने आता है। तुलसीदास को डॉ० ईश्वरीप्रसाद के इतिहास में वर्णित घटनाओं के *अनुसार* देखने पर उनकी यही दशा हुई है। दूसरी ओर कभी-कभी दुटपुँजिए साहित्यकारों को घटनाओं के *अनुसार* दिखाने में बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित किया जाता है। छोटे साहित्यकारों की ही नहीं बड़े साहित्यकारों को भी खींचतान की दुर्दशा सहनी पड़ती है। ऐसा तब होता है जब समीक्षक इतिहास में स्वयं अपने स्थान तथा आलोच्य साहित्यकार के स्थान में अन्तर करना भूल जाता है। फलतः वह उक्त साहित्यकार को उसके युग में 'फिट' करने के बदले अपने ही युग में 'फिट' करने लगता है। तुलसीदास को शाश्वत और युग-युग का सिद्ध करने के लिए आदर्शवादी इतिहासकारों ने प्रत्येक आधुनिक समस्या के चौखटे में उन्हें कसा है और उनके मुँह से अपने युग की—अपने पक्ष की—बातें कहलाई हैं। यह कार्य पुनरुत्थानवादी सुधारकों ने तो किया ही, आरम्भिक प्रगतिशील समीक्षकों ने भी किया। अपने वर्तमान से अत्यधिक ग्रस्त होने पर अतीत भी उसी रंग में रँगा दिखता है और काल-विवेक मिट जाता है। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' इस भ्रम को दूर करता है।

वस्तुतः साहित्य का इतिहास लिखते समय ये समीक्षक भूल बैठते हैं कि वे साहित्य का इतिहास लिख रहे हैं। आलोच्य वस्तु साहित्यिक कृति और उसमें अंकित सामाजिक यथार्थ है। सामाजिक पृष्ठभूमि का उपयोग उस सामाजिक यथार्थ को समझने तथा परखने के लिए होना चाहिए। किन्तु यहाँ तो दूसरे साधनों से जुटाई हुई सामाजिक सामग्री ही प्रधान हो जाती है और साहित्यिक कृति का उपयोग उक्त सामग्री के समर्थन के लिए होने लगता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि साहित्यिक प्रवृत्ति का विवेचन करने से पूर्व वे लोग सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक आदि परिस्थितियों का खाता एक बार लिख जाते हैं, फिर उक्त साहित्यिक प्रवृत्ति का विवेचन करते हैं। जिस तरह अधपकी दाल में दाल अलग और पानी अलग रहता है उसी तरह एक पुस्तक में साथ-साथ छपने के अतिरिक्त इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सही तरीका यह है कि साहित्यिक कृति के सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण के सिलसिले में यथास्थान अन्य साधनों द्वारा प्राप्त सामाजिक सामग्री का उपयोग किया जाय। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' यही सिखलाता है।

साहित्य और समाज को इस तरह अलग-अलग रखकर देखने का मूल कारण यही है कि ये आदर्शवादी इतिहासकार समाज और साहित्य का ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं समझ पाते। वे शुद्ध साहित्यवादी होते हुए भी साहित्य को सामाजिक घटनाओं के अनुवाद रूप में देखते हैं। यह उनकी असंगति है। मूलतः तो वे आदर्शवादी हैं लेकिन भौतिकवाद के दबाव के कारण समाज की उपेक्षा करने में असमर्थ हैं। इसलिए जिस तरह उनके दिमाग में आदर्शवाद और भौतिकवाद अलग-अलग पड़े हैं, उसी तरह उनकी समीक्षा में भी साहित्य और समाज परस्पर विच्छिन्न हैं। विवेचन का सारा ढाँचा भौतिकवादी-सा प्रतीत होते हुए भी उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। फिर चाहे वे आर्यसमाजी हों, चाहे किताबी मार्क्सवादी। साहित्य अनुकृति नहीं, रचनात्मक कृति है। सामाजिक सत्य को साहित्यकार नवीन चित्रों, मूर्तियों और मर्मछवियों में गढ़ता है; मृत व्यक्तियों और घटनाओं को भी पुनर्जीवित करता है; जड़-पदार्थों को भी सजीव करता है, पेड़ के पत्तों को जबान बना देता है और स्थिर पत्थर को भी स्पन्दनशील। इसलिए जितनी बड़ी साहि-

त्यिक कृति होती है, उसमें वास्तविकता की रचनात्मक शक्ति भी उतनी अधिक होती है तथा अनुकृति उतनी ही कम। श्रेष्ठ राष्ट्रगीत वे नहीं हैं जो राष्ट्रीय संग्राम की घटनाओं की सूची बनाते हैं, बल्कि वे हैं जो उस संघर्ष की आग को देश-प्रेम की स्निग्धता से दीप्त करते हैं। ऐसी दशा में श्रेष्ट कृतियों में अन्तर्निहित सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करना मुश्किल हो जाता है। जिस रचना में वास्तविकता तथा प्रतिकृति का सामंजस्य जितना ही प्रगाढ़ होता है, उसके प्रति समीक्षक का उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ जाता है। 'रामचरितमानस' के कलिकाल वर्णन के आधार पर तत्कालीन सामाजिक दशा का खाता खड़ा करना आसान है, किन्तु भरत की भक्ति में व्यंजित होने वाले सामाजिक सत्य का विश्लेषण कितने लोग कर पाते हैं ? वहाँ तो बस सेवक-सेव्य भाव की शास्त्रीय चर्चा तक ही पण्डित लोग हाथ-पाँव मारते रहते हैं। 'कवितावली' उत्तरकांड के 'महामारी-वर्णन' का यथार्थ तो शब्दार्थ करने वाला भी बता सकता है, किन्तु 'विनय-पत्रिका' की मार्मिक वेदना का यथार्थ आधार कौन ढूँढ़ने की चेष्टा करता है ? तुलसी के 'लोक-संग्रह' की लम्बी-चौड़ी चर्चा करने वाले भी बस उनके वर्णाश्रम-सम्बन्धी विचारों को ही उछालते रह जाते हैं, लेकिन क्या कभी उन्होंने तुलसी के अन्तर्विरोधों की ओर भी ध्यान दिया है; उनके शूद्र-विरोधी विचारों और निषाद, गुह, शबरी आदि के मार्मिक चित्रणों का अन्तर्विरोध तथा उसके कारणों की खोज हुई है ? तुलसीदास में तो फिर भी सामाजिक आधार अपेक्षाकृत सहज ही मिल सकता है, परन्तु 'सूरदास' के लीला-पदों में जहाँ वास्तविकता का चित्रण और भी गहरे स्तर पर हुआ है, ये समाजशास्त्री खूब गोता खाते हैं और इस तरह का फतवा देते हैं कि उन्होंने केवल मनोरंजन किया, समाज का मन बहलाया। ये हैं सूर को हिन्दी-साहित्य के आकाश का सूर्य कहने वाले ! इनका 'सूर्य' केवल बच्चा बहलाने का कार्य करता है। श्रद्धा और युक्ति में यह सम्बन्ध है। कस्तूरी की गन्ध शपथ द्वारा नहीं बताई जा सकती, फिर मूल्य तो और भी नहीं।

समाज से साहित्य का सम्बन्ध बहुत-कुछ वही है जो धरती से फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसके डाल, पात, पंखड़ी, वर्ण, गन्ध आदि मिट्टी के हैं, कि उससे मिट्टी की-सी ही सोंधी गन्ध आती है और रंग भी मटमैला होता है। धरती का रूप-रस फूल में नया वर्ण, गन्ध उत्पन्न करता है। इसी तरह साहित्य में भी समाज ज्यों-का-त्यों नहीं झलकता, बल्कि रूपान्तरित रूप में अन्तर्निहित रहता है।

साहित्य और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को न समझ सकने का मूल कारण है समाज के नियमों को ठीक-ठीक न समझना। आदर्शवादी इतिहासकार साहित्य में या तो केवल विचार-ही-विचार ढूँढ़ते हैं या फिर हवाई ढंग से समाज और परिस्थिति। इसी तरह साहित्य को भी बड़े अस्पष्ट और खयाली समाज में टटोलते हैं। समाज में साहित्य का स्रोत खोजने का मतलब है मनुष्य के मूर्त पारस्परिक सम्बन्धों में उसकी जड़ें खोजना। मनुष्य ही साहित्य का रचयिता भी है और वर्ण्य वस्तु भी। मनुष्य का मतलब कोई अस्पष्ट 'मनुष्य' नहीं है, बल्कि वह क्रियाशील प्राणी जो परिवार, राज्य, धर्म, विद्यालय आदि संस्थाओं के रूप में शतधा-सहस्रधा अभिव्यक्त है। साहित्य में यही मूर्त मनुष्य एक व्यक्ति-पात्र के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी अपने समस्त सामाजिक सम्बन्धों के साथ आता है। साहित्यिक कृति में सामाजिक सम्बन्धों को बहुत सरल बनाकर देखना गलत होगा। जो लोग 'रामचरितमानस' के राम-रावण युद्ध को तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में चित्रित करते हैं तथा सीता-हरण को हिन्दुस्तान की धरती का अपहरण बतलाते हैं वे

'मानस' में बिम्बित सामाजिक सम्बन्धों को गहराई से नहीं देखते। मानस के राम, भरत, कैकयी, वशिष्ठ आदि उस युग की पारिवारिक, धार्मिक आदि अनेक संस्थाओं के गूढ़ सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं।

परन्तु विविध संस्थाओं में बिखरे हुए सामाजिक सम्बन्धों का भी निश्चित आधार है। इसी आधार को आदर्शवादी विचारक नहीं समझ पाते और तरह-तरह के खयाली कानूनों का सहारा लेते हैं। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' इस आधार को बहुत ठोस रूप में समझता है। इन संस्थाओं के पीछे अलग-अलग व्यक्ति नहीं, बल्कि एक प्रकार के व्यक्ति काम करते हैं और इस तरह सामाजिक शक्तियों के रूप में कार्यरत दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक शक्तियाँ ठोस विश्लेषण करने पर 'उत्पादन की शक्तियों' पर आधारित मालूम होती हैं—उत्पादन की शक्तियाँ यानी यन्त्र-प्रणाली, मनुष्य और उसका श्रम। इस तरह सामाजिक सम्बन्ध मूलतः उत्पादन-सम्बन्ध हैं। उत्पादन—भौतिक या आध्यात्मिक—जब तक मनुष्य समभाव और सहभाव से करता है, सामाजिक सम्बन्ध भी समता और सहकारिता के होते हैं, परन्तु ज्यों ही मनुष्य अपने बन्धुओं को उत्पादन-शक्ति के रूप में इस्तेमाल करने लगता है, सम्बन्ध विषम अर्थात् शासक और शासित, स्वामी और दास, के हो जाते हैं। यह मौलिक उत्पादन-सम्बन्ध समस्त सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे को निर्धारित करता है। उसी मौलिक सम्बन्ध को जानना समाज के मौलिक नियम को जानना है और उसे जानकर इतिहास की व्याख्या तथा परिवर्तन का विधान करना इतिहासकार का मुख्य कर्तव्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में मनुष्य व्यक्ति ही नहीं बल्कि वर्ग भी है। व्यक्ति-साहित्यकार के भी यही दो रूप हैं और उसकी कृति में अभिव्यक्त पात्रों के भी यही दोनों रूप आते हैं। इसी को 'विशेष' और 'सामान्य' (टाइप) का सिद्धान्त कहा जाता है। 'होरी' व्यक्ति के साथ ही भारतीय किसान का प्रतिनिधि भी है; वह 'विशेष' होने के साथ 'सामान्य' भी है। उसकी 'विशेषता' में सजीवता है और सामान्यता में व्यापक अपील। 'होरी' के इन दोनों रूपों को समझना ही 'गोदान' की सच्ची आत्मा को समझना है।

जहाँ तक साहित्यकार के वर्ग-प्रतिनिधि तथा व्यक्ति-विशेष रूपों का सम्बन्ध है, बड़ा ही जटिल है। प्रायः कहा जाता है कि सत्ताधारी वर्ग ही उस युग की विचार-प्रणालियों का नियामक होता है और साहित्यकार उसका गायक। परन्तु यह बात विश्लेषण-सापेक्ष्य है। सत्ताधारी वर्ग की शक्ति के घटाव-बढ़ाव के अनुसार ही विचार-प्रणालियों पर उसके प्रभाव का विचार हो सकता है। समाज में केवल प्रभुवर्ग ही नहीं रहता जो मनमाना किया करे; प्रभुवर्ग की आकांक्षाएँ सामान्य जन-समूह द्वारा बाधित होती रहती हैं और आकांक्षाओं के इस संघर्ष से प्रायः ऐसा नया परिणाम निकल जाया करता है जो दोनों शक्तियों के लिए अचिन्त्य था। इस तरह वर्ग-समाज में साहित्य का नियमन प्रभुवर्ग ही नहीं करता, बल्कि सामान्य जन भी करते हैं। सामान्य जन प्रभुवर्ग की आकांक्षाओं में जिस हद तक बाधा डालते हैं अर्थात् अपनी मुक्ति के लिए लड़ते हैं, साहित्य का उत्थान भी उसी हद तक होता है और साहित्यकार का पक्ष—पर पक्ष—भी उसी के अनुसार बढ़ता-घटता रहता है। प्रायः साहित्य के महान् युगों में सामान्य जन का जागरण भी महान् रहा है। हिन्दी के भक्ति-काव्य के पीछे सामान्य जन का यही जागरण था। रीति-काव्य के पीछे जनसाधारण का यह सहयोग न्यूनातिन्यून था। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि साहित्यकार किस वर्ग का प्राणी है और न तो उसे रँगे हाथों पकड़ने में ही कोई साहस है। मुख्य प्रश्न है उसकी सहानु-

भूति को तत्कालीन जन-जागरण के परिदृश्य में परखने का।

महान् साहित्यकार को किसी वर्ग-विशेष का गायक कहने पर प्रायः आदर्शवादी विचारक बिगड़ खड़े होते हैं। यदि वे यह समझकर बिगड़ते हैं कि उसे शासकवर्ग का गायक कहा जा रहा है तो उनका बिगड़ना वाजिब है। लेकिन बात कुछ और है। वर्ग-विशेष का गायक कहने का यही मतलब है कि उसका काव्य उसके पाठकों और श्रोताओं द्वारा निर्धारित होता है; जिनके लिए वह लिखता है उनसे परोक्षतः प्रभावित भी होता है। तुलसी ने साधारण जनों के लिए लिखा, इसलिए उनके काव्य में ग्रामीण व्यापकता, सहजता, संवेदनशीलता तथा उत्फुल्लता आई; इसके विपरीत बिहारी ने दरबार के शिष्ट लोगों के लिए लिखा, इसलिए उनमें दरबारी कीमियागीरी, चटक-मटक, चमत्कार आदि खुल पड़ा। इसके सिवा प्रयोजन से भी साहित्य निर्धारित होता है। रोजी के लिए लिखा साहित्य रोजी चलाने वाले के अनुसार होगा और 'स्वान्तःसुखाय' लिखा साहित्य अपने आदर्शों के अनुसार। रोजी के लिए लिखने में भी फ़र्क है। गरीब कलाकार जब रोजी के लिए भी कलम चलाता है तो अपनी आत्मा नहीं बेच देता; लेकिन दरबारों से महज खिलअत की उम्मीद में लिखने वाला खुशनसीब कलाकार अपनी आत्मा पहले ही गिरवी रख चुका होता है। मध्ययुग की उर्दू शायरी के इतिहास में दोनों तरह के नमूने ढेरों मिलेंगे। यहाँ पुराने बादशाहों के संरक्षण और आज के महाजनों की छत्रछाया का अन्तर समझने की जरूरत है। पुराना सामन्त अपने कवि से अधिक-से-अधिक कुछ विरुद्ध सुन लेता था; उसके शेष काव्य के विषय में वह सावधान न था। लेकिन नया महाजन अपने पत्रों और प्रकाशनों से लेखक की समूची कलम पर हावी रहता है। पुराना छत्रसाल अपने कवि का पालकी में कन्धा भी लगा सकता था, लेकिन नया व्यवसायी केवल चाँदी की जूतियाँ लगाना जानता है। यह सब कहने का मतलब इतना ही है कि रीति-काव्य के कृतिकारों की परख करते समय सामन्ती अर्थव्यवस्था को ही ध्यान में रखना चाहिए। उन्हें दरबारी कहने का मतलब बिलकुल खरीदा हुआ नहीं होता। वे दरबार के गुलाम नहीं, अलंकार थे; उनकी भी शान थी।

इससे स्पष्ट होता है कि उत्पादन-सम्बन्ध भी बदलते रहे हैं। साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन इन्हीं सम्बन्धों के परिवर्तन के अनुसार होना चाहिए। अनुसार का मतलब दो त्रिभुजों की अनुरूपता नहीं, बल्कि उसे पथ-निर्देशक रेखा के रूप में इस्तेमाल करना। उत्पादन-सम्बन्ध बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदल जाती। साहित्य में परिवर्तन अपेक्षाकृत धीरे-धीरे होता है और साहित्य के रूप-विधान में तो और भी धीरे-धीरे। जहाँ तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों के नामकरण का सवाल है, कोई जरूरी नहीं कि उन्हें उत्पादन-सम्बन्धों के सामन्ती और पूँजीवादी कालों के अनुसार ढाला जाय। नाम तो साहित्य की अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही होना चाहिए; लेकिन उन प्रवृत्तियों के पीछे उक्त सामाजिक ढाँचे और काल-विभाजन का स्पष्ट आधार अवश्य हो। काल-विभाजन अध्ययन की सुविधा-मात्र है। काल-विभाजन से साहित्य की अखण्ड धारा बाधित न होनी चाहिए। नैरन्तर्य में कालान्तर और कालान्तर में नैरन्तर्य देखना तथा उसका निर्वाह करना इतिहासकार का कर्तव्य होना चाहिए।

परन्तु नैरन्तर्य किस बात का? साहित्यकार के बाद साहित्यकार उत्पन्न होते रहे और एक पुस्तक के बाद दूसरी पुस्तक निकलती गई—यह दिखाना ही नैरन्तर्य नहीं है। नैरन्तर्य उस मूल मानवतावादी धारा का दिखाना चाहिए जो यत्र-तत्र यदा-कदा क्षीण स्रोत होने पर भी प्रधान

रूप से स्रोतस्विनी रही। जिस प्रकार सामाजिक इतिहास में विविध सत्ताधारी वर्गों का उत्थान-पतन होता गया, लेकिन आधारभूत जनता कभी खुले रूप में और कुछ चुपचाप अपने अधिकारों के लिए लड़ती चली आ रही है, उसी तरह हिन्दी-साहित्य की मूल धारा हिन्दी-जनता के सतत संघर्ष की कहानी है। भावी इतिहास के निर्माता को साहित्यिक इतिहास के इस जीवन्त नैरन्तर्य पर काफी जोर देने की जरूरत है, साथ ही यह भी बताने की जरूरत है कि यह अनन्त और निरुद्देश्य नहीं है।

इतिहास का यह नैरन्तर्य 'आवृत्ति' के साथ गड्डमड्ड न कर दिया जाय, इसके लिए कालान्तर का बोध कराना आवश्यक है। इतिहास के काल-विभाजन की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है। काल-विभाजन में मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच विभाजक-रेखा खींचना ही काफी नहीं है, बल्कि उत्पादन-शक्तियों के आधार पर इनमें से प्रत्येक युग के उत्थान-पतन का भी निदर्शन होना चाहिए। एक प्रकार की व्यवस्था होते हुए भी भक्ति-काव्य क्यों उत्थान का प्रतीक है और रीति-काव्य पतन का। इसी प्रकार छायावादी काव्य और प्रेमचन्द-साहित्य में मध्यवर्गीय राष्ट्रीय जागरण की जो उत्थान-भावना व्यक्त हुई है वह परवर्ती काव्य और उपन्यास में ह्रास की दशा पर पहुँची लगती है। जनसाधारण के धरातल पर उठने-गिरने वाले ऊपरी वर्ग साहित्य के उत्थान-पतन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह बतलाना उतना ही आवश्यक है जितना यह बताना कि जनसाधारण साहित्य के उत्थान-पतन में कितना योग देता है। एक युग के पतन और दूसरे युग के उत्थान के साथ पूर्ववर्ती युग की सभी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। होता इतना ही है कि उनकी प्रधानता समाप्त हो जाती है, जैसे ब्रजभाषा की पुराने ढंग की रचनाएँ छायावाद-युग में भी होती रहीं और रत्नाकरजी जैसे सिद्ध कवि इसी युग में हुए। कारण स्पष्ट है—ब्रजभाषा-काव्य जिस पुराने सामन्ती ढाँचे से सम्बद्ध था वह ढाँचा आधुनिक समाज-व्यवस्था में भी कुछ-न-कुछ बना हुआ था। इसी तरह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में भी यह अन्तर्विरोध मिलता है। भारतेन्दु एक ओर तो आधुनिक युग के प्रतीक खड़ी बोली हिन्दी-गद्य को स्थापित कर रहे थे और दूसरी ओर मध्ययुग के प्रतीक ब्रजभाषा-पद्य भी लिखते रहे।

जिस तरह एक युग के पतन के साथ पुरानी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं, उसी तरह नये युग के आरम्भ के साथ ही नई साहित्यिक प्रवृत्ति भी आकार ग्रहण नहीं कर पाती। उत्पादन का ढंग बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदलती। हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग का आरम्भ दिखलाते समय यह चूक प्रायः होती है। लोग सोचते हैं कि जिस दिन से भारत में प्रेस की मशीन आई, साहित्य का नया ढाँचा भी शुरू हो गया। पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ। प्रेस के आगमन और नागरी टाइपों के ढलाव (१७८७ ई०) के बहुत दिनों बाद हिन्दी-साहित्य में आधुनिकता आई। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' यहाँ स्पष्ट कहता है कि 'प्रेस' मूलतः पुनरुत्पादक (री-प्रोडक्टिव) शक्ति है, उत्पादक-शक्ति नहीं। इसलिए यन्त्र-प्रणाली उत्पादन के समूचे ढाँचे के सजीव सम्बन्ध से ही साहित्य का इतिहास बदलने में कारगर होती है, अकेली नहीं। उदाहरण-स्वरूप चीन में अत्यन्त प्राचीन युग से प्रेस था, फिर भी चीनी साहित्य में आधुनिकता यूरोप में प्रेस आविष्कृत होने के बहुत बाद आई। जब चीन में यूरोपीयता तथा आधुनिक ढंग की यन्त्र-प्रणाली का आगमन हुआ, तब नई साहित्यिक प्रवृत्ति उगी।

'ऐतिहासिक भौतिकवाद' साहित्य के इतिहास में विषय-वस्तु के ही परिवर्तन की कुञ्जी

नहीं देता, बल्कि 'रूपतत्त्व' के विकास का भी सूत्र बताता है। एक ओर यदि वह हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग से आज तक की बदलती हुई 'प्रेम-भावना' के क्रमिक सोपानों को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर स्वयं उस भाव का वहन करने वाली भाषा, अलंकार-विधान, शैली-शिल्प, छन्द आदि के विकास की भी व्याख्या करता है। इस क्षेत्र में उसकी पहली चेतावनी यह है कि विषय-वस्तु के साथ ही रूप-तत्त्व नहीं बदलता चलता।

रूप-तत्त्व का पहला और प्रधान अवयव है भाषा। स्पष्ट है कि सूर-तुलसी की भाषा से भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद की भाषा *तत्त्वतः* भिन्न नहीं है। हिन्दी दोनों ही हैं, क्योंकि 'आधारभूत शब्द-समूह' और 'व्याकरणिक गठन' दोनों का लगभग एक है। परिवर्तन उसमें अवश्य हुआ है और परिस्थितियों के कारण हुआ है, परन्तु उसका आधार वही है। १६वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने पुरानी हिन्दी में अनेक तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्द भर दिए। १६वीं सदी के सांस्कृतिक जागरण ने भी कुछ हद तक यहीं कार्य किया था। इधर बीसवीं सदी के तीसरे दशक से जनतान्त्रिक आन्दोलन ने पुनः ग्रामीण तद्भव शब्दों के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया और प्रेमचन्द ने उसका उत्कृष्ट रूप दिखलाया। नित्य व्यवहार की नवीन वस्तुओं के आगमन से अनेक नये शब्द साहित्य की भाषा में आये। छायावाद तथा उसके बाद के कवियों ने नये ऐन्द्रिय बोधों तथा अनुभूतियों के लिए नई पदावली अपनाई। इसी तरह मध्ययुग की साहित्यिक भाषा का वाक्य-गठन भी आधुनिक युग में कुछ हद तक बदल गया। नवीन परसर्गों और पदमात्रों के अतिरिक्त क्रियापदों में भी खड़ी बोली का रंग आया। इधर बीसवीं सदी के चौथे दशक से चिन्तन-क्रिया की गूढ़ता के साथ 'अंग्रेजी ढंग की 'पैरेंथीसिस' का भी प्रवेश वाक्य-विन्यास में हो चला। फिर भी मूलतः यह भाषा हिन्दी ही रही—वह हिन्दी जिसका आरम्भ भक्ति-भावना की जनवादी प्रेरणा से हुआ था। भक्तों ने संस्कृत के विरुद्ध जो 'भाषा'-आन्दोलन किया था वह पण्डितों द्वारा पोषित रूढ़िवादी भावना के विरुद्ध नवीन जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति थी।

आदर्शवादी समीक्षक अलंकार-विधान में परिवर्तन लक्षित नहीं कर पाते। फलतः छायावाद तथा उसके बाद की नई कविताओं को भी पण्डितों ने उपमा-रूपकादि प्राचीन अलंकारों के मानदण्ड पर परखा है। अलंकारों का सम्बन्ध मनुष्य की सौन्दर्य-भावना से है और कहना न होगा कि यह भावना परिस्थितियों के अनुसार कुछ-न-कुछ बदलती चलती है। मध्ययुग के नारी-पुरुषों का प्रसाधन और शृंगार आधुनिक युग में नहीं रहा। प्रकृति-सम्बन्धी रुचियाँ बदल गईं, रंग और गन्ध-सम्बन्धी ऐन्द्रिय बोध परिवर्तित हो गए, फूलों की पसन्द और हो गई। इन तमाम बातों ने काव्य के अलंकार-विधान को प्रभावित किया है। छायावाद की कल्पना-समृद्धि को मध्ययुगीन उपमा-रूपकादि के साँचे में बैठाना अवैज्ञानिक है। अलंकार-क्षेत्र में औपम्य या साम्य-विधान की आधारभूत विशेषता सभी युगों में सामान्य होते हुए भी युग-युग में कवियों ने 'विशेष' प्रयोग किये हैं, इसका ध्यान रखना चाहिए।

इसी तरह छन्दों में जो परिवर्तन हुए हैं उनको भी आदर्शवादी समीक्षक या तो कवि की केवल व्यक्तिगत रुचि का परिणाम बताते हैं या हवाई ढंग से युग-परिवर्तन के कारण मान लेते हैं। आवश्यकता है उस यन्त्रगर्भी लय को ढूँढ़ने की जो मध्ययुग में और थी तथा आधुनिक युग में और हो गई। पता लगाना चाहिए कि दोहा, छप्पय, घनाक्षरी और सवैया के मूल में

वह कौन सी लयात्मक इकाई है जिसका सम्बन्ध, मध्ययुगीन लोकचित्त से था और आधुनिक युग में वह इकाई विविध गीतों के रूप में क्यों बदल गई ? इसी तरह 'मुक्तछन्द' में पुराने छन्दो-विधान के चरण-साम्य तथा तुक की रूढ़ि के विरुद्ध जो वेग है वह किस यन्त्र-प्रणाली, किस चित्त-गति के कारण सम्भव हुआ ? वस्तुतः प्रत्येक साहित्य की तरह हिन्दी के भी रूप-तत्त्व की अपनी विशेष परम्परा है और उसकी बारीकियों का सम्यक् विश्लेषण सविस्तर होना चाहिए। प्रस्तुत निबन्ध में यह सब सम्भव नहीं।

इस प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद साहित्यिक इतिहास में रूप-विधान-सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओं तथा परम्परा-पालन को समझने के लिए ठोस आधार प्रदान करता है जो इतिहास-लेखक के लिए बहुत आवश्यक है।

संक्षेप में यही है इतिहास के अध्ययन के नये दृष्टिकोण की मोटी रूपरेखा। हिन्दी-साहित्य क्या, किसी भी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए 'दृष्टिकोण' निर्धारित करते समय केवल निर्देशक-सूत्र देना ही सम्भव है। इतिहास-लेखक के सामने कदम-कदम पर जो अनेक बारीक सवाल उठते हैं उनका आकलन यहाँ नहीं हो सकता। निस्सन्देह साहित्य-सृष्टि अनेक जटिल प्रभावों तथा तत्त्वों का घात-प्रतिघात है और उसका कतिपय नियमों द्वारा अति सरलीकरण करना गलत है। किन्तु उन जटिल तत्त्वों को एक-एक कर विलगाना असम्भव है, यह धारणा और भी गलत है। ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत न करते हुए साहित्य के इतिहास को समझना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम मानवता की मुक्ति के इस अन्तिम संघर्ष में योग दे सकेंगे। अतीत का अविकृत और सत्य उद्घाटन ही वर्तमान में सक्रिय हो सकता है। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद से ही सम्भव है। यदि ऐसा नहीं है तो इतिहास के आर्यसमाजी व्याख्याकारों और ऐतिहासिक भौतिकवादियों में क्या फर्क रहेगा ? अपने अतीत के जय-पराजय, हर्ष-शोक, आशा-निराशा का यथार्थ चित्रण ही हमें आज विजय के लिए प्रेरणा दे सकेगा।

बाबू गुलाबराय

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ और आचार्य शुक्ल की देन

जब कोई भाषा समुन्नत हो जाती है तब उसके साहित्य का भी इतिहास लिखा जाने लगता है। अपने पूर्ववर्ती कवियों की परम्परा बतलाने की प्रवृत्ति प्राचीन कवियों में भी रही है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है। जायसी ने प्रेममार्गी कवियों की परम्परा अपनी पद्मावत के आरम्भ में दी है। नाभादासजी ने भक्तमाल में भक्तों का यशगान किया है। गोस्वामी गोकुलनाथजी ने अष्टछाप के कवियों तथा अन्य वैष्णवों के चरित्र का वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्यकला पर पुस्तक लिखकर उसमें नाटकों की परम्परा का उल्लेख किया है। किन्तु इन प्रयत्नों को हम इतिहास नहीं कह सकते हैं। ये इतिहास के पूर्वरूप अवश्य कहे जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास कहे जाने वाला ग्रन्थ लिखने का श्रेय सबसे पहला ग्रन्थ गर्सां द तासी नाम के फारसी विद्वान् को है। उसकी पुस्तक का नाम 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई एँ ऐन्दुस्तानी' है; यह फ्रांसीसी भाषा में लिखी हुई है। किन्तु यह भी वास्तव में इतिहास नहीं है। इसमें अंग्रेजी वर्णमाला के वर्णक्रम से कवियों का नाम और विवरण दिया गया है। इतिहास के लिए वर्णक्रम तो बड़ा ही अस्वाभाविक और कृत्रिम विधान है। इतिहास में तो कालक्रम की प्रधानता रहती है।

यह ग्रन्थ दो खण्डों में निकला था—प्रथम खण्ड संवत् १८९६ और दूसरा संवत् १९०३ में निकला। फिर इसके तीन भाग हो गए। इसमें यद्यपि कालक्रम नहीं है तथापि कवियों के नाम, विवरण और उदाहरण एकत्र मिल जाते हैं। विवरण के अनुसार कुछ अनुपूर्वी भी लगाई जा सकती है।

इसके पश्चात् दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ है शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज'। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई। यह ग्रन्थ गर्सां द तासी के ग्रन्थ के ढंग का है। कवियों की नामावली के साथ उनका विवरण उदाहरण सहित दिया गया है, किन्तु इसकी नामावली एक सहस्र तक पहुँच गई है जब कि गर्सां द तासी की पुस्तक में हिन्दी कवियों की संख्या सत्तर ही है। शिवसिंह सरोज बहुत दिनों तक इतिहासकारों का आधार-स्तम्भ रहा। संवत् १९४६ में ग्रियर्सन महोदय का 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' निकला। यद्यपि यह शिवसिंह सरोज पर ही आधारित है तथापि इसमें काल विभाजन और प्रवृत्तियों के निर्देश की ओर भी प्रवृत्ति थी। इसमें कवियों की संख्या ९५२ है। इसमें सेंगर जी की सामग्री को अधिक व्यवस्था और विवेचन के साथ रखा गया है।

क्या

आलोचना

का यह अंक
आपको अच्छा लगा ?

पत्रिका सम्बन्धी आपके विचार जानकर हमें प्रसन्नता होगी, और उन पर सम्पादकीय विभाग अवश्य ध्यान देगा।

हिन्दी की इस श्रेष्ठ पत्रिका के अधिकाधिक प्रचार में

- इसके स्थायी ग्राहक बन कर,
- अपने परिचय के प्रत्येक पुस्तकालय को इसकी सूचना दे कर,
- जान-पहचान के हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों व साहित्यिकों को इसके ग्राहक बनाकर,

सहयोग दीजिए।

ग्रियर्सन के पश्चात् जो इतिहास-लेखन का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास हुआ वह मिश्र-बन्धुओं का था। वह पहले तीन भागों में संवत् १९७० में प्रकाशित हुआ। उसका चौथा भाग जो आधुनिक काल से सम्बन्धित है, संवत् १९९१ में प्रकाशित हुआ था। मिश्रबन्धु विनोद में यद्यपि साहित्याङ्गों पर प्रकाश डालते हुए आलोचना की ओर प्रवृत्ति है तथापि उसका मूल उद्देश्य अधिक-से-अधिक कवियों को प्रकाश में लाना था। उसके द्वारा हिन्दी के छोटे-बड़े प्रायः पाँच हजार कवि प्रकाश में आये। प्रथम तीन भागों में प्राचीन काल के कवियों की नामावली परिगणन में उनको एक बड़े अन्वेषक और किसी अंश में आलोचक का भी श्रेय दिया जा सकता है, किन्तु उनका चौथा भाग अत्यन्त अव्यवस्थापूर्ण निकला। उसके सम्बन्ध में मैंनें उनसे स्वयं कहा था कि मिश्रजी यह ब्राह्मण का कच्चा-सीधा हो सकता है इसको पक्वान्न नहीं कह सकते। उसमें प्रायः कवियों के ही भेजे हुए विवरण बिना किसी गारा-चूना या सीमेण्ट के ईंटों का चट्टा भी नहीं, ढेर हैं। मिश्रबन्धुओं का काल-विभाजन अधिकांश में काल-विभाजन ही है अर्थात् उसमें प्रवृत्तियों की अपेक्षा समय को अधिक महत्त्व दिया गया है। कवियों की नामावली को ही महत्त्व देने के कारण उनको एक अज्ञातकाल भी रखना पड़ा। उसमें उन कवियों का वर्णन है जिनके नाम और कृतियों के अतिरिक्त उनका कुछ अता-पता नहीं है। वास्तव में मिश्रबन्धु विनोद में काल-विभाजन के आधारों का संकर है। आदि प्रकरण में वीरगाथा-काल के साथ और सभी प्रकार की रचनाएँ रख दी हैं जिनमें कुछ पीछे की भी हैं। इसके सम्बन्ध में शुक्ल जी व्यंग करते हैं :—

जो वीर रस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्त देखकर प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को Thought और विचार को Feeling कहते हैं वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् १००० के क्या संवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की संवत् सूचक-पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिए काफ़ी है। 'सहस्र सो संपूरन जाना' प्रौढ़ माध्यमिक काल में रचना की प्रौढ़ता का आधार है तो पूर्व और उत्तर अलंकृत काल में रीतिकाल भी अलंकृत प्रवृत्ति का आधार है। इसके अतिरिक्त पूर्व और उत्तर में केवल काल का ही अन्तर है। मिश्रबन्धुओं ने कुछ कवियों को प्रधानता देने के लिए तुलसी, सेनापति, बिहारी आदि के नामों पर कालों को अभिहित किया है। किन्तु किसी एक को मुख्यता देना दूसरों के साथ अन्याय है। केवल तुलसी और सूर ही अपने वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इस पर भी शुक्ल जी ने करारा व्यंग किया है। भिन्न-भिन्न शाखाओं के कवियों की केवल काल-क्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं? सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व-उत्तर इत्यादि खण्डों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता, यद्यपि आचार्य शुक्ल जी के व्यंग्य कुछ तीखे अवश्य हैं तथापि वे इस बात के द्योतक हैं कि आचार्य शुक्लजी प्रवृत्तियों को ही महत्त्व देते थे। एक काल के भीतर भी जहाँ उनको प्रवृत्तियों के सूत्र मिले हैं वहाँ उन्होंने उनको स्पष्ट कर दिया है, जैसे भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा। आचार्य शुक्लजी का काल-विभाजन इस प्रकार है :—

आदिकाल (वीरगाथा-काल, संवत् १०५०—१३७५)

पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५—१७००)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००—१६००)

आधुनिक काल (गद्यकाल १६००—)

इसमें काल-विभाजन के साथ प्रवृत्ति भी आ गई है। यद्यपि साहित्य के इतिहास में काल-श्रेणियाँ टकसाली रुपयों की भांति बिलकुल कटी-छँटी नहीं होतीं और न प्रवृत्तियाँ ही काल-चक्र के निश्चित पर्दों से बँधी हुई हैं तथापि यह विभाजन व्यावहारिक है। एक काल में जिस विषय के अधिकांश ग्रन्थ मिले हैं उसी के नाम से काल का नामकरण कर दिया गया है। सभी प्रवृत्तियाँ आधुनिक काल तक चली आती हैं, किन्तु उनका अब बाहुल्य नहीं है। रीतिकालीन प्रवृत्ति का उपाध्यायजी का 'रसकलश' तो इसी युग में लिखा गया था, किन्तु वह प्रवृत्ति नहीं, अपवाद स्वरूप ही कहा जा सकता है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी ने इसीलिए अपने इतिहास में प्रवृत्तियों को काल के बन्धन में नहीं बाँधा है, वरन् प्रवृत्तियों के आधुनिक काल तक भी जो भूले-भटके उदाहरण मिलते हैं उनको दे दिया है। वीरगाथा काल के ही अन्तर्गत उन्होंने लाल और भूषण को भी ले लिया है। आदिकाल की तिथि के सम्बन्ध में भी इतिहासों में थोड़ा हेर-फेर है! शुक्लजी के मत से वीरगाथा काल जहाँ १०५० से संवत् १३७५ तक है वहाँ डाक्टर रामकुमार वर्मा के मत से यह संवत् १००० से ही प्रारम्भ हो जाता है। श्यामसुन्दरदासजी की पुस्तक में वीरगाथाकाल पूरे १४०० तक खिंच जाता है। फलतः भक्तिकाल का प्रारम्भ भी १४०० तक आगे बढ़ जाता है। काल-निर्णय में जबकि वह विशेषकर प्रवृत्तियों का हो २५ वर्ष इधर या उधर कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। साहित्य के काल सरकारी अधिकारियों की भाँति निश्चित तिथि पर अपना चार्ज सौंपकर रंगस्थली से हट नहीं जाते। वीरगाथाओं से पूर्व जिसको आचार्य शुक्लजी ने अपभ्रंश काल कहा उसे डाक्टर रामकुमार वर्मा ने सन्धिकाल कहा। मिश्रबन्धुओं के आदि प्रकरण में हिन्दी एम० ए० के Ancient Texts की भांति जायसी कबीर आदि भी शामिल हो जाते हैं।

काल-विभाजन की कठिनाई और पारस्परिक मिश्रण की ओर श्यामसुन्दरदासजी का ध्यान पूरी तौर से गया है—'राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियाँ धीरे-धीरे बदलती हैं, एक ही दिन में वे परिवर्तित नहीं हो जातीं। इसी प्रकार काव्य-धारा भी धीरे-धीरे अपना पुराना स्वरूप बदलती है तथा नवीन रूप धारण करती है; वह कभी एकदम से नया मार्ग नहीं ग्रहण करती। दूसरी बात यह है कि साहित्य कोई यान्त्रिक-क्रिया नहीं है कि सामाजिक आदि स्थितियों के बदलते ही तुरन्त बदल जाय।'

आचार्य शुक्लजी ने वर्तमान गद्यकाल के अन्तर्विभागों का अलग नामकरण नहीं किया है। वर्तमान युग को उन्होंने गद्ययुग इसलिए कहा कि उसमें गद्य का प्राधान्य रहा है और शायद इसलिए भी कि उनके अवचेतन में वर्तमान युग की कविता के प्रति वह आदर नहीं था जो प्राचीन कविता के प्रति था। इस सम्बन्ध में इदं इत्थं कहना वैज्ञानिक की सीमा का उल्लंघन होगा, किन्तु ऐसा अनुमान किया जा सकता है। शुक्लजी ने आधुनिक काल को हरिश्चन्द्र या द्विवेदी युग के नाम से भी नहीं बाँटा है। आधुनिक युग की शुक्लजी ने गद्य और पद्य की अलग-अलग धाराएँ कर दी हैं और उनका अन्तर्विभाजन पच्चीस-पच्चीस वर्ष के उत्थानों से किया है। इस गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा—जैसे नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी, निबन्ध आदि—का अलग-अलग उत्थानों के अनुकूल किया है। इसमें साधारण पढ़ने वाले के लिए श्रृङ्खला

टूट जाती है। एक विधा का पूरा ही विकास दे देते तो अच्छा होता। कम-से-कम पाठ को इस प्रकार पढ़ना चाहिए कि एक उत्थान से उस विधा के दूसरे, तीसरे उत्थान तक पहुँच जाय। इन उत्थानों का भी यदि व्यक्तियों के नाम पर नामकरण न होता तो प्रवृत्तियों के अनुकूल हो सकता था। व्यक्तियों के आधार पर नामकरण शुक्लजी के प्रवृत्ति वाले सिद्धान्त के प्रतिकूल होता और इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति स्वयं युग-प्रवर्तक हो वह सहज में दूसरे को युग-प्रवर्तक कहने को तैयार नहीं होता। यह भी एक विचारमात्र है, इसको तथ्य न समझा जाय।

शुक्लजी के इतिहास की और भी विशेषताएँ हैं किन्तु उनके उद्घाटन के पूर्व अन्य प्रमुख इतिहासों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

शुक्लजी के इतिहास के पश्चात् दूसरा उल्लेखनीय इतिहास बाबू श्यामसुन्दरदास जी का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम का ग्रन्थ है। उसमें भाषा और साहित्य दोनों का ही विकास दिया गया है। साहित्यालोचन के अनुकूल बाबूजी ने साहित्य और काव्य को भी एक कला माना है। उस इतिहास की यह विशेषता है कि उसमें साहित्य और कला का विकास एक ही प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित दिखाया गया है। श्यामसुन्दरदासजी के इतिहास में शुक्लजी के इतिहास की अपेक्षा ब्यौरे की कमी है। उदाहरण भी इने-गिने ही दिये गए हैं।

उसका ऐतिहासिक विवेचन कुछ अच्छा है। उनका ध्यान व्यापकता की ओर अधिक है। बाबू जी ने आधुनिक वादों की इतनी कटु आलोचना भी नहीं की है और न सन्त साहित्य और नाथ पंथियों के विरुद्ध जहाद की आवाज उठाई है। इतिहास में शुक्लजी भी संयत रहे हैं। वास्तव में सन्त साहित्य के सम्बन्ध में इन दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण का अन्तर रहा है। डाक्टर श्याम-सुन्दरदासजी सन्त साहित्य के पोषक रहे हैं। उन्होंने स्वयं कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन किया है और उनके निरीक्षण में डाक्टर पीताम्बरदत्त, बडथ्वाल की सन्त साहित्य पर थीसिस लिखी गई। इन दोनों आचार्यों में पर्याप्त साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विता रही। श्यामसुन्दरदास जी के इतिहास के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का एक व्यंग्य देखिए—

"शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें—भाषा-विज्ञान, हिन्दी-भाषा और साहित्य तथा साहित्या-लोचन भी आपने लिखीं या सम्पादित कीं।" डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने भी शुक्लजी के इति-हास के सम्बन्ध में लिखा है कि यह इतिहास वे उनके साथ लिखना चाहते थे, किन्तु शुक्लजी ने इस सम्बन्ध में विश्वासघात किया। ये बातें दोनों ही महापुरुषों के गौरव के विरुद्ध हैं।

डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी के इतिहास के पश्चात् और भी कई इतिहास निकले। उनमें डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री का हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल का आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का विकास तथा डाक्टर रामकुमार वर्मा का हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास प्रमुख हैं। डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री के इतिहास में अंग्रेजी साहित्य से तुलना की प्रवृत्ति अधिक है, उसमें भावुकता के साथ भाषा का अलंकरण भी कुछ अधिक है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है डाक्टर रामकुमार वर्मा का। इस ग्रन्थ का पहला खण्ड ही प्रकाशित हुआ है। इसमें आदिकाल और भक्तिकाल का विवेचन है। इसमें रिसर्च के विद्यार्थी की थीसिस की-सी शैली है। सभी उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है; भाव विश्लेषण की अपेक्षा आकार के विश्लेषण की ओर

अधिक प्रवृत्ति है। इसकी महत्ता इसी बात में है कि एक बड़े व्यवस्थित ढंग से शुरू किया गया है, निर्णयों की आधारभूत सामग्री सब एक स्थान में एकत्रित की गई है और निर्णय भी संतुलित है। इन सब इतिहासों को देखते हुए विषय की पूर्णता और भाव-विश्लेषण की गहराई की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। इसके पहले संस्करणों में जो नवीन कविता की उपेक्षा थी उसकी पूर्ति नवीन संस्करण में कर दी गई है। यद्यपि शुक्लजी के अपने पूर्वाग्रह और प्रिय विश्वास सूत्र हैं जिनसे वे ऊपर नहीं उठ सके हैं फिर भी उन्होंने अपने इतिहास के द्वितीय संस्करण में छायावाद के विश्लेषण में काफी ईमानदारी से काम लिया है; छायावाद के शिल्प-विधान की व्याख्या भी की है और थोड़ा-बहुत रसास्वाद करने का भी प्रयत्न किया है। इतिहास में वे कबीर आदि के प्रति भी अपेक्षाकृत मुलायम रहे हैं।

यद्यपि आचार्य शुक्लजी पर अंग्रेजी का प्रभाव काफी है तथापि उनकी कवियों की कृतियों की रसास्वादन पद्धति पूर्णतया नहीं तो अधिकांशतः भारतीय है। हिन्दी गद्य के अन्तर्गत आचार्य शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, प्रभाववादी सम्प्रदाय, कलावाद, आदि की निर्भीक आलोचना की है। इस इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उस काल के कवियों का केवल जीवनवृत्त और ऐतिहासिक विवरण ही नहीं दिया है वरन् उनकी भाषा के गुण-दोष, उनकी सूक्तियाँ और उनके भाव माधुर्य का भी उल्लेख किया है। जहाँ उन्होंने मिश्रबन्धुओं पर व्यंग्य किये हैं वहाँ अधिकांश में उनका नाम नहीं दिया है, किन्तु उनके अज्ञान के उद्घाटन में आनन्द-सा लिया है। "जो यह भी नहीं जानते कि क्रान्ति को संक्रमण (अयसक्रोन) भी कहते हैं, अच्छा साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है, मिलान पड़ाव या काम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रज-भाषा में पिछानना रूप ही आता है, खटकति का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा—यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आए तो बेचारे बिहारी का क्या दोष!"

कवियों की व्यावहारिक आलोचना के साथ सैद्धान्तिक तथ्यकथन भी चलता गया है। बिहारी की विवेचना करते हुए आचार्यजी लिखते हैं—'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस-धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिसमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। स्वयं शुक्लजी प्रबन्ध-काव्य की ओर अधिक झुके हैं, अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा।'

जिस प्रकार आचार्य शुक्ल तथ्यकथन में कुशल तार्किक हैं और व्यंग्य बाणों की वर्षा करने में बड़े घोर-कठोर शिकारी बन जाते हैं उसी प्रकार रसास्वादन में वे कोमल-हृदय और सरस हैं। इतिहास में स्थल-स्थल पर उनकी सरसता के उदाहरण मिलेंगे। देखिए—

'कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होने वाले रस की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिए सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनन्द

छटा अपने बन्द नेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरह-सागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार-पार नहीं मिलता।'

यद्यपि शुक्ल जी का तुलसी के प्रति अधिक आकर्षण रहा है तथापि सूर के गुणों को भी बड़ी सहृदयता के साथ देखा है। वे सूर के गुणगान में तुलसी को नहीं भूलते, किन्तु उन्होंने सूर की भी विशेषताएँ सामने लाने में कोर-कसर नहीं छोड़ी है। देखिए—

'यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।'

यद्यपि आचार्य शुक्लजी के निर्णय अधिकांश में पक्षपातशून्य हैं तथापि कहीं-कहीं वे निजी प्रभावों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। तुलसी के राजापुर के होने को सिद्ध करने में वे वकील से बन गए हैं। उनकी वकालत उनके विश्वासों की दृढ़ता की सूचक है। शुक्लजी की यही कमजोरी है और यही सबलता कि जिस बात को वे कहते हैं लगाव-लेस के साथ नहीं कहते। बेपेन्दी के लोटे की तरह न हिलते-डुलते हैं और न 'गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास' की बात करते हैं। वे ध्रुव की तरह अटल रहते हैं चाहे दूसरे पक्ष की अवहेलना का दोष उन पर लागू हो जाय। शुक्लजी ने जो इतिहास के तथ्य दिये हैं उनकी परम्परा बहुत दिनों तक चलती रहेगी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्यरूपों' के उद्भव और विकास की कहानी नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्रीहर्ष के नैषधचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर सन्तों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में इस साहित्य के वास्तविक रूप का अन्दाजा लगाने में सहायता करने योग्य बहुत-सी नई सामग्री प्रकाशित हुई है और अब आशा की जानी चाहिए कि हमारे साहित्य का रूप अधिक साफ और सुदृश्य हो सकेगा। इस विषय पर मैंने जो कुछ थोड़ा सोचा-समझा है उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ढोलामारू के दोहों के सम्पादकों ने ठीक ही कहा है कि "हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि हिन्दी के वर्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा साहित्य का उत्तर भारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"

लेकिन राजस्थान के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से है तो दूसरी ओर उसका घनिष्ठ सम्बन्ध गुजराती से है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान् उसे 'जूनी गुजराती' कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैन-कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है। श्री मोतीलाल मैनारिया ने अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में अनेक जैन लेखकों का उल्लेख किया है।

जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा का साहित्य लिखा गया उनमें बसने-

वाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर रहे थे इस बात का कोई प्रामाणिक मूल हमारे पास नहीं है। राजस्थान और बिहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा, यह तो निश्चित है। परन्तु ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक अन्दाजा लगाया जा सके। परम्पराक्रम से कुछ कवियों के नाम प्राप्त अवश्य होते हैं और क्वचित्-कदाचित् उनके नाम पर चलनेवाली पुस्तकें भी मिल जाती हैं। परन्तु बहुत कम स्थलों पर उनकी प्रामाणिकता विश्वास-योग्य होती है। इसीलिए ब्रजभाषा और अवधी, भोजपुरी आदि के पूर्ववर्ती साहित्य के काव्य-रूपों के अध्ययन के लिए हमें बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। इस विषय में संस्कृत के चरित-काव्य, कथा, आख्यायिका और चंपू रूप में लिखित रोमांस और निजन्धरी कथाएँ और ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा हमारी सहायता कर सकती हैं।

साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् १०५० (सन् ६८३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए। शुक्लजी ने इस काल के अपभ्रंश और देशभाषा-काव्य की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहास में विवेचनायोग्य समझी थीं। इनके नाम हैं—(१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता और (४) कीर्तिपताका, तथा (५) खुमान रासो, (६) बीसलदेव रासो, (७) पृथ्वीराज रासो, (८) जयचन्द्र प्रकाश (६) जयमयंक जस चन्द्रिका, (१०) परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप), (११) खुसरो की पहेलियाँ और (१२) विद्यापति पदावली। "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।"

अपभ्रंश की कुछ पुस्तकें अवश्य ऐसी हैं जिनको साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। संदेश-रासक ऐसी ही सुन्दर रचना है। प्राकृत पिंगल-सूत्रों में आये हुए कई कवियों की रचनाएँ निश्चय ही साहित्य के इतिहास में विवेच्य हैं। मिश्रबन्धु-विनोद में कुछ जैन-ग्रंथों को इस काल में रखा गया था। शुक्लजी ने उनमें से बहुत-सी पुस्तकों को विवेचनयोग्य नहीं समझा था। कारण बताते हुए उन्होंने कहा था कि इन पुस्तकों में से (१) कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, (२) कुछ नोटिस-मात्र हैं और (३) कुछ जैन-धर्म के उपदेश-विषयक हैं।

इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।

उपदेश-विषयक उन रचनाओं को जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश-मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना उचित ही है। परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के

रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और विजयपाल रासो और हम्मीर रासो की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। अस्तु।

इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्प-दन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की। हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियाद बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रय करके धर्म-भावनाओं को उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म-साधना ही रही है। जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गई हैं उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधानरूप से धर्म-बुद्धि ही रही है। काव्य-रस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं जिनमें किसी-न-किसी प्रकार धर्मभाव का संस्पर्श रहा है। धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष के टक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिये गए हैं। यदि मंगोलिया के रेगिस्तानों ने कुछ पन्ने बचा न रखे होते तो अश्वघोष के नाटकों का हमें पता भी न चलता। निस्सन्देह ग्रन्थ-संग्रह-कर्ताओं के उत्साह से भी कुछ पुस्तकों की रक्षा हुई है। 'सन्देशरासक' और 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है और ये सब मिलाकर केवल इस श्रेणी के विशाल साहित्य की सम्भावना की ओर इशारा-भर करती हैं। इनसे हम सिर्फ यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी समय इस श्रेणी का साहित्य प्रचुर मात्रा में वर्तमान था जो उनके उत्साही संरक्षकों और कद्रदानों के अभाव में लुप्त हो गया है। एक दूसरे प्रकार का लौकिक रस का साहित्य भी बचा जरूर है, लेकिन उसमें निरन्तर परि-

वर्तन होता रहा है और आज जिस रूप में वह उपलब्ध है उसकी प्रामाणिकता के विषय में सब समय आँख मूँदकर विश्वास नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनचरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हमारे आलोच्यकाल में यह प्रथा खूब बढ़ गई थी। इनमें कई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चन्द के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह। इन आश्रयदाताओं का चरित लिखते समय भी उसे कुछ धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था। रासो में कवि चन्द की स्त्री ने प्राकृत राजा के यश-वर्णन को अनुचित कहा था। उसने बताया था कि साधारण राजा का यश गाने की अपेक्षा भगवान् का यश गाना कहीं अच्छा है। इस पर कवि ने विस्तार से दशावतारचरित का वर्णन किया। जिस आकार में यह दशावतारचरित है वह सम्भवतः परवर्ती रचना है। अपने इस विश्वास का कारण मैं फिर कहीं बताऊँगा। परन्तु ऐसा लगता है कि रासोकार ने पृथ्वीराज को भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में धार्मिकता का थोड़ा-सा रंग देना चाहा था। कीर्तिलता के कवि ने भी पाठक को कुछ पुण्यलाभ का प्रलोभन दिया था—"पुरुष कहाणी हौं कहौं जसु पत्थावैं पुन्नु।" इसका कारण यही था कि काल को रूप और गति देने वाली शक्ति धर्म-भावना ही थी। धार्मिक समझे जाने वाले साहित्य को कुछ अधिक सावधानी से सुरक्षित रखा गया था, इसलिए वह कुछ अधिक मात्रा में मिलता भी है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्यरूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। 'भविसयत्त कहा' धार्मिक कथा है, पर इतना सुन्दर काव्य उस युग के साहित्य में कहाँ मिलेगा। श्री राहुल सांकृत्यायन ने उच्छ्वसित भाव से घोषित किया है कि 'स्वयंभू का रामायण हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य है।' रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या हैं? राजशेखर सूरि जैनमत के साधु थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्ददास या हितहरिवंश वैष्णव धर्म के साधु थे। राजशेखर ने नेमिनाथ का चरित वर्णन करते हुए 'नेमिनाथ फागु' लिखा था और नन्ददास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए रास-पंचाध्यायी। दोनों में ही धर्मभाव प्रधान है और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार 'राधा-सुधानिधि' में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य-बुद्धि से चलित है उसी प्रकार 'राजल देवी' की शोभा में कवित्व भी है और वह उपास्य बुद्धि से चलित भी है। कौन कह सकता है कि इस शोभा-वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्व नहीं है—

किम-किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइगोरी अइधोई अंगि चन्दनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिन्दूररेह मोतीसरि सारी॥
नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले।
मोती कुंडल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले॥
नरतिय कज्जल रेह नयणि मुँहकमलि तंबोलो।
नागोदर कण्ठलउ कण्ठि अनुहार विरोलो॥

मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला।
करे कंकण मणि-वलय चूड खलकावइ बाला॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुयएँ कडि घाघरियाली।
रिमझिमि रिमझिमि रिमिझिमिएँ पयनेउर जुयली॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किमिसि।
अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरसि॥

इस प्रकार मेरे विचार से सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य ही नहीं मानना चाहिए। परन्तु जो पुस्तकें पीछे की रचना हों या नोटिस-मात्र हों उन पर विचार ही क्या हो सकता है! शुक्लजी ने जिन पुस्तकों को प्रामाणिक रचना समझकर इस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा था, उनमें सबसे पहली खुमान रासो है जिसके कवि का नाम है दलपति विजय। तीन खुम्माण राजाओं की चर्चा करने के पश्चात् शुक्लजी इस नतीजे पर पहुँचे थे कि दलपति कवि द्वितीय खुम्माण (सम्वत् ८७० से ९०० विक्रम तक) का समसामयिक रहा होगा। यद्यपि प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने यह तो अनुमान कर ही लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा," अर्थात् यह भी सन्देहास्पद रचना है। शुक्लजी के मन में यह विश्वास था कि इसका मूलरूप पुराना होगा; परन्तु इधर पता चला है कि दलपति वस्तुतः तपागच्छीय जैन साधु शान्ति विजय के शिष्य थे। श्री अगरचन्द नाहटा ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में इन्हें परवर्ती कवि सिद्ध किया है। इधर श्री मोतीलाल मैनारिया ने अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (पृष्ठ ८७) में लिखा है कि "हिन्दी के विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल सम्वत् १७३० और १७६० के मध्य में है।"[1]

इसी प्रकार नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' के बारे में भी सन्देह प्रकट किया गया है। मैनारियाजी ने इन्हें १६वीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और दोनों नरपतियों की रचनाओं की एकरूपता दिखाने के लिए उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं वे हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं हैं।

शुक्लजी ने भी लिखा था कि "नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा (बीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषित-पतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्य-ग्रन्थ नहीं है, केवल गाने के लिए रचा गया था तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।" इस प्रकार शुक्लजी को यह ग्रन्थ बहुत अधिक ग्रहणीय नहीं मालूम हुआ था। पुराना होने का गौरव पाने के कारण ही यह उनकी विवेचना का विषय बन सका था। अब इसका यह गौरव भी छिन गया है। इसकी "भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में बहुत कुछ फेर-फार होता आया

1. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४, अंक ४, पृष्ठ ३८१—३९८

है, पर लिखित रूप में सुरक्षित रहने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत-कुछ बना हुआ है," यह शुक्ल जी का विचार है; पर अब उलटी बात मालूम हुई है। भाषा में, प्रचलित चारणरीति के अनुसार, कुछ पुरानापन देने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार हम्मीर रासो को नोटिस-मात्र समझा जा सकता है। शिवसिंह-सरोज में चन्द कवि के प्रसंग में कहा गया था कि "इन्हीं की (चन्द की) औलाद में शार्ङ्गधर कवि थे जिन्होंने हम्मीर गयरा (रासो ?) और हम्मीर-काव्य भाषा में बनाया है।" (शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३५०) सम्भवतः इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस काव्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान किया था। प्राकृत-पैंगलम् उलटते-पलटते उन्हें कई पद्य छन्दों के उदाहरणों में मिले, फिर तो उन्हें "पूरा निश्चय हो गया कि ये पद्य असली हम्मीर रासो के ही हैं।" क्यों और कैसे यह निश्चय हुआ, इसका कोई कारण शुक्लजी ने नहीं बताया। तब से अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इन छन्दों को निश्चित रूप से असली हम्मीर रासो के छन्द माना जाने लगा है। मजेदार बात यह है कि पं० राहुल सांकृत्यायन ने इन्हीं कविताओं को अपनी 'काव्य-धारा' में जज्जल कवि-लिखित माना है। कुछ पद्यों में स्पष्ट रूप से 'जज्जल भणइ' अर्थात् 'जज्जल कहता है' की भणिति है।

राहुलजी का यह मत प्राकृत-पैंगलम् (बिब्लियोथिका इण्डिका) में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है अर्थात् 'कवि-निबद्ध वक्तृ-प्रौढोक्ति' है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं, किसी और कवि की होगी; परन्तु वह और कवि शार्ङ्गधर ही हैं, इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था। फिर यदि प्राकृत-पिंगलम् के एक कवि के ग्रन्थ को वीरगाथाकाल का ग्रन्थ समझा जाय तो उसी ग्रन्थ में से बब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय ? प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत हिन्दी से सम्बद्ध समझकर इस काल के विषय में विचार किया जा सकता है। हमारे कहने का मतलब यह है कि या तो हम्मीर रासो को 'नोटिस' मात्र समझा जाय या प्राकृत-पिंगलम् में उद्धृत सभी रचनाओं को इस अनुमानाधारित ग्रन्थ के समान ही इस काल की प्रकृति और संज्ञा के निर्णय का उपयुक्त साधन समझा जाय। इसके अतिरिक्त एक और बात भी विचारणीय है। 'हम्मीर' नाम इस देश में किसी एक ही राजा के लिए नहीं व्यवहृत हुआ है। गजनी के तुर्क शासकों को 'अमीर' कहा जाता था। इस देश में 'हम्मीर' इसी 'अमीर' का संस्कृतायित रूप है। बुखारा का प्रथम अमीर उन्सद नवीं शताब्दी में हुआ। जब से इन अमीरों ने गजनी के ब्राह्मण राजा शाहियों को हराकर गजनी पर अधिकार किया तभी से इस देश में हम्मीर शब्द प्रचलित हो गया। गोविन्दचन्द्र ने अपनी प्रशस्तियों में 'हम्मीरं न्यस्तवैरं मुहुरथ समरक्रीडया यो विधत्ते' कहा है और उसके पुत्र विजयचन्द्र ने भी सन् ११६८ के एक दानपत्र में गर्वपूर्वक घोषणा की है कि 'हम्मीर' अर्थात् गजनी के अमीर के त्रास से समूचा भुवन दुःख की ज्वाला से जल रहा था उसे मैंने उसी की हरम की बेगमों के नयनरूपी

मेघों की धारा से शान्त किया है—'भुवन-दहन लेहा-हर्म्य-हम्मीर-नारी-नयन-जलद्-धारा-धा... भूतोपतापः।' सो, हम्मीर शब्द को किसी पद्य में आया देखकर ही यह नहीं मान लिया जा सकता कि वह चित्तौरवाले हिन्दू राजा 'हम्मीर' की ओर इशारा कर रहा है।

"भट्ट केदार ने जयचन्द-प्रकाश नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिसमें महाराज जयचन्द्र के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंकजसचन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास-कृत 'राठौडां री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है।" (पृ० ५०) अर्थात् ये दोनों भी नोटिस मात्र हैं। इन दोनों कवियों के विषय में कुछ अधिक चर्चा हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ इतना कह रखना ही उचित जान पड़ता है कि इनकी चर्चा रासो में भी मिलती है और हिन्दी की अन्य पुस्तकों में भी कुछ चर्चा मिल जाती है। ये गोरी के दरबार के कवि बताये गए हैं। इसी प्रकार "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में प्रचलित सुनाई पड़ते हैं।"[1] (पृ० ५१) सो यह भी नोटिस मात्र से कुछ अधिक दाम का नहीं। चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है। इसके विषय में विस्तार से हम फिर विचार करेंगे। अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीर-गाथाकाल रखा गया है उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है। राजस्थानी साहित्य के विद्वान् विवेचक श्री मोतीलाल मैनारिया ने कुछ झुँझलाकर लिखा है कि "इन ग्रन्थों को प्राचीन बतलाते समय एक दलील यह दी जाती है कि इनके रचयिताओं ने इनमें सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, और इससे उनका अपने चरित्र-नायकों का समकालीन होना सिद्ध होता है। परन्तु यह भी एक भ्रान्ति है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करने वाले कवि समसामयिक ही हों। यह तो काव्यरचना की एक शैली मात्र है। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य का रूप देने के लिए कवि प्रायः ऐसा किया करते हैं। अनेक ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके कर्ता समकालीन न थे, पर जिन्होंने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। राजस्थान में चारण-भाट आज भी जब प्राचीनकाल के वीर-पुरुषों पर ग्रन्थ तथा फुटकर गीत आदि लिखते हैं, तब वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। बारहठ केसरिसिंह-कृत 'प्रताप-चरित्र' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जो सं० १९६२ में लिखा गया है।"[2]

---

१. यद्यपि जगनिक के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है तथापि अनुमान से समझा जा सकता है कि इस कवि ने यदि 'आल्हाखण्ड' की रचना कभी की भी हो तो वह रचना बुन्देलखण्ड की सीमा के बाहर बहुत दीर्घकाल तक अपरिचित रही। यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने इस अत्यन्त लोकप्रिय गीतपद्धति को राममय करने का प्रयास क्यों नहीं किया। लेकिन यह नकारात्मक दलील हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य (पृष्ठ ८१)

आज से कोई बारह वर्ष पूर्व मैंने कहा था कि राजपूताने में प्राप्त कुछ काव्य-ग्रन्थों के आधार पर इस काल का कोई भी नामकरण उचित नहीं है। उस समय मेरा विश्वास था कि जिन ग्रन्थों के आधार पर उक्त काल का नामकरण किया गया है वे अधिकांश प्रामाणिक हैं। आज लग रहा है कि इनमें से कई की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और कई नोटिस मात्र हैं। रही राजपूताने के साहित्य की बात, सो उसके विषय में मैनारिया जी का यह मत उल्लेख योग्य है—"इसके अतिरिक्त ये रासो-ग्रन्थ जिनको वीर-गाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीर-गाथाकाल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समयविशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते, केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है, और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो वीर-गाथाकाल राजस्थान में आज भी ज्यों-का-त्यों बना है। क्योंकि राजा-महाराजाओं अथवा उनके पूर्वजों की कीर्ति के ग्रन्थ आदि लिखने का काम ये लोग आज भी उसी उत्साह के साथ कर रहे हैं, जिस उत्साह से पहले किया करते थे। परन्तु राजस्थान के वातावरण तथा इन जातियों से अपरिचित लोगों का यह बात समझ लेना कुछ कठिन है।" ('राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृ० ८१)

स्पष्ट ही हमारे आलोच्यकाल के आरम्भ में इस भाषा का बहुत ही विशाल साहित्य वर्तमान था। साधारणतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना जाता है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १०५० से १३७५ तक के काल को इस काल की सीमा मानी थी। जब तक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रखकर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती तब तक हम इस साहित्य का ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते। केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न बहुत उचित है और न बहुत हितकर।

इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अवधी और ब्रजभाषा-क्षेत्र में उत्पन्न और वहीं की भाषा बोलनेवाले लोगों ने किस प्रकार के साहित्य की रचना की थी जिसका परवर्ती विकास अवधी और ब्रजभाषा के साहित्यिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के भीतर इन क्षेत्रों में कोई रचना हुई भी हो तो उसका प्रामाणिक रूप हमें प्राप्त नहीं। हमें पार्श्ववर्ती प्रदेशों से प्राप्त साहित्यिक सामग्री के आधार पर तथा पूर्ववर्ती रचनाओं के काव्य-रूपों को देखकर अनुमान द्वारा उस साहित्य-रूप का अन्दाजा लगाना पड़ता है। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह अन्दाजा यथासम्भव ठीक हो। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हिन्दी का साहित्य ही इस काल में इस प्रकार के दुर्भाग्य का शिकार बना। केवल गुजराती और राजस्थानी इस विषय में कुछ अधिक सौभाग्यशालिनी हैं, नहीं तो लगभग सभी प्रान्तीय साहित्यों की यह कहानी है। जब तक प्रत्येक प्रदेश से प्राप्त सामग्री का व्यापक अध्ययन नहीं किया जाता तब तक सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक रूप अस्पष्ट ही बने रहेंगे। इसीलिए इस काल के साहित्य-रूप के अध्ययन के लिए प्रत्येक श्रेणी की पुस्तक का कुछ-न-कुछ उपयोग है। पुस्तक चाहे धर्मोपदेश की हो, वैद्यक की हो, माहात्म्य की हो, वह कुछ-न-कुछ साहित्य-रूप को स्पष्ट करने में अवश्य सहायता पहुँचायगी। इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासम्भव व्यापक बनाकर देखना चाहिए।

यहाँ तक कि इस काल में उत्पन्न महात्माओं और कवियों के नाम पर चलने वाली और परवर्ती काल में निरन्तर प्रक्षेप से स्फीत होते रहने वाली पुस्तकों का भी यदि धैर्यपूर्वक परीक्षण किया जाय तो कुछ-न-कुछ उपयोगी बात अवश्य हाथ लगेगी। न तो हमें परम्परा से प्रचलित बातों को सहज ही अस्वीकार कर देना चाहिए और न उनकी परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण ही कर लेना चाहिए। इस अन्धकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती ही है।

परन्तु प्रश्न यह है कि इस काल में आज के हिन्दी-भाषी कहे जाने वाले क्षेत्र की देशी भाषा में लिखित कोई पुस्तक अपने मूल रूप में क्यों नहीं प्राप्त होती। इसका कोई-न-कोई ऐतिहासिक कारण होना चाहिए।

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (२) सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि की पुस्तकालयों में शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्म-सम्प्रदाय का संरक्षण उसके बाद ही आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं वे बदलती रही हैं। जनता को उनके 'शुद्ध रूप' से कोई मतलब नहीं था, आवश्यकतानुसार उसमें काट-छाँट भी होती रही है, परिवर्तन-परिवर्धन भी होता रहा है और इस प्रकार लोकरुचि के साँचे में ढलते हुए उन्हें जीवित रहना पड़ा है। आल्हा काव्य इसी प्रकार लोकचित्त की चंचल सवारी पर चलता आया है। यह बता सकना कठिन है कि उसका मूल रूप कैसा था। परन्तु वह जनता को प्रिय था, उसके सुख-दुख का साथी था और अपने इस महान् गुण के कारण वह जनता की प्रीति पा सका और जीवित रह गया। उसके समवयस्क काव्य वह प्रीति नहीं पा सके और अपना शुद्ध रूप लिये हुए अस्त हो गए।

देशी भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें जैन-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भाण्डारों में सुरक्षित रह गई हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया है। कुछ पुस्तकें बौद्ध-धर्म का आश्रय पाकर और बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं जो आगे चलकर हिन्दुस्तान के बाहर पाई जा सकी हैं। परन्तु जो पुस्तकें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नरेशों के संरक्षण से बची हैं वे अधिकांश संस्कृत में हैं। इस श्रेणी की रचनाएँ मिलती अवश्य हैं पर हमारे आलोच्य काल के देशी भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में उनसे कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। इस उपेक्षा का कारण क्या है? यह कहानी सुनने योग्य है।

श्रीहर्षदेव के शक्तिशाली साम्राज्य के टूट जाने के बाद भी कान्यकुब्ज का गौरव बना रहा! उनके सेनापति भण्डि और उनके वंशजों ने कान्यकुब्ज पर कुछ दिनों तक शासन किया। नवीं शताब्दी के आरम्भ में उनकी शक्ति क्षीण हो गई, परन्तु राजलक्ष्मी फिर भी कान्यकुब्ज को छोड़ने को तैयार नहीं थी। पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतीहार इस राजलक्ष्मी

को अपनी गृहलक्ष्मी बनाने का प्रयत्न करते रहे। पर नवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रतिहारों को ही कान्यकुब्ज को अधिकृत करने का गौरव प्राप्त हुआ। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक कान्यकुब्ज के प्रतिहार बड़े शक्तिशाली शासक रहे। भारतवर्ष की केन्द्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों रही।

जिस काल के साहित्य की चर्चा हम कर रहे हैं उस काल का मध्यदेश बहुत अधिक विक्षुब्ध था। यदि उस समय का कोई साहित्य नहीं मिलता तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। हमने पहले ही विचार किया है कि साहित्य के रक्षित रहने के तीन साधनों में से सबसे प्रबल और प्रमुख साधन है राजाश्रय। गाहड़वार राजाओं के विषय में कई प्रकार के विश्वास विद्वानों में प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हें दक्षिण से आया हुआ बताते हैं और कुछ लोग पश्चिम से। इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आये थे और बाहर से आने वाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास भी करते रहे। बहुत दिनों तक इस दरबार में देशी भाषा के साहित्य को कोई प्रश्रय नहीं मिला। वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को इन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार गौड़ (बंगाल) देश के पाल, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे वैसा इस दरबार में नहीं हुआ। इस उपेक्षा का एक कारण तो यही जान पड़ता है कि ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाए थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्यदेश में जिस संरक्षणशील धार्मिक विचारधारा की प्रतिष्ठा थी उसमें संस्कृत-भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण-व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटे रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन रहा हो।

उक्तिव्यक्तिप्रकरण के रचयिता दामोदर भट्ट प्रसिद्ध गाहड़वार राजा गोविन्दचन्द्र के सभा-पण्डित थे। ऐसा अनुमान किया गया है कि यह पुस्तक राजकुमारों को काशी-कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने के उद्देश्य से लिखी गई थी। यदि यह अनुमान सत्य हो तो मानना पड़ेगा कि इन राज-कुमारों को घर में किसी और भाषा के बोलने की आदत थी। अर्थात् गाहड़वार बाहर से आये थे। परन्तु यहाँ से इस वंश में देशी भाषा की ओर झुकने की प्रवृत्ति आई थी, यह भी पर्याप्त स्पष्ट है।

ऐसा जान पड़ता है कि दो सौ वर्षों तक काशी में और कान्यकुब्ज में राज्य करने के कारण गाहड़वाल नरेश काशी और कान्यकुब्ज की भाषा समझने लगे थे और शुरू-शुरू के गाहड़वालों में अपने को स्थानीय जनता से विशेष और भिन्न समझने की जो प्रवृत्ति थी वह कम होने लगी थी। गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदर भट्ट ने राजकुमारों को काशी की भाषा सिखाने का प्रयत्न किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि राजकुमार अब अपने को इसी प्रदेश के लोगों में से समझने लगे थे और धीरे-धीरे देशी भाषा को भी इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा था। दुर्भाग्यवश जयचन्द्र के साथ ही इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति दोनों का अन्त हो गया।

प्रकृत प्रसंग यह है कि गाहड़वाल राजा शुरू-शुरू में अपने को इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय

नहीं दे सके और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था वहाँ तक का कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे, किन्तु तब तक दुर्भाग्य का प्रहार हुआ और संपूर्ण उत्तरी भारत विदेशी शासन से आक्रान्त हो गया। इन नये शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

गाहड़वालों के शासनकाल में समूचा हिन्दी-भाषी क्षेत्र स्मार्तमतानुयायी था। उनका प्रभाव जब क्षीण हो गया और अजमेर, कालिंजर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए तब भी स्मार्तमत ही प्रबल रहा। इस समय शैवमत का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गई थी। शैवमतानुयायी नाथयोगियों, रसेश्वरमत के माननेवाले रस-सिद्धों और मंत्र-तन्त्र में विश्वास करनेवाले शाक्ति-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था। उन दिनों के साहित्य में इनकी बड़ी चर्चा आती है, परन्तु जैनों की भाँति इन शैव-साधकों के संगठित मत नहीं थे और देशी भाषा पर विशेष अनुराग भी नहीं था। फिर इनके उपदेश में साधारण जनता के संबंध में बड़ी अवज्ञा का भाव है। वे इन अधम जीवों को भय ही दिखाते थे। चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भरमते रहनेवाले, काम-क्रोध के कीड़े, मायापंक में आपाद-मस्तक डूबे हुए, अज्ञानी जीव केवल घृणा करने और तरस खाने के पात्र माने जाते थे। गृहस्थ इन योगियों से डरता था। इब्न-बतूता ने ग्वालियर-कालिंजर में इन योगियों को देखा था। उन दिनों लोग इनसे भयभीत थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि ये आदमियों को खा जाते हैं। इस प्रकार जनता के प्रति अवज्ञा और घृणा का भाव रखनेवाले लोग लोकभाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक-मनोहर हो नहीं सकता। कुछ थोड़ी-सी रचनाएँ इन योगियों की मिल जाती हैं; पर एक तो उन्हें जन-पुस्तकों के समान संगठित भाण्डारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं। इनकी रक्षा का भार संप्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के हाथों रहा। उन्होंने इन रचनाओं को प्रमाणित रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो कुछ भी साहित्य बचा है वह केवल इस बात की सूचना दे सकता है कि वह किस श्रेणी का रहा होगा और उसकी प्राणवस्तु कैसी थी। परवर्ती साहित्य में इन योगियों का उल्लेख दो प्रकार से आया है—(१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकर के रूप में और (२) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खण्डनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में। दोनों ही बातें इनके प्रभाव की सूचना देती हैं।

दुर्भाग्यवश जिन सम्प्रदायों ने इस रहस्यात्मक साहित्य की सृष्टि की थी उनकी परम्परा उनके सम्प्रदाय के रूप में नहीं जी सकी और उनके साहित्य का लोप हो गया। पूर्वी प्रदेशों में थोड़ा-बहुत वह इसलिए रक्षित रह गया कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक वहाँ उक्त धर्ममत संगठित संप्रदाय के रूप में जीता रहा। नेपाल आदि प्रदेशों से ही कुछ अल्पमात्रा में इन रहस्यात्मक गीतों का उद्धार किया जा सका है। उत्तर भारत का धर्ममत नवीन सम्पर्क और नवीन प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप बराबर अपनी पुरानी परम्परा पर कुछ अधिक दृढ़ता के साथ डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहाँ संस्कृत की और ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। इस प्रकार न तो हमें इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता लगता है जो राजरक्षित हो और न ऐसे ही साहित्य का जो संघटित सम्प्रदाय द्वारा सुरक्षित

हों। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ बचा रहा वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-बढ़कर क्वचित्-कदाचित् मिल जाता है।

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के अरक्षित रह जाने की यही कहानी है। जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई कि उसके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है। कुछ जो ठीक से सुरक्षित हुई हैं उनके आधार पर कुछ अनुमान किए जा सकते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से काव्य-रूपों का अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है।

परशुराम चतुर्वेदी

सन्त-काव्य की परम्परा

: १ :

सन्त कबीर साहब ने जब अपनी बानियाँ रचीं उस समय काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रचार कम न था। निपुण कवि शिष्ट समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और उन्हें सामन्ती दरबारों में बहुधा आश्रय भी मिला करता था। यशोलिप्सा और अर्थ-प्राप्ति की प्रेरणा से वे नवीन कलाकौशल दिखलाते जाते थे और काव्यकला-सम्बन्धी नियमों का नित्यशः विस्तार भी होता जा रहा था। फलतः सत्यकाव्य की परीक्षा का मानदण्ड उस समय उक्त नियमों का अक्षरशः पालन तथा एक विशिष्ट वर्ग द्वारा उसका अनुमोदन ही समझा जा रहा था। कबीर साहब के वरीय समसामयिक विद्यापति कदाचित् उस समय तक अपनी 'पदावली' का निर्माण कर चुके थे। वे संस्कृत कवि जयदेव के प्रसिद्ध काव्य 'गीत गोविन्द' के आदर्शों पर लिखते थे और 'अभिनव जयदेव' तक कहलाकर प्रसिद्ध थे। उन्हें अपनी भाषा-शक्ति का गर्व था। उन्हें इस बात में दृढ़ विश्वास था कि मेरा काव्य केवल अपने भाषा-सौन्दर्य के बल पर भी उच्च स्तर के लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेगा और इस बात को उन्होंने अपनी अपभ्रंश रचना 'कीर्ति-लता' के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया था। उनका कहना था—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ईणिच्चइ नाअर मन मोहइ॥[१]

अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा और मेरी भाषा दोनों एक समान सुन्दर हैं, जिस कारण दुर्जन लोग इनकी हँसी नहीं उड़ा सकते। वह (चन्द्रमा) शंकर भगवान् के शिर पर शोभित होता है और यह (मेरी भाषा) सदा नागरिकों का मन मोह लिया करती है। विद्यापति न केवल भाषा के सौन्दर्य को ही महत्त्व देते थे, अपितु वे उसकी सरसता को भी काव्य की प्रशंसा का आवश्यक आधार मानते थे। उक्त पंक्तियों के अनन्तर उन्होंने यह भी बतलाया था कि 'यदि मेरी भाषा सरस होगी तो जो कोई भी उसे समझ सकेगा वही उसकी प्रशंसा करेगा।' तथा, 'जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता है उसी प्रकार केवल कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है।'[२] वास्तव में उस समय किसी काव्य की भाषा के सौन्दर्य और उसकी सरसता के ही कारण उसे, कदाचित् 'गीत' की संज्ञा दी जाती थी और वह 'पद' भी कहा जाता था।

कबीर साहब ने अपनी बानियों की रचना इससे भिन्न धारणा के साथ की। उनका

---

१. **'कीर्तिलता' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ४**

२. **"जो सुरसइ होसइ मझु भासा, जो बुज्झिह सो करिह पसंसा॥" तथा "महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्व कलाउ छइल्ल॥" (की० ल०) पृ० ४**

सिद्धान्त बहुत कुछ उन पंक्तियों से सूचित होता है जो उनके एक पद के अन्तर्गत इस प्रकार आती हैं। वे कहते हैं—

तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ॥[1]

अर्थात् मेरे इस पद को तुम किसी साधारण गीत के रूप में न देखो। इसमें मेरा अपना 'ब्रह्म-विचार' निहित है। इसमें मैंने अपनी आत्मसाधना का सार भरकर उसे अपने शब्दों द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है। उन्होंने 'ब्रह्मविचार' को भी अपनी एक पंक्ति में 'आप-ही-आप विचारिये, तब केता होइ अनन्द रे' कहकर स्पष्ट कर दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वे अपनी इस प्रकार की रचना को अपनी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप में देखते हैं। अपनी वानियों की रचना का उद्देश्य वे किसी 'नाअर मन' को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कव्व कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते जैसा विद्यापति ने बतलाया है। वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि 'यदि मैं अपनी साखियों की रचना करूँगा तो, सम्भव है कि उससे प्रेरणा पाकर भवसागर में पड़े हुए दुःख सहने वाले लोगों को उसके पार तक पहुँच पाने का एक अवसर मिल जाय।'[2] कबीर साहब की अनेक साखियों में भी उक्त अभिव्यक्तिपरक पंक्तियों के उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जिस कारण 'साखी' शब्द यहाँ पर उनकी 'वानी' की ही भाँति साधारण कविता का भी बोधक हो सकता है। कबीर साहब किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य-रचना को कोरा 'कविकर्म' समझते हैं और उसमें सदा व्यस्त रहने वाले कवियों को 'कविता करते-करते व्यर्थ ही मर जाने वाले''[3] तक कह डालते हैं। कबीर साहब के इन संकेतों द्वारा हमें सन्त-काव्य के उस आदर्श का पता चल जाता है जिसका अनुसरण अन्य सन्तों ने भी किया।

कबीर साहब का आविर्भाव भक्तिकाल के आरम्भ में ही हुआ था। इनके पीछे सूफ़ी काव्य एवं वैष्णव भक्ति-काव्य के भी उत्कृष्ट उदाहरण मिलने लगे और उनके जायसी, सूर एवं तुलसी जैसे रचयिताओं ने 'महाकवि' की पदवी पाई। इनमें से जायसी (मृ० सं० १५९६) ने प्रबन्ध-काव्य की एक विशिष्ट रचना-पद्धति को अपनाया और अपने 'हिअ भण्डार' की 'पूँजी' को 'सुरस पेम मधु भरी' बोली के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष कर सत्कवियों में गिने जाने की ही उन्होंने अभिलाषा प्रकट की। उन्हें अपने काव्य को शुद्ध और सुव्यवस्थित रूप देने की इतनी चिन्ता थी कि 'खाकसारी' के आवेश में उन्होंने अपने को कवियों का 'पछिलगा' बतलाया और उसके साथ ही 'पंडितों' अर्थात् काव्य-कलाभिज्ञों से अपनी त्रुटियों को सुधारने की प्रार्थना भी की।[4] इसके सिवाय उनकी 'पद्मावत' की कुछ अन्तिम पंक्तियों से यह भी सूचित होता है कि उन्होंने उस प्रेमगाथा को यशोपार्जन के लिए लिखा था। उन्होंने उसमें स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ८९ (पद ५)
२. "हरिजी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर ॥" —(क० ग्रं०) पृ० ५६
३. "कवि कवीनैं कविता मूये"—(क० ग्रं०) पृ० १९५, पद ३१७
४. 'जायसी ग्रन्थावली' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग) पृ० १३५

केहु न जगत जस बेंचा, केहु न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरै दुइ बोल ॥[१]

अर्थात् मैंने यह कविता अपने मन में यह समझ-बूझकर लिखी कि यह मेरे लिए इस जगत् में एक स्मारक का काम देगी। कौन इस संसार में ऐसा है जिसने यश का विक्रय नहीं किया अथवा जिसने इसे कभी मोल नहीं लिया; मुझे विश्वास है कि जो इस कहानी को पढ़ेगा वह मेरी प्रशंसा में दो शब्द अवश्य कह देगा।

जायसी को जितनी चिन्ता अपनी कविता के शुद्ध एवं निर्दोष सिद्ध करने की थी उससे कम उसके विषय को लोकप्रिय भी बनाने की नहीं थी।

सूरदास (मृ० सं० १६४०) ने बहुत कुछ विद्यापति के अनुकरण में अपना काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित किया। परन्तु उनका उद्देश्य 'सगुण लीलापद' का भी गाना रहा जिस कारण उनकी पंक्तियों में विद्यापति अथवा जयदेव से अधिक भक्तिरस का भी समावेश था और उनकी रचनाएँ भाषा-लालित्य के साथ-साथ भावगाम्भीर्य के लिए भी समादृत हुईं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास (मृ० सं० १६८०) ने भी अपनी कृतियों का निर्माण भक्तिभाव से ही प्रेरित होकर किया और उनमें प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक पदों के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। परन्तु उनके 'रामचरित मानस' की कुछ पंक्तियों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि वे उस रचना की प्रसिद्धि भी चाहते हैं।[२] जायसी की भाँति ही उन्होंने अपने को पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करने वाला कहा है और प्रायः विद्यापति के ढंग से उस अपनी रचना को 'बुधों' द्वारा अपनाये जाने की अभिलाषा प्रकट की है। उनका यह निश्चित सिद्धान्त-सा जान पड़ता है कि

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम वादि बाल कवि करहीं ॥[३]

किन्तु वे अपनी कृति के लिए 'साधु समाज भनिति सनमानू' की इच्छा रखते हुए भी विद्यापति की भाँति अपनी भाषा के सौन्दर्य तथा उसकी सरसता की प्रशंसा नहीं करते और न उसका आश्रय लेते ही जान पड़ते हैं। उनका कहना है कि

जदपि कवित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि मांही ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ॥[४]

और वे 'स्वान्तः सुखाय' के साथ-साथ 'सब कहँ हित' की भी चर्चा करते हैं, गोस्वामी तुलसीदास के कथनों में वस्तुतः सभी उपर्युक्त बातें पाई जाती हैं, किन्तु उनका 'निज कवित्त केहि लागन नीका' का मोह छूटा हुआ नहीं प्रतीत होता और वे रह-रहकर 'कवित दोष गुन विविध प्रकारा' जैसे विभिन्न प्रसंग भी छेड़ा करते हैं जिस कारण उन्हें भी काव्य कलाभिज्ञों का ही कवि कहना कदाचित अनुचित न होगा।

परन्तु इन महाकवियों के प्रायः समकालीन समझे जाने वाले सन्तों के भी विषय में हम

१. वही, पृ० २२२
२. रामचरित मानस' (बाल कांड) "प्रियलागिहि अति सबहि मम, भनिति राम जस संग" इत्यादि। (साहित्य कुटीर, प्रयाग) पृ० ८
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० ८

ऐसा नहीं कह सकते। सन्त दादूदयाल (मृ० सं० १६६०) ने अपने सम्बन्ध में एक स्थल पर[1] कहा है कि "अपने प्रेमास्पद से मिलने की मेरी अभिलाषा बहुधा इतनी तीव्र हो जाती है कि मेरा मन उसमें रात-दिन रमने लगता है और मैं अपने विरह की पीर का गान, एक पक्षी की भाँति आप-से-आप करने लग जाता हूँ" और वे इस बात का स्पष्टीकरण वहाँ पर कई अन्य पंक्तियों द्वारा भी करते हैं। उन्हें उस समय न तो कवि जायसी के ढंग से कोई प्रेम कहानी कहने लगने को जी चाहता है, न वे सूर की भाँति 'सगुण लीला पद' गाते हैं और न तुलसी के अनुकरण में अपने 'राम' के चरित का आधार लेकर किसी प्रबन्ध की रचना में ही प्रवृत्त होते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि मेरी पंक्तियों की रचना काव्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार हो रही है कि नहीं अथवा उनकी सराहना 'पण्डित' लोग करेंगे वा नहीं। उन्हें उनके निर्माण के आधार पर यश पाने की भी आशा नहीं और न वे उन्हें गा-गाकर तर जाने का ही मनोरथ रखते हैं। इस प्रकार की बातें उनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं और न इसी कारण वे इनकी ओर ध्यान देना आवश्यक ही समझते हैं। वे केवल कबीर का-सा 'साचा सबद' पसन्द करते हैं जिसमें उन्हें मिठास भरी जान पड़ती है और जिसे वे सुनकर भी आनन्दित होते हैं।[2]

कबीर साहब और दादूदयाल केवल अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति थे और उनके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी कहा जा सकता था, किन्तु सन्त सुन्दरदास (मृ० सं० १७४६) जैसे पण्डित और निपुण कवि के विचार भी इससे भिन्न नहीं थे। वे कहते हैं—

नखशिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीकौ लग्गै।
अंगहीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अक्षर घटि-बढ़ि होइ बुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटै बढ़ि कोइ मनौ मतवारौ हल्लै॥
औढेर काण से तुक अमिल, अर्थहीन अंधो यथा।
कहि सुन्दर हरि जस जीवहै, हरि जस बिन मृत कहि तथा॥[3]

अर्थात् काव्य सर्वांग सुन्दर होने पर पढ़ने में बहुत अच्छा लगता है और यदि अंगहीन हो तो उसे सुनते ही कविजन भाग खड़े होते हैं। बात यह है कि अक्षरों की न्यूनाधिकता के कारण वह लुढ़कता हुआ चलता है, मात्रा की घटी-बढ़ी में वह मतवाला-सा लगता है और बेमेल तुकों की कविता ऐंची कानी हो जाती है तथा अर्थहीन होने पर अन्धी-सी लगती है। परन्तु फिर भी ये सभी उसके शारीरिक अथवा बाह्य दोष ही कहे जा सकते हैं। काव्य का प्राण 'हरियश' है और उसके बिना वह शवतुल्य कहा जा सकता है। इसी कारण सन्त सुन्दरदास ने उस काव्य की घोर निन्दा की है जो सर्वांग सुन्दर होने पर भी शृङ्गार जैसे रसों द्वारा प्रभावित होता है। सुन्दरदास के समय तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास का उपर्युक्त भक्तिकाल समाप्त हो चुका था और उसके रीतिकाल का आरम्भ भी हो चुका था। उस समय तक

---

१. **"ऐसो प्रीति प्रेम की लागै, ज्यूँ पंषी पीव सुनावैरे।**
त्यूँ मन मेरा रहै निसवासुरि, कोइ पीव कूँ आंणि मिलावैरे॥"
—दादूदयाल की वाणी (अजमेर) पृ० ४१७

२. **वही, साखी ३४, पृ० २७६**

३. **'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड) पृ० ६७२**

कवि केशवदास (मृ० सं० १६७४) अपनी 'रसिक प्रिया' लिख चुके थे, नन्ददास (मृ० सं० १६३६) 'रसमंजरी' की रचना कर चुके थे और सुन्दर नाम के एक ग्वालियर निवासी कवि उसी विषय पर अपना 'सुन्दर शृङ्गार' नामक ग्रन्थ भी, सं० १६८८ में, तैयार कर चुके थे। सन्त सुन्दरदास ने दो कुण्डलिया लिखकर इन तीनों रचनाओं के शृङ्गारपूर्ण काव्य की निन्दा खुले शब्दों में की और इन्हें अनिष्टकर बतलाया।[1] इन्होंने उक्त 'हरिजस' शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की, किन्तु सन्तों के मन्तव्यानुसार, उसका स्वरूप कदाचित् 'हरिरस' व 'रामरस' से भिन्न नहीं हो सकता। सन्त सुन्दरदास ने, एक निपुण कवि होने के नाते, काव्य के बाह्य रूप की ओर भी पूरा ध्यान दिया और उसके लक्षणादि तक की चर्चा की, किन्तु कविता के विषय अथवा भाव पर अपने समय का उन्होंने कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया और वे सन्त-काव्य ही लिखते रह गए।

: २ :

इस प्रकार सन्त काव्य की जो परम्परा कबीर साहब के समय से चल निकली वह उस स्वतःप्रसृत निर्भर के समान आगे बढ़ी जो किसी मूल स्रोत से आप-से-आप निकलकर सदा अग्रसर होता चला जाता है। उसका मार्ग किसी नहर का-सा बना बनाया नहीं रहा करता और न उसके दाहिने-बायें कोई कृत्रिम करारों की बाधाएँ ही खड़ी रहती हैं। सन्त-काव्य का आरम्भ पहले बानियों अथवा पदों एवं साखियों के ही रूपों में हुआ था, किन्तु वह पीछे अन्य प्रकार से भी छन्दोबद्ध होकर दीख पड़ा। फिर भी उसकी मौलिक विशेषताएँ प्रायः ज्यों-की-त्यों बनी रह गईं और उनमें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं लक्षित हुआ। उसका प्रमुख उद्देश्य आत्म-प्रकाशन का ही बना रह गया। उसके कवियों ने लगभग सदा केवल मुक्तकों को ही अपनाना पसन्द किया और अपनी कथन-शैली में उन्होंने पिंगल, भाषा, व्याकरण, रस, अलंकारादि-सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा भी की। यह परम्परा अभी आधुनिक युग तक लगभग एक ही ढंग से चली आई है किन्तु शुद्ध भावप्रधान काव्य की उसमें कभी कमी नहीं रही, सन्त कवियों में कबीरसाहब, नानक, रैदास, दादू, रज्जब, सुन्दरदास, धरणीदास, तेगबहादुर, पलटू तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष भी हुए जिनकी रचनाओं में हमें उत्कृष्ट काव्य के अनेक उदाहरण सरलतापूर्वक मिल सकते हैं। इन्होंने अपने-अपने युगानुसार केवल विविध छन्दों तक को ही अपनाया और एकाध ने छोटे-छोटे प्रबन्ध-काव्य तथा प्रेमगाथाओं तक के निर्माण की चेष्टा की और कतिपय गीत भी गाये। परन्तु सूफी काव्य, वैष्णवभक्ति-काव्य, शृंगार-काव्य अथवा प्रेमसाधना वाले प्रसिद्ध कवियों के उन्मुक्त हृदयोद्गारों तक का प्रभाव उन्होंने अपने विषय पर नहीं पड़ने दिया और वे सदा अपने ही रंग में रंगे रहकर पद्य-रचना करते चले आए।

इसमें सन्देह नहीं कि इस परम्परा का एक अस्पष्ट रूप कबीर साहब के पहले से भी विद्यमान था। उनके आविर्भाव काल (विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के सम्भवतः द्वितीय चरण से लेकर उसके कुछ पीछे तक) के पहले से ही नामदेव, त्रिलोचन और साधना जैसे सन्त लगभग इसी प्रकार की रचना करते आ रहे थे और बहुत से विद्वानों का अनुमान है कि स्वयं गीत-गोविन्दकार जयदेव तक ने कुछ ऐसे पद लिखे थे जिनमें से दो 'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत हैं,

१. सुन्दर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड) पृ० ४३६-४०

परन्तु उनकी रचनाओं में अभी तक वह भावगाम्भीर्य नहीं आ पाया था जो सर्वप्रथम कबीर साहब की बानियों में दीख पड़ा। वास्तव में सन्तों की 'निर्गुण' साधना का अभी तक वह रूप ही नहीं निखर पाया था जिससे उनके परवर्ती सन्तों ने अपने लिए पीछे प्रेरणा ग्रहण की। नामदेव की रचनाओं पर अभी तक वारकरी सम्प्रदाय भी विट्ठलोपासना का ही पूरा रंग चढ़ा जान पड़ता है। उनमें सन्तों की सहज भाव का कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता और न उनकी गहरी स्वानुभूति ही लक्षित होती है। सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्वरूप हमें नाथपन्थियों की 'सबदियों' तथा 'जोगेसुरी बानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी लगभग एक ही ढंग के हैं। नाथ-पन्थियों के भी कुछ पहले जैन और बौद्ध सिद्ध हुए थे जिन्होंने दोहों और पदों की रचना की थी। उन्होंने सम्भवतः नाथपन्थियों को ऐसी रचनाओं के आदर्श प्रदान किए थे तथा एक विलक्षण वर्णन-शैली की पद्धति भी चलाई थी। बौद्ध सिद्ध सहजभान के अनुयायी थे और वे पूर्व प्रचलित तन्त्र-साधना से भी भलीभाँति परिचित थे। उनकी कथन-शैली में स्वच्छन्दता थी, स्पष्टवादिता थी और एक ऐसे व्यंग का भी पुट रहा करता था जो श्रोताओं के ऊपर सीधी चोट पहुँचाता था। सन्तों ने सांसारिक विडम्बनाओं के विषय में कथन करते समय उसे पूर्ण रूप से अपनाया। इन्होंने सिद्धों, मुनियों एवं नाथपन्थियों की भाँति सर्वजन सुलभ प्रतीकों का सहारा लेने तथा जनभाषा में ही सब-कुछ कह डालने की प्रणाली को भी अंगीकार किया। सिद्ध लोग कभी-कभी अपनी महत्त्वपूर्ण बातें एक प्रकार की 'संध्या भाषा' की शैली में भी कहा करते थे जो बहुत गूढ़ हुआ करती थी। नाथपन्थियों ने उसका प्रयोग 'उलटी चरचा' के नाम से किया और वही सन्तों के यहाँ 'उलट बासी' वा 'विपर्जय' नाम से प्रसिद्ध हुई।

सिद्धों के उक्त प्रकार के वर्णनों की शैली कम-से-कम उनके मान्य ग्रन्थ 'धम्मपदं' की रचना के ही समय से प्रचलित थी। साम्प्रदायिक भेष-धारण की आलोचना करते समय उस ग्रन्थ में एक स्थल पर ब्राह्मणों के प्रति कहा गया है—

किं ते जटाहि दुम्मेध ! किंते अजिन साटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥[1]

अर्थात् हे दुर्बुद्धि ! जटाओं से तुझे क्या लाभ है और तेरे मृगचर्म धारण करने से भी क्या होता है ? भीतर तो तेरा (रागादि मलों द्वारा) परिपूर्ण बना हुआ है और बाहर तू अपने शरीर का प्रक्षालन किया करता है। सिद्धों तथा जैन मुनियों ने भी ऐसे अवसरों पर इसी प्रकार की वर्णन-शैली का प्रयोग किया है। इसी प्रकार इनकी सन्ध्या भाषा वाली कथन-शैली का एक उदाहरण वहाँ इस प्रकार का है—

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥[2]

अर्थात् माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचर सहित राष्ट्र को मारकर ही ब्राह्मण निष्पाप हो सकता है जिसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि तृष्णा, अहंकार, आत्मादि की नित्यता का सिद्धान्त एवं जड़वाद तथा रागयुक्त उपादान पदार्थों को नष्ट करके ही कोई ज्ञानी अपने जीवन को शुद्ध बना सकता है और इस प्रकार उक्त पद्य के रचयिता ने एक महत्त्वपूर्ण बात को भी

---

१. 'धम्मपदं' (सारनाथ), पृ० १७५
२. वही, पृ० १३१

विपरीत ढंग से कहा है।

संध्या भाषा के ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण हमें वैदिक साहित्य तक में भी मिलते हैं। ऋग्वेद (१.१६४-७) में सूर्य का अपने पैरों (किरणों) द्वारा पृथ्वी के जल का पान करना तथा अपने शिर (आकाश) द्वारा उसे मेघों के रूप में लाकर बरसाना कहा गया है, जिसका वास्तविक अभिप्राय आत्मा का बाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों का रस लेना तथा उनके शिरोभाग रूप अन्तःकरण के माध्यम से ज्ञान-रस के आनन्द का अनुभव करना समझा जाता है। इसके सिवाय नाथपंथियों तथा सन्तों ने पीछे चलकर जिन शब्दों अथवा शैली में आत्मा का परिचय दिया उसके भी कुछ उदाहरण कई उपनिषदों में मिलते हैं; जैसे—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥—'ईशोपनिषद्'

अर्थात् वह आत्मा चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है और वह सबके भीतर तथा बाहर भी वर्तमान है। उस आत्मा को 'कठोपनिषद्' (२-२०) में 'अणो-रणीयान् महतो महीयान्' अर्थात् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं महान्-से-महान् भी कहा गया है तथा 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' अर्थात् बैठा हुआ भी दूर चला जाता है और सोता हुआ भी सब ओर पहुँच जाता है, बतलाया गया है। फिर 'केनोपनिषद्' (११) में भी उसीके विषय में कहते हैं।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमजानताम् ॥ ११ ॥

अर्थात् जिस किसी को वह अविदित है वही उसके रहस्य को समझता है और जो उसे जान लेता है वह उसे नहीं जान पाता। वह सम्यक् प्रकार से जानने वालों के लिए अविदित है और इस प्रकार न समझने वालों के लिए विदित रहता है। सन्तों की रचनाओं में बहुधा पाये जाने वाले रहस्यवाद की भी झलक इन उपनिषदों के अनेक स्थलों पर मिलती है, जिससे प्रतीत होता है कि उनके काव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन भी कही जा सकती है। उसके लिए काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करना उतना आवश्यक न था और न, इसी कारण, कबीर साहब आदि ने उसकी कभी चिन्ता ही की।

सन्त-काव्य की परम्परा तत्त्वतः उस काव्य-रचना पद्धति की ओर संकेत करती है जो मानव-समाज की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित है। वह किसी समय आप-से-आप चल पड़ी थी और वह उसी रूप में विकसित भी होती गई। वह उस काल से विद्यमान है जब कि भाषा के ऊपर किसी व्याकरण-शास्त्र का नियन्त्रण न था और न उसके काव्य-रूप की व्यवस्था के लिए किन्हीं छन्दो-नियमों की ही सृष्टि हो पाई थी। वह स्वभावतः स्वच्छन्द रूप में ही अग्रसर हुई थी जिस कारण उसकी कविता को, काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित करने के लिए, किसी रस या अलंकारादि सम्बन्धी शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं थी। व्याकरण, पिंगल एवं काव्य-कला-विषयक अन्य शास्त्रों की रचना क्रमशः पीछे होती गई और उनके नियमों, उपनियमों का अनुसरण करने वाली शास्त्रीय पद्धति की कविता की एक पृथक् परम्परा भी चलने लगी और दोनों समानान्तर चलीं। किन्तु शिष्ट-समाज अथवा सभ्य लोगों द्वारा अधिक अपनाई जाने के कारण दूसरी को क्रमशः अधिक योगदान मिलने लगा और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने के कारण पहली का आदर

सदा साधारण जनसमाज तक ही सीमित रहता आया। पहली की भी शृंखला कभी नहीं टूटी और वह अधिकतर अपने मौखिक रूप में जीवित रही। लिखित रूप में उसका केवल वही अंश पहले संचित किया जा सका जिसमें या तो ज्ञान-विज्ञान की गम्भीरता थी अथवा जिसे सर्वसाधारण के प्रति उपदेश का भी रूप दिया गया। संसार के प्राचीन धार्मिक साहित्य अथवा काव्य मूलतः उक्त पहली परम्परा के उदाहरणों में आते हैं और उन्हें लिखित रूप भी मिल गया है, किन्तु इस प्रकार की रचनाओं का एक बहुत बड़ा अंश अभी तक मौखिक रूप में भी विद्यमान है और उसे बहुधा 'लोकगीत' के नाम से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त प्रथम परम्परा प्रकृत काव्य की परम्परा है जहाँ द्वितीय कल्पनात्मक रचनाओं की प्रणाली है। अतएव, प्रथम में जहाँ हमारी आदिम मनोवृत्तियों का सरल और विशुद्ध रूप दीख पड़ता है वहाँ द्वितीय में बहुत कुछ कृत्रिमता का समावेश रहता है। प्रकृत-काव्य एवं शिष्ट वा कलात्मक-काव्य के बीच इस प्रकार का अन्तर देखकर ही सन्त-काव्य को उक्त पहली कोटि में रखने की प्रवृत्ति होती है; फिर यह काव्य प्रकृत-काव्य के उस वर्ग में आता नहीं जान पड़ता जिसे 'लोकगीत' कहा करते हैं। कुछ आलोचकों की धारणा है कि "हिन्दी में 'निर्गुणधारा' की संज्ञा से अभिहित सम्पूर्ण साहित्य 'लोकगीत' वर्ग का है।"[1] और वे कतिपय कारणों की ओर लक्ष्य करते हुए यहाँ तक कह डालते हैं कि "हमारा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य की 'निर्गुणधारा' 'लोकगीतों का ही विकसित रूप है।"[2] किन्तु ऐसे लेखक लोकगीत की उन विशेषताओं की ओर कदाचित् पूरा ध्यान नहीं देते जो उसे सन्त-काव्य से भिन्न सिद्ध कर देती हैं। लोकगीत वस्तुतः किसी समाज-विशेष के हृदय और मस्तिष्क की अभिव्यक्ति करता है और उसमें 'काव्य-निर्माता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव' रहा करता है, जहाँ सन्त-काव्य स्वभावतः किसी सन्त की स्वानुभूति का निदर्शन करता है जिस कारण, प्रकृत-काव्य का रूप धारण करता हुआ भी, वह अपनी कर्तृप्रधानता एवं आत्माभिव्यंजना (Subjectivity and Self expression) की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का सर्वथा परित्याग नहीं कर पाता। इसके सिवाय लोकगीत का माध्यम बहुधा अनुश्रुति और मौखिक परम्परा द्वारा उपलब्ध होता है और उसमें अधिकतर प्रेम-परक वा रसात्मक स्थलों का ही समावेश रहा करता है, जहाँ सन्त-काव्य के लिए ये बातें आवश्यक नहीं हैं और इसमें बहुधा धार्मिकता का पुट भी मिल जाया करता है।

सन्त-काव्य की लोकप्रियता उसके काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नहीं। वह जनसाधारण के अंग बने कवियों (वा क्रान्तदर्शी व्यक्तियों की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जनसाधारण की भाषा है। उसमें साधारण-जनसुलभ प्रतीकों के ही प्रयोग हैं और वह जनजीवन को स्पर्श करता है। वह सभी प्रकार से जनकाव्य कहलाने योग्य है जिस कारण उसकी परम्परा की छोरें आमितकाल तक उपलभ्य समझी जा सकती हैं।

●

१. 'निर्गुणधारा' (मानसरोवर प्रकाशन, गया), पृ० २
२. वही, पृ० १०

डॉ श्री कृष्णलाल

भक्ति-काव्य

बाबा बेणीमाधव दास के 'मूल गुसाईं-चरित' में एक प्रसंग है कि एक बार केशवदास गुसाईं जी के दर्शन के लिए आये। शिष्यों द्वारा सूचित किए जाने पर गुसाईं जी ने पूर्ण उदासीनता का भाव प्रदर्शित करते हुए कहा, 'कवि प्राकृत केशव आवन दो' अर्थात् इस प्राकृत कवि से मिलने की मेरी इच्छा तो नहीं है, परन्तु जब वह आ ही गया है तो आने दो। केशवदास ने यह बात सुन ली। वे बड़े मानी थे, बिना मिले ही घर लौट गए और दूसरे ही दिन रामचन्द्रिका समाप्त कर उसको साथ ले उन्होंने गुसाईं जी के दर्शन किये। रामचन्द्रिका को लेकर मिलने का भाव गुसाईं जी पर यह प्रकट करना था कि मैं केवल प्राकृत कवि ही नहीं, आपके समान भक्त कवि भी हूँ। यहाँ इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि 'मूल गुसाईं-चरित' जाली ग्रन्थ है और एक ही रात में रामचन्द्रिका जैसे बृहत् काव्य की रचना असंभव है। यहाँ मेरा प्रयोजन केवल इतना ही है कि मध्ययुग में हिन्दी में दो प्रकार के कवि थे—एक तुलसीदास जैसे भक्त कवि और दूसरे केशवदास जैसे प्राकृत कवि। भक्त कवि प्राकृत कवि को केवल इसी कारण हेय दृष्टि से देखते थे कि वे प्राकृत जनों का गुणगान किया करते थे। स्वयं गुसाईं जी के वचन हैं, "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।"

मध्ययुग में केवल तुलसीदास ही भक्त कवि नहीं थे उनसे पूर्व और पश्चात् भी अनेक भक्त कवि हो गए हैं जिन्होंने प्राकृत जनों का गुणगान करना छोड़ भगवान और उसके भक्तों का गुणगान किया। इन सभी भक्त कवियों का काव्य-विषय एक ही था—भक्ति; परन्तु एक ही विषय होते हुए भी उसमें संकीर्णता और सीमितता का लेश भी नहीं था। रीतिकालीन कवियों का एक ही काव्य-विषय था—शृङ्गार; परन्तु वह कितना सीमित और संकीर्ण था! बात यह थी कि भक्त कवियों की परम्परा सजीव थी, इसी कारण एक ही विषय भक्ति को अपनी रुचि-वैचित्र्य, चिन्तन और भावना के कारण उन्होंने विविध प्रकार से अनुभव कर अगणित काव्य-रूपों और शैलियों में प्रकाशित किया—किसी ने सबदी, साखी, और रमैनी लिखी, किसी ने महाकाव्य और खण्ड काव्य की रचना की, किसी ने पदों में रस की धारा उमड़ाई और किसी ने जनता में प्रचलित होली, चाँचर, आदि की धूम मचा दी।

भक्ति एक भावना है जिसका आश्रय है भक्त का हृदय और आलम्बन है भगवान। इस प्रकार भक्त, भक्ति और भगवान भक्ति के तीन अंग हुए। भक्ति-काव्य की व्यापकता का मुख्य कारण यह था कि भक्त कवियों ने केवल अपनी भक्ति-भावना का ही निरूपण नहीं किया, वरन् उन्होंने भगवान के स्वरूप का, उसके विशिष्ट गुणों का भी निरूपण किया, उसकी दयालुता और भक्तवत्सलता के गीत गाए, भक्तों की महत्ता, कष्ट-सहिष्णुता और अटल निष्टा की भी प्रशंसा की। इतना ही नहीं, निर्गुणवादी सन्त कवियों ने सत गुरु को भी भक्ति का एक अंग माना

और उसकी भी जी खोलकर प्रशंसा की। बात यह थी कि गुरु ही भक्त का भगवान से साक्षात्कार कराता और बिना ज्ञान और साक्षात्कार के भक्ति-भावना का उदय सम्भव ही नहीं। इसीलिए तो कबीर ने गुरु का महत्त्व गोविन्द के समान अथवा कुछ अधिक ही स्थिर किया[1] और 'भक्तमाल' के यशस्वी रचयिता नाभादास ने 'भक्त, भक्ति भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक' कहकर भक्त, भक्ति, भगवान और गुरु को एक ही विग्रह के चार नाम स्वीकार किए।

परन्तु नाभादास चाहे इन चारों को एक ही समान महत्त्व क्यों न दें, भक्ति के इन चार अंगों में प्रमुखता भक्ति के आलम्बन भगवान की ही मानी गई है। भगवान के रूप और गुण की विशिष्टता पर ही भक्ति-भावना का रूप स्थिर किया जा सकता है। भगवान के रूप और गुण के ही आधार पर भक्ति-काव्य के निर्गुण और सगुण धारा के नाम से दो भेद किये गए। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस निर्गुण धारा को भी दो शाखाओं में विभक्त किया—एक का नाम उन्होंने ज्ञानाश्रयी शाखा रखा और दूसरे का नाम प्रेमाश्रयी शाखा। शुक्ल जी के पश्चात् प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने इस वर्गीकरण को स्वीकार किया।
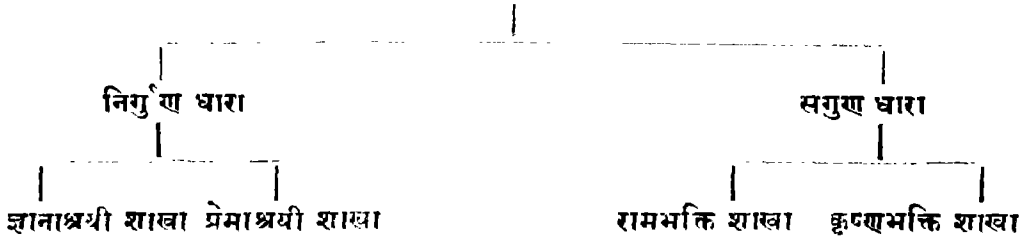
जहाँ तक भक्ति-काव्य की निर्गुण और सगुण धारा तथा सगुण धारा की राम और कृष्ण भक्ति शाखा का सम्बन्ध है, इस वर्गीकरण से किसी का मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत शुक्लजी ने सूफी कवि मंझन, कुतुबन, जायसी आदि की प्रेमाख्यानक रचनाओं को स्थान दिया है जिसमें ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण स्वीकार किया गया है। अस्तु, इन रचनाओं को निर्गुण काव्य-धारा की प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत रखना ठीक ही है, परन्तु आपत्ति तो यह है कि सूफियों का यह निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन नहीं, प्रेम की पीर का आलंबन है और सूर, तुलसी, कबीर की भक्ति तथा सूफियों का इश्क-मजाजी और प्रेम की पीर एक ही वस्तु नहीं है। स्वयं शुक्लजी ने भक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'[2] जहाँ आश्रय में पूज्य बुद्धि का अभाव है, जहाँ दैन्य भाव की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है, वहाँ भक्ति-भावना का उदय नहीं हो सकता। प्रेमाख्यानक काव्यों को भक्ति-काव्य के अंतर्गत रखना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं है। प्रेमाख्यानक काव्य अध्यात्मपरक हैं; उनमें अभिव्यंजित प्रेम की पीर का भक्तों के विरह-निवेदन से अधिक अन्तर नहीं है; उनकी रचना भी सन्तों की बानी के समकालीन ही हुई। संभवतः इसी कारण शुक्लजी ने इस प्रेमाख्यानक काव्यों को भक्ति-काव्य में स्थान दिया; परन्तु सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टियों से शुक्लजी की प्रेमाश्रयी शाखा को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

१. "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय,
बलिहारी गुरु आपुनो जिन गोविन्द दियो बताय।"

२. चिन्तामणि, भाग १, प्रथम संस्करण, १९४०, पृष्ठ ४४ (श्रद्धा-भक्ति)

प्रेमाश्रयी शाखा का निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन नहीं है, परन्तु ज्ञानाश्रयी शाखा का निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन अवश्य है। अस्तु, इस शाखा की रचनाओं को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत स्थान मिलना उचित ही है। परन्तु इसका नामकरण जो ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में हुआ है वह कुछ अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता। ज्ञान के साथ जो गुरुता और गम्भीरता का भाव है, सन्त कवियों की रचना में से उस गुरुता और गम्भीरता को स्वयं शुक्लजी भी स्वीकार नहीं करते। अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' में 'लोक धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत शुक्लजी ने सन्त कवियों को ही लक्ष्य करके लिखा है, "शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू-तू मैं-मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नये पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वर-वाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आंशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था, पर लोक को व्यवस्थित करने वाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के साथ-साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में कुछ नये पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया था, उधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख लोग बढ़ रहे थे जो किसी 'सतगुरु के प्रसाद' मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। अतः सतगुरु भी उन्हीं लोगों में से निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे; और कुछ लोग झाँझ-खँजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे।"[1]

सन्त कवियों में "भक्ति का यह विकृत रूप"[2] किसी भी प्रकार ज्ञान की गुरुता से समन्वित नहीं माना जा सकता। इन सन्तों की रचनाओं में ज्ञान नहीं, ज्ञानाभास मात्र है। अस्तु, इस शाखा की रचनाओं को ज्ञानाश्रयी न कहकर 'ज्ञानाभासाश्रयी' कहना ही अधिक समीचीन होता। फिर भी शुक्लजी ने जो इस शाखा का ज्ञानाश्रयी नाम दिया उसका कारण उसमें रहस्य और गुह्य की भावना का संयोग है। जहाँ कहीं भी रहस्य और गुह्य की भावना की प्रतीति होती है साधारण जनता वहाँ उसे ज्ञान की संज्ञा से अभिहित करती है, परन्तु सन्त-काव्य के लिए ज्ञानाश्रयी नाम बहुत कुछ उपहासास्पद ही जान पड़ता है।

भक्ति-काव्य में भगवान् निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में निरूपित किये गए हैं। कबीर के भगवान् निर्गुण हैं। यद्यपि उन्होंने अपने भगवान् का नाम राम ही माना है परन्तु उनके राम दाशरथी राम नहीं हैं। गोसाईं तुलसीदास ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्हें सगुण रूप भगवान् राम के प्रति ही विशेष पक्षपात है। मानस के उपक्रम में उन्होंने जो राम के निर्गुण और सगुण रूपों को लेकर भारद्वाज तथा पार्वती जी से शंका कराई है, उसके मूल में कबीर की वही उक्ति जान पड़ती है जिसमें उन्होंने अपने राम को केवल निर्गुण ही माना है। शंकरजी ने पार्वतीजी के प्रश्न पर जो रोष प्रकट किया है कि

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, संशोधित संस्करण, सं० २००३ (का० ना० प्र० स० काशी) पृ० १९-२०

२. वही, पृष्ठ २०

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न साँच॥

वह वास्तव में कबीर पर रोष प्रकट किया गया था, जिन्होंने घोषित किया था कि "राम नाम का मरम है आना;" और उत्तर-काण्ड में जो काकभुशुण्डि ने गरुड़ से कहा था कि

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

यह भी सन्त कवियों के निर्गुण ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कहा हुआ जान पड़ता है। सन्तों ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को साधारण जनता के लिए सुलभ बना दिया था। परन्तु ब्रह्म के सगुण रूप को कोई नहीं मानता था। दाशरथी राम के रूप में भगवान् की लीलाओं को सुनकर कबीर जैसे सन्तों को जो भ्रम हो गया है उसी भ्रम के निवारणार्थ गुसाईं जी ने रामचरितमानस के रूप में सगुण ब्रह्म का निरूपण किया।

स्थूल रूप से भक्ति-काव्य में भगवान् के निर्गुण और सगुण दो ही रूप हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रायः सभी भक्तों के भगवान् एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ भिन्न अवश्य हैं। दादू के मुसलमान शिष्य रज्जब ने ठीक ही लिखा है कि ईश्वर की कोई भी दो सृष्टियाँ समान नहीं हैं। निर्गुण धारा के सभी सन्त कवियों के ईश्वर यद्यपि निर्गुण और निराकार हैं परन्तु उनमें भी कुछ-न-कुछ भेद अवश्य है। अस्तु, कबीर अपने हरि का निरूपण करते हुए कहते हैं—

सन्तो धोखा कासूँ कहिए,
गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण बाट छाँड़ि क्यों बहिए।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति सरूप वरण नहिं जाकै, घटि-घटि रह्यो समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरुअन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाँड़ि जे कथिए, कहे कबीर हरि सोई।

इससे अलग दादू अपने मोहन-माली की चर्चा करते हैं :

मोहन-माली सहजि समाना। कोइ जानै साधु सुजाना।
काया बाड़ी माहै माली तहाँ रास बनाया।
सेवक सो स्वामी खेलन को आप दया करि आया।
बाहरि भीतर सर्व निरन्तर सब में रहा समाइ।
परगट गुप्त गुप्त पुनि परगट अविगत लखा न जाइ।
तामाली की अकथ कहानी कहत कही नहि आपइ।
अगम अगोचर करइ अनन्दा, दादू ये जस गावइ।

सगुण भक्तों के भगवान् राम और कृष्ण भी सबके एक समान नहीं हैं। यद्यपि सभी सगुण भक्तों के भगवान् समान रूप से पतित-पावन, करुणानिधान, दीनबन्धु और लीला-प्रिय हैं, फिर भी अपनी भावना, संस्कार और रुचि के अनुरूप सभी भक्त कवियों ने अपने-अपने भगवान् में कुछ विशेष गुणों का आरोप किया है। तुलसीदास के भगवान् राम शीलनिधान हैं; कवि उनके शील गुण पर मुग्ध होकर गा उठता है—

सुनि सीतापति शील सुभाउ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खंहर खाउ।
× × ×
समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसीदास अनयास राम पद पैहै प्रेम पसाउ।

दूसरी ओर सूर के भगवान् कृष्ण लीला-प्रिय हैं। उनकी सुमधुर लीलाओं पर मुग्ध हो सूर के कंठ से फूट निकलता है :

हरि अपने आगे कछु गावत,
तनक-तनक चरनन सों नाचत मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उँचाइ काजरी धौरी गइयन टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द बुलावत कबहुँक घर में आवत।
माखन तनक आपने करलै तनक वदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लवनी लिए खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला हरष अनन्द बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित ये नित देखत मन भावत॥

'सुदामा-चरित' के कवि नरोत्तमदास के भगवान् कृष्ण करुणानिधान हैं—

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोए।
पानी परात को छूयो नहीं वस नैनन के जल से पग धोए।

दूसरी ओर मीरा के गिरधरनागर माधुरी मूरत वाले हैं—

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल,
साँवली सूरत माधुरी मूरत नैना बने बिसाल।

और हित हरिवंश के रसिक-शिरोमणि राधाबल्लभ रास-प्रिय हैं—

आजु बन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन बेनु बजायो।
कल कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचुपायो।
युवतिन मण्डल मध्य स्यामघन सारंग राग जमायो।
× × ×
बरखत कुसुम मुदित नभ नायक इन्द्र निसान बजायो।
हित हरिवंश रसिक राधापति जस बितान जग छायो।

भक्ति-काव्य में भगवान् का निरूपण प्रमुख है, परन्तु कुछ कवियों ने भगवान् को छोड़ भक्तों का ही गुण-गान किया। नाभादास का 'भक्तमाल' भक्तों के यश-गान का अपूर्व काव्य है। नरोत्तमदास ने 'सुदामा-चरित' और 'ध्रुव-चरित' लिखकर दो श्रेष्ठ भक्तों का अपूर्व चित्रण किया। सूर और तुलसी ने यद्यपि अपने भगवान् की लीलाओं का ही विशद वर्णन किया है परन्तु भक्तों का गुण-गान भी उनके काव्यों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। सूर के भ्रमर-गीत में भक्त गोपियों की अटल निष्ठा का अपूर्व चित्रण है। तुलसी का रामचरितमानस तो राम-भक्तों की एक बृहत् प्रदर्शिनी है। वहाँ भगवान् शंकर, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, सुग्रीव,

जामवन्त, निषादराज गुह, शबरी, अत्रि, अगस्त, नारद, काकभुशुण्डि और जटायु आदि देव-दानव, ऋषि-मुनि, ब्राह्मण-शूद्र, पुरुष-स्त्री, बानर-भालू, गिद्ध-काग आदि अनेक भक्तों का मुग्ध भाव से गुण-गान किया गया है। सच तो यह है कि जैसे बिना दर्शकों के रंगमंच की कोई सार्थकता नहीं वैसे ही भक्तों के बिना भगवान् की भी कोई सार्थकता नहीं, क्योंकि भक्त-कवियों के भगवान् भक्तों को सुख देने के लिए ही अवतार धारण करते हैं, राक्षसों का विनाश करने के लिए नहीं।[1]

भगवान् और भक्त के अतिरिक्त भक्ति-भावना का निरूपण भी भक्ति-काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। भक्त कवियों ने अपने भगवान् से अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थिर किये और उन्हीं सम्बन्धों के अनुरूप अपनी भावना की अभिव्यक्ति की। जैसा कि तुलसीदास ने कहा है—

मोहि तोहि नातो अनेक मानिए जो भावै।

भक्त और भगवान् में अनेक नाते हो सकते हैं और भक्त को जो नाता प्रिय हुआ वही नाता उसने अपने भगवान् से स्थिर किया। अस्तु, कबीर ने अपने निर्गुण राम से वही सम्बन्ध स्थापित किया जो दुलहिन का अपने भरतार से है। वह कहते हैं—

राम मेरे पीउ मैं तो राम की बहुरिया।

मीरा भी अपने गिरधरनागर से कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती हैं—

मैं तो गिरधर रा घर जाऊँ,
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।

तुलसीदास यों तो अपने राम से अनेक नाते होने की बात करते हैं परन्तु उनका निश्चित मत है कि "सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि," अर्थात् भगवान् से सेवक-सेव्य-भाव अथवा दास्य भाव की भक्ति ही उनकी दृष्टि में एकमात्र भक्ति है। सूरदास भी प्रारम्भ में इसी दास्य-भाव की भक्ति करते थे और बड़े तपाक के साथ कहते थे कि

प्रभु हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौ तौ जनमत ही कौ॥
बधिक अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी कौ?
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि में, मोहूँ तैं को नीकौ!

परन्तु बल्लभाचार्य ने एक दिन जब उन्हें सुझाया कि 'जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है'[2] तब से उन्होंने घिघियाना छोड़कर सख्य-भाव की भक्ति प्रारम्भ कर दी। तुलसीदास ने जहाँ भगवान् शंकर से लेकर गिद्ध और भालू तक सबसे दास्य-भाव की भक्ति कराई है, वहाँ सूर के सभी भक्त—अर्जुन, भीष्म पितामह, गोपियाँ और उद्धव—सख्य-भाव की ही भक्ति करते हैं। सूर के भीष्म पितामह की भक्ति-भावना का एक उद्गार सुनिए—

वा पट पीत की फहरानि।
कर धरि चक्र चरन की धावनि नहिं बिसरत वह बानि॥

---

१. देखिए, मानस-दर्शन, पृ० २४, २५

२. अष्टछाप, प्रथम संस्करण, सूरदास का प्रसंग, पृ० ४

रथ ते उतरि अवनि आतुर ह्वै कच रज की लपहानि।
मानों सिंह सैल तें निकस्यो महामत्त गज जानि॥
जिन गोपाल मेरो प्रन राख्यो मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भये हैं आनि॥

इसी प्रकार अन्य भक्त कवियों ने भी अपनी-अपनी रुचि और संस्कार के अनुरूप शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल और मधुर भाव की भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की। भक्ति-भाव की अभिव्यंजना में मीरा के पद बेजोड़ हैं। अपने प्रियतम गिरधरनागर के प्रति मीरा का विरह-निवेदन भक्ति-काव्य की अपूर्व निधि है। उनके आडम्बरविहीन पदों में जितनी हार्दिकता भरी है उतनी और कहीं नहीं मिल सकती। उदाहरणस्वरूप एक पद देखिए—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो॥
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परे, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, वह पीर न जानी हो॥
ज्यों चातक घन को रटे, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहनी, सुध बुध बिसरानी हो॥

भक्त, भक्ति, भगवन्त के अतिरिक्त सन्त कवियों ने गुरु को गोविन्द के समान ही महत्त्व देकर उनका विशद गुण-गान किया है। कबीर का तो कहना है कि—

यह तन विष की बेल री गुरु अमृत की खान।
सीस दिए जो गुरु मिले तौ भी सस्ता जान॥

सन्त कवियों ने सतगुरु-महिमा के अतिरिक्त चेतावनी के पद भी पर्याप्त संख्या में कहे हैं। अज्ञानी जीव जो माया में फँसा हुआ भय त्रय ताप सहन कर रहा है उसे सम्बोधित कर भक्त कवियों ने अनेक उद्बोधन-गीत गाये और चेतावनियाँ दीं। गोस्वामी तुलसीदास अपने मन से कहते हैं—

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरि चरन सरोज सुधा रस, रवि-कर-जल लय लायो॥
त्रिजग, देव, नर, असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो।
गृह, बनिता, सुत, बन्धु भये बहु मातु पिता जिन जायो॥
ताते निरय-निकाय निरन्तर सोइ इन्ह तोहि सिखायो।
तुअ हित होइ कटै भव-बन्धन सो मगु तोहि न बतायो॥
अजहुँ विषम कहँ जतन करत जद्यपि बहुबिधि उहकायो॥

इसी प्रकार सूरदास की भी एक चेतावनी सुनिए—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तनु तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
या देही को गरव न करिए स्यार, काग, गिध खैहैं।

तीननि मैं तन कृमि कै, विष्ठा कै ह्वै खाक उड़ैहैं ॥
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा कहँ रंग रूप दिखैहैं।
जिन लोगनि सों नेह करत हौ, तेई देखि घिनैहैं ॥

इसी प्रकार मीरा की भी एक चेतावनी इस प्रकार है—

भज मन चरन कमल अबिनासी।
जेताइ दीसे धरनि गगन बिच, तेताइ सब उठि जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हे, कहा लिए करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड़्याँ उठि जासी ॥

चेतावनी के अतिरिक्त भक्ति-काव्य में नीति और उपदेश की भी बातें अनेक ढंग से कही गई हैं। निर्गुण धारा के सन्त-कवियों ने विशेष रूप से चेतावनी, उपदेश और गुरु की महिमा का बखान अधिक किया है; इसके विपरीत सगुण धारा के भक्त कवियों ने भगवान् की लीला, भक्तों के गुण-गान और अपनी भक्ति-भावना के निरूपण की ओर विशेष रुचि दिखाई है।

: २ :

भक्ति का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ इसके सम्बन्ध में कबीर के अनुयायियों में यह दोहा प्रसिद्ध है—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नव खंड ॥

परन्तु पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में जो श्रीमद्भागवत-माहात्म्य है उसमें भक्ति के मुख से कहलवाया गया है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बड़ी हुई, कहीं-कहीं महाराष्ट्र में विहार करती हुई गुजरात में आकर जीर्ण हो गई; अन्त में वृन्दाबन में मुझे नया रूप प्राप्त हुआ और यहाँ आकर युवावस्था में मनोरम रूप प्राप्त करने में समर्थ हुई। इन दोनों में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई और क्रमशः उत्तर भारत में आई। परन्तु दक्षिण भारत में भक्ति का जो स्वरूप है, कबीर आदि सन्तों के भक्ति-काव्य में उसका स्वरूप बहुत बदल गया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि दक्षिण भारत की इस भक्ति-परम्परा को अपनी जय-यात्रा में अनेक मतवादों से संघर्ष लेना पड़ा था। गिरि-शृङ्ग से उतरने वाली स्रोतस्विनी अपने प्रवाह-पथ में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भूखंडों के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती है—पर्वतों से उतरते समय निर्झर के रूप में गिरि-प्रान्त को मुखरित करती है, घने जंगलों में आँखमिचौनी खेलती हुई वक्राकार मार्ग से चक्कर काटती चलती है और समतल भूमि-खण्ड में आकर प्रशस्त मार्ग पर धीरे-धीरे बहती हुई कमल, सेवार तथा छोटी-बड़ी लहरियों में शोभा पाती है, उसी प्रकार दक्षिण की भक्ति-धारा ने भी उत्तर भारत में आकर तीन भिन्न स्वरूप धारण किये। ज्ञान के उच्च गिरि-शृङ्ग के सम्पर्क में आकर इस भक्ति-धारा ने सगुण लीला-रूपी निर्झर का रूप धारण किया जिसमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम और नट-नागर भगवान् कृष्ण की सगुण लीला के सरस मधुर गान ने समस्त मध्य-देश को मुखरित कर दिया। एक ओर गुसाईं तुलसीदास के भगवान् राम अपने विविध चरित्रों से दासों को आनन्द दे रहे हैं दूसरी ओर सूर के गोपालकृष्ण बाल-लीला, माखन-चोरी-लीला, गोचरण-

लीला और रास-लीला द्वारा भक्तों को मुग्ध करते रहते हैं। भक्ति की एक प्रमुख धारा सगुण भगवान् की लीलाओं का गान है जिसमें राम और कृष्ण दो प्रमुख शाखाएँ हैं।

सिद्धों और नाथों के तन्त्र तथा हठयोग के गहन कानन में चक्कर काटती हुई यह भक्ति-धारा कबीर आदि सन्तों की बानी में एक दूसरे रूप में प्रकट हुई और मिथिला तथा बंगाल के शाक्त सम्प्रदाय तथा तन्त्र-सम्मत पंच मकारों के स्थूल किन्तु गुह्य-साधना के सम्पर्क में आकर यह भक्ति-धारा समतल भूखण्ड में बहने वाली शैवाल-रंजिता मन्दगामिनी सरिता की भाँति जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के पदों में कितनी सरस और मधुर हो उठी है। एक ही भक्ति-धारा के ये तीन स्वरूप कितने विलग और विचित्र हैं! गुसाईं तुलसीदास के राम की ललित-नर-लीला वस्तुतः मुग्ध होने की वस्तु है। तुलसीदास ने भक्ति और लीला का अतिशय मर्यादित रूप उपस्थित किया। बात यह थी कि वे ज्ञानी और पण्डित थे, आगम, निगम, पुराण तथा षट्शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, इसीलिए उनके विनय के पदों तथा सगुण-लीला के कथा-प्रसंगों में मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान रखा गया है। सूर की कृष्णलीला में यद्यपि मर्यादा की काफी उपेक्षा की गई है फिर भी उसमें भगवान् की नर-लीला का बड़ा ही मधुर रूप उपस्थित किया गया है। रसखान जैसे मुसलमान कवियों ने भी भगवान कृष्ण की नर-लीला का बड़ा ही सुन्दर रूप उपस्थित किया। इसके विपरीत कबीर और विद्यापति की रचनाओं में न लीला का भाव है न विनय का। वहाँ तो भगवान् को एक प्रेमी के रूप में उपस्थित किया गया है जिसकी प्रेम की ही मर्यादा है, प्रेम की ही लीला है और प्रेम की ही विनय है। परन्तु कबीर और विद्यापति की मनोवृत्ति में महान अन्तर दिखलाई पड़ता है।

सूर और तुलसी की सगुण लीला सम्बन्धी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति का संघर्ष प्रमुख रूप में दिखलाई पड़ता है। तुलसीदास ने तो मानस में ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्टता प्रतिपादित करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क दिए हैं। कभी तो वे ज्ञान को पुरुष और भक्ति को नारी बताकर यह तर्क उपस्थित करते हैं कि ज्ञान-पुरुष माया-रूपी नर्तकी नारी को देखकर विचलित हो जाता है परन्तु 'मोह न नारि नारि के रूपा' के सिद्धान्तानुसार भक्ति नारी-माया को देखकर मोहित नहीं होती और भक्त को भगवान् तक पहुँचा देती है; इसलिए भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। कभी वे कहते हैं कि ज्ञान का पन्थ कृपाण की धारा के समान अत्यन्त कठिन है। उस मार्ग में बाधाएँ और कठिनाइयाँ अनेक हैं, परन्तु भक्ति के रास्ते में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं है, इसलिए सरल होने के कारण भक्ति ज्ञान से श्रेष्ट है। कभी वे रूपक रूप में सती को ज्ञान का प्रतीक और शिवजी को भक्ति-भावना का प्रतीक बनाकर सती की दुर्दशा और अन्त में योग-अग्नि में उसका भस्म होना दिखाकर ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय प्रदर्शित करते हैं। सूर की कविता में भी ज्ञान और भक्ति का यह संघर्ष भ्रमर गीत के रूप में उपस्थित किया गया है, जहाँ ज्ञान के प्रतीक उद्धव भक्ति की प्रतीक गोपियों को समझाने गोकुल जाते हैं। वहाँ भी ज्ञान के प्रतीक उद्धव को गोपियों के सामने पराजय स्वीकार करना पड़ता है। मथुरा लौटकर वे भगवान् कृष्ण के सामने स्वीकार करते हैं—

> **हौं इक बात कहत निरगुन की वाही में अटकाऊँ।**
> **वे उमड़ी वारिधि तरंग ज्यौं जाकी थाह न पाऊँ॥**

ज्ञान और भक्ति का यही संघर्ष मीरा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उस जनश्रुति में भी पाया जाता है

जिसमें कहा जाता है कि जीव गोस्वामी ने जब मीरा से केवल इसीलिए मिलना अस्वीकार किया था कि वे स्त्री हैं, तब मीरा ने उत्तर दिया था कि 'मैं तो समझती थी कि ब्रज में भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष है ही नहीं, सभी स्त्रियाँ हैं, परन्तु आज जान पड़ा कि जीव गोस्वामी को भी पुरुष होने का दावा है। भक्ति-भावना से सिक्त इस करारे उत्तर से जीव-गोस्वामी परास्त हो मीरा के सामने नतमस्तक हुए। यहाँ भी भक्ति की प्रतीक मीरा के सामने ज्ञानी जीव गोस्वामी को नतमस्तक होना पड़ा।

सच बात तो यह है कि सगुण लीला की भक्ति-भावना ही ज्ञानाश्रित रही है। शास्त्र पुराण के ज्ञान की चर्चा इसी धारा में प्राप्त होती है। अस्तु, भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा इसी को मानना चाहिए। शुक्लजी ने जिसे 'ज्ञानाश्रयी शाखा' का भक्ति-काव्य माना है, वह तो वास्तव में गोरखनाथ के हठयोग के संयोग से उत्पन्न भक्ति-भावना का काव्य था। कबीर के पदों में योगाश्रित भक्ति की रहस्यात्मक अनुभूति मिलती है। कबीर ने बड़े ही निर्भीक भाव से योग और बाह्य आचारों की निन्दा कर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। शाक्त-धर्म और तन्त्रों के संघर्ष से उत्पन्न भक्ति की तीसरी धारा का स्वरूप गौड़ीय भक्ति-काव्य में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। हिन्दी-क्षेत्र में भक्ति का यह स्वरूप बहुत कम दिखाई पड़ता है फिर भी राधा वल्लभी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश के रासलीला के पदों, और मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति में उसका कुछ आभास मिल सकता है।

: ३ :

भक्ति धर्म के इतिहास में प्रारम्भ ही से भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग मिलते हैं—एक वर्ग गायकों का रहा है और दूसरा आचार्यों का। आलवार गायक थे जिनके अन्तःप्रदेश से भक्ति-भावना का उल्लास, प्रेम और भक्ति का अदम्य आवेश रस की धारा के समान उमड़ पड़ा था, जिसमें सहजोद्रेक था, भाव-प्रवणता थी और था एक तीव्र आवेग जो सभी बाधाओं को ठेलता हुआ आगे बढ़ता ही गया। दूसरी ओर नाथ मुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क आदि आचार्य थे जिनके दार्शनिक चिन्तन में कोई आवेग नहीं था; था केवल तर्क, विवाद और मस्तिष्क का मन्थन और आलोड़न। रूपक की भाषा में कहा जा सकता है कि आलवारों का गान पहाड़ी नदी की भाँति सहज और स्वच्छन्द था और आचार्यों के सिद्धान्त इंजीनियरों की बनाई प्रशस्त राजमार्ग की भाँति एक नहर थी जो उस नैसर्गिक धारा से निकाल-कर जनता के उपयोग के लिए बनाई गई थी। एक ओर ज्ञान-विज्ञान की बाधाओं को ठेलकर हृदय का उल्लास निर्झरिणी की भाँति उमड़ पड़ा था, तो दूसरी ओर यह हृदय का उल्लास ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं में बुरी तरह जकड़ दिया गया था। उत्तर भारत में जिन कवियों और आचार्यों ने भक्ति की धारा प्रवाहित की उनमें भी स्पष्ट दो वर्ग थे। स्वामी रामानन्द और महा-प्रभु वल्लभाचार्य तो विशुद्ध आचार्य थे जिन्होंने वाद और तर्क से, उपदेश और निदेश से, शिक्षा और दीक्षा से लोगों को भक्ति का उपदेश दिया; परन्तु चैतन्य महाप्रभु कवि-गायक श्रेणी के आचार्य थे जिन्होंने अपनी भक्ति-भावना के आवेश से जनता को आकृष्ट किया। इसी प्रकार भक्त कवियों में भी स्पष्ट दो वर्ग थे। एक वर्ग कवि-गायकों का था, दूसरा कवि-आचार्यों का। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर और मीरा अपनी भक्ति-भावना के उल्लास में रस की धारा उमड़ाने

वाले विशुद्ध कवि-गायक थे और गुसाईं तुलसीदास, कबीर, नानक और नन्ददास भक्ति-धर्म का मार्ग प्रशस्त करने वाले कवि-आचार्य थे।

भक्त कवियों में प्रमुख कवि-आचार्य गुसाईं तुलसीदास थे जिन्होंने 'कलि-कुटिल-जीव-निस्तार-हित' एक ऐसे मानस की व्यवस्था की जिसके एक अक्षर के उच्चारण-मात्र से सभी पाप धुल जाते थे। यह सच है कि रामचरितमानस के आरम्भ में गुसाईं जी ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति", परन्तु बाल काण्ड में राम-कथा प्रारम्भ करने के पहले जो अति विस्तृत भूमिका दी गई है उसे पढ़कर कोई भी नहीं कह सकता कि यह कथा केवल 'स्वान्तः सुखाय' लिखी गई थी। सच तो यह है कि जनता को राम-भक्ति के प्रति आकृष्ट करने का जितना सफल प्रयास रामचरितमानस में मिलता है उतना शायद ही और कहीं मिल सके। कथा और प्रसंग से, तर्क और बुद्धि से, प्रतीति और प्रमाण से, उपदेश और निदेश से, जितनी प्रकार भी सम्भव था, गुसाईं तुलसीदास ने राम-भक्ति को सबसे अधिक सहज, सुलभ और फलदायक प्रमाणित किया। भक्ति-भावना का मार्ग प्रशस्त करने वाले वे एक अत्यन्त सफल कवि-आचार्य थे। ऊपर जिस रूपक का निर्देश किया गया है, उसकी भाषा में कहा जा सकता है कि जनता के लिए राम भक्ति को सुलभ बनाने वाले मानस के रचयिता तुलसीदास एक सफल इंजीनियर थे। राम की भक्ति-धारा को उन्होंने जिस कौशल से अपने रामचरितमानस में बाँधा है, उसका पूरा विवरण मानस-रूपक में मिलता है। कवि के शब्दों में ही देखिए—

> **सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥**
> **बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥**
> **लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मलहानी॥**
> **प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥**
> **सो जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥**
> **मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥**
> **भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥**
> **सुठि सुन्दर सम्बाद बर, बिरचे बुद्धि विचारि।**
> **तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥**
> **सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥**

इस प्रकार मनोहर घाट से बँधे सप्त-सोपान-संयुक्त, निर्मल-जल, कमल, मुक्ता, मीन और मराल से सुशोभित एक परम पवित्र निष्कलुष मानस की व्यवस्था करना तुलसीदास जैसे कवि-इंजीनियर का ही कौशल है। इसी कारण तुलसीदास भक्ति-युग के सबसे बड़े कवि-आचार्य हैं।

तुलसीदास जैसे भक्ति की सगुण धारा के सबसे बड़े कवि-आचार्य थे उसी प्रकार कबीर निर्गुण धारा के सबसे बड़े कवि-आचार्य थे। उन्होंने निर्गुण धारा की भक्ति के सिद्धान्त पक्ष को बड़े ही स्पष्ट रूप में उपस्थित किया और अन्य सम्प्रदाय के आचार-विचारों का खण्डन किया। नन्ददास ने 'भ्रमरगीत' और 'रास पंचाध्यायी' के अतिरिक्त जो अन्य अनेक ग्रन्थ रचे हैं उनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त-स्थापन का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। अस्तु, तुलसीदास, कबीर और नन्ददास आचार्य कोटि के भक्त-कवि हैं।

इनके विपरीत सूरदास, मीरा, विद्यापति और हित हरिवंश आदि कवि-गायक हैं। हित हरिवंश ने राधावल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की थी, परन्तु वे आचार्य न होकर शुद्ध कवि-गायक थे। सूरदास के विरुद्ध तो पुष्टि-मार्गियों की यही शिकायत थी कि "सूरदास जी ने भगवत जस वर्णन कीयौ परि श्री आचार्य जी महाप्रभून को जस वर्णन ना कीयौ", सूरदास भक्ति-भावना के उमंग में नट-नागर श्री कृष्ण की मधुर लीलाओं के विमुग्ध गायक थे। उन्होंने पुष्टि मार्गी सिद्धान्तों की व्याख्या अथवा प्रचार का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। मीरा और विद्यापति तो किसी सम्प्रदाय-विशेष के भक्त थे ही नहीं, उन्होंने केवल अपने उमंग में भक्ति की धारा उमड़ाई।

भक्ति-धर्म के प्रचार की दृष्टि से तुलसीदास और कबीर जैसे कवि-आचार्यों का महत्त्व बहुत अधिक है। उन्होंने लाखों-करोड़ों जनता का हित किया; दलितों और पीड़ितों को ठीक रास्ते पर लाकर मुक्ति का मार्ग दिखाया; परन्तु शुद्ध साहित्य की दृष्टि से सूर, मीरा और हित हरिवंश के काव्य को कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त होना चाहिए था। सूर को प्राचीन परम्परा से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना गया है। 'सूर सूर तुलसी ससी' तो प्रसिद्ध ही है, एक-दूसरे अज्ञात कवि ने लिखा है—

> **जो कुछ रहा सो अँधरा कहिगा कठवउ कहेसि अनूठी।**
> **बची-खुची सब जुलहा कहिगा, और कहैं सब झूठी॥**

नाभादास की उक्ति भी ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं "सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।" परन्तु आधुनिक काल के इतिहास-लेखकों और आलोचकों ने भक्ति-काव्य के अध्ययन में तुलसी और कबीर को जितना महत्त्व दिया उतना सूर और मीरा को नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। आज हम बुद्धिवादी अधिक हो गए हैं। आचार्यों के वाद और तर्क, डाँट और फटकार, खण्डन और मण्डन को जितना महत्त्व हम देने लगे हैं। उतना महत्त्व शुद्ध और सरस कविता को नहीं। भक्ति-काव्य का अध्ययन शुद्ध काव्य और साहित्य की दृष्टि से करना आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

डॉ० भगीरथ मिश्र

रीति-काव्य

रीति-काव्य के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ आते हैं—एक सलक्षण और दूसरे अलक्षण। सलक्षण ग्रन्थ वे हैं जिनमें काव्य-रचना किसी काव्यांग-लक्षण के उदाहरण-रूप हुई है, साथ ही लक्षण भी दिया हुआ है, और अलक्षण-ग्रन्थ वे हैं जिनमें लक्षण नहीं, वरन् लक्षणों का ध्यान रखकर उनके उदाहरण रूप काव्य की रचना हुई है। इस प्रकार 'रीति-काव्य', वास्तव में 'लक्षण-काव्य' के ही पर्याय रूप में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत आता है। वैसे तो रीति का तात्पर्य काव्य की शैली होता है। संस्कृत में काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों व्यास, भामह आदि ने काव्य के जो लक्षण[१] दिये, परवर्ती आचार्यों ने काव्य का शरीर-मात्र कहकर[२] उनका खण्डन किया है और इस शरीर की आत्मा खोजने का प्रयत्न किया जिसके परिणाम स्वरूप काव्यात्मा को स्पष्ट करने वाले पाँच सम्प्रदाय मिलते हैं—(१) अलंकार, (२) रीति, (३) वक्रोक्ति, (४) ध्वनि, (५) रस, जिन्होंने इन्हीं को काव्य के प्रमुख तत्व या आत्मा के रूप में ग्रहण[3] किया है। इन्हीं में से एक सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय है जो 'रीति', मार्ग या शैली को काव्य की आत्मा मानता है। इसके अनुसार 'रीति', विशिष्ट, विलक्षण या चमत्कारिक पद-रचना[४] है। परन्तु जब हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रीति शब्द का व्यवहार करते हैं तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद रचना से नहीं होता, वरन् उपर्युक्त सभी काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गए उदाहरणों से होता है। अतएव हिन्दी में रीति'काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य। इसी अर्थ में ही हम हिन्दी रीति-काव्य का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

उपर्युक्त रीति-काव्य के दो प्रकारों में से, यों तो अलक्षण ग्रन्थों के भीतर समस्त काव्य-ग्रंथ रखे जा सकते हैं, परन्तु इससे तात्पर्य मुख्यतः उन्हीं ग्रन्थों से होता है जिसमें लक्षणों का

१. (१) संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली—अग्नि पुराण
   (२) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह
२. शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली—दण्डी
   (२) शब्दार्थौ शरीरं तावद् काव्यम्—आनन्दवर्धन
३. विशिष्टा पद रचना रीतिः—वामन
४. (१) काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—वामन
   (२) रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन
   (३) वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्—कुन्तल
   (४) काव्यस्यात्मा ध्वनिः—आनन्दवर्धन
   (५) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—विश्वनाथ

निश्चित ध्यान, व्यवस्था अथवा क्रम रखकर उसके आधार पर काव्य लिखा जाता है। इस प्रकार के सलक्षण और अलक्षण रीति-ग्रन्थों की जिस युग में विशेष भरमार रही हिन्दी-काव्य के इतिहासकारों ने उसे रीति-काल कहा है।

हिन्दी-साहित्य को रीति-काव्य लिखने की परम्परा संस्कृत-साहित्य से प्राप्त हुई। संस्कृत में काव्य-सिद्धान्त और कवि-शिक्षा से सम्बन्धित कुछ लक्षण और सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना के प्रसंग से लक्षणों के साथ-साथ अथवा उनके आधार पर काव्य लिखने की बड़ी बेगवती प्रवृत्ति जाग्रत हुई और मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य-रचना के समय न केवल उसकी परम्परा ही बन चुकी थी, वरन् उसका विकास चल रहा था और पण्डितराज जगन्नाथ (१८वीं शताब्दी विक्रमीय के प्रारम्भ) तक वह पूर्णता को प्राप्त करता रहा। हिन्दी-रीति-काव्य संस्कृत की इसी परम्परा के प्रभावस्वरूप है।

रीति-काव्य की परम्परा ने शुद्ध काव्य के लिए एक निश्चित मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध काव्यों में या तो इतिहास-ग्रन्थ थे और वे राजा-महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण-गाथा से ओत-प्रोत थे अथवा वे धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थ थे जिनमें धर्मगाथा कही गई हैं। ऐसे ही मुक्तक काव्य नीति उपदेश भरे अथवा स्तोत्र और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। इस रीति-परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि-प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ; क्योंकि उन्हें चारण कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीति-पद्धति पर लिखकर आश्रयदाता को चमत्कृत करने और रिझाने का अवसर मिला। इस प्रकार रीति-परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्त्व है।

हिन्दी-रीति-काव्य के अन्तर्गत संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के समान काव्य के समस्त सिद्धान्तों का डटकर विवेचन और विकास नहीं हुआ। जहाँ संस्कृत में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि सभी को लेकर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गए, वहाँ हिन्दी का रीति-काव्य, अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में सीमित रहा। रीति और वक्रोक्ति को लेकर बहुत कम लिखा गया। 'वक्रोक्ति' एक विशेष अलंकार के रूप में ही सीमित रही और रीति का संकेत-मात्र ही हुआ। हाँ, गुणों की कुछ चर्चा अवश्य रही।

इतना ही नहीं विवेचन की गम्भीरता और पूर्णता भी संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की-सी हिन्दी रीति-ग्रन्थों में नहीं मिलती। हिन्दी के ग्रन्थों में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। ध्वनि को लेकर चलनेवाले ग्रन्थों में सामान्यतः शब्द-शक्ति से प्रारम्भ करके रस और अलंकारों के वर्णन पर समाप्त कर देने वाले ही कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण लिखने वाले ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में हैं;[१] परन्तु परस्पर भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश अथवा अलंकारों के वर्गीकरण के आधारों की गवेषणापूर्ण व्याख्या का सर्वथा अभाव है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी-लक्षणकारों या रीति-ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या

१. विभिन्न विषयों पर लिखे गए ग्रन्थों की विस्तृत सूचना के लिए देखिए 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ ४१

नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था; वरन्, कवियों और साहित्य-रसिकों को काव्य-शास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी-आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह एक तथ्य है कि हिन्दी-काव्य-शास्त्र या रीति-ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य के क्षेत्र में और हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गए ग्रन्थों की संख्या भी बहुत बड़ी है।

रीति-काव्य की प्रेरणा, हिन्दी को अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य से नहीं मिली। उसमें इसकी कोई परम्परा नहीं। दो-एक ग्रन्थ छन्द, व्याकरण आदि पर अवश्य हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रन्थ के बीच में नायिका-भेद, शृंगार आदि का विवेचन है। परन्तु जिस प्रकार भक्ति और वीरगाथा-वर्णन की धाराएँ पहले से आई हैं वैसी धारा अपभ्रंश से रीति-काव्य की नहीं आई। उसकी प्रेरणा देने वाला संस्कृत-साहित्य ही है।

भक्ति-युग के उत्तर-काल में रीति-काव्य की परम्परा पड़ी। इस परम्परा को डालने का श्रेय प्रमुखतया आचार्य केशवदास को है। यद्यपि रीति-काव्य के रूप में केशव के समय या इनके पहले भी कुछ छुटपुट प्रयत्न हुए हैं; परन्तु उन प्रयत्नों में रीति-काव्य को प्रेरणा देने की सामर्थ्य नहीं थी। रीतिकालीन ग्रन्थों में जिन प्रेरणा देने वाली अथवा अध्ययन की आधारभूत रचनाओं का बराबर उल्लेख आता है वे केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' हैं। केशव के पूर्ववर्ती रीति-काव्य के अन्तर्गत कुछ नामों का उल्लेख किया जाता है। इसमें साहित्य के इतिहासकारों ने 'शिवसिंह सरोज'[1] के अनुसार पुण्ड या पुष्य कवि की कृति का सर्वप्रथम ग्रन्थ के रूप में उल्लेख किया है जिसमें सं० ७७० वि० के लगभग भाषा में संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रंथ का अनुवाद किया गया था; परन्तु यह ग्रन्थ किसी को अभी तक देखने को नहीं मिल सका। यदि वास्तव में उस समय का कोई ऐसा ग्रन्थ मिल सके, तो वह न केवल रीति-काव्य का, वरन् हिन्दी का पहला ग्रन्थ ठहरता है।

रीति-काव्य के रूप में लिखा हुआ सबसे पहला ग्रन्थ 'हिततरंगिणी' है। यह रस-रीति का ग्रन्थ कृपाराम के द्वारा सं० १५६८ वि० में लिखा गया था।[2] इसका आधार नाट्य-शास्त्र और भानुदत्त का 'रस-मंजरी' है। मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' (सं० १६१६), रहीम का 'बरवैनायिका भेद' तथा नंददास-कृत 'रस-मंजरी' ग्रन्थ भी उल्लेख की अपेक्षा रखते हैं। ये तीनों नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं। रहीम का नायिका-भेद अवधी बरवै छन्दों में लिखा ललित काव्य-ग्रन्थ है। इसमें लक्षण नहीं, केवल नायिका-भेद के उदाहरण ही हैं।[3] अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास

---

१. 'शिवसिंह सरोज' (भूमिका) पृ० ६

२. सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुक्ल तृतीयासु।
हित तरंगिणी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥ २ हि० त०

३. रहीम के बरवै नायिका-भेद में वस्तु और भाव का सुन्दर संकेतात्मक चित्रण हुआ है। ये बरवै बड़े ही सरस और प्रेरक हैं—दो-एक उदाहरण देखिए—

की 'रस-मंजरी', भानुदत्त की 'रस-मंजरी' का पूर्ण आधार ग्रहण किये हुए है। इस ग्रन्थ में लक्षण ही अधिक हैं जो भानुदत्त के लक्षणों के अनुवाद ही जान पड़ते हैं। मिश्रबन्धुओं के अनुसार नरहरि के साथ अकबर के दरबार में जाने वाले करनेस बन्दीजन के कर्णाभरत, श्रुतिभूषण और भूपभूषण ग्रन्थ और भी अलंकार पर लिखे गए ग्रंथ भी केशव के पूर्व ही लिखे गए। परन्तु, इनमें से कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखने वाला ग्रन्थ नहीं। अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीति-काव्य की परम्परा डालने वाले सबसे पहले आचार्य केशवदास ही हैं।

केशवदास ने भाषा-कवियों के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया जो शुद्ध साहित्यिक रचना का मार्ग था। इसीलिए केशव का महत्त्व—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान—उनके परवर्ती लेखकों ने बराबर स्वीकार किया है। इस नवीन मार्ग को खोलते हुए भी उन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उन्होंने वीरगाथा वर्णन-परम्परा को अपनाते हुए, 'वीरसिंहदेव चरित' तथा 'जहाँगीर जस चंद्रिका' लिखी। ज्ञान और भक्ति-काव्य की परम्परा में 'विज्ञान गीता' और 'रामचन्द्रिका' का प्रणयन किया। साथ ही 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' को लिखकर उन्होंने रीति-काव्य की परिपाटी भी डाली। केशव ने अपनी उपर्युक्त दोनों ही पुस्तकों में काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के विविध रूप, काव्य-दोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि विषयों पर अपने निजी ढंग से प्रकाश डाला है। इनमें यद्यपि विषयों का पूर्ण ज्ञान और प्रामाणिक विवेचन निहित नहीं है परन्तु इनके आधार पर लिखा गया उदाहरणरूप काव्य अवश्य महत्त्व का है। केशव चमत्कार को महत्त्व देने वाले कवि थे और अलंकार-सिद्धान्त पर आस्था रखते थे। उनकी रचनाओं का आधार भामह, दण्डी, उद्भट, अलंकार शेखर, काव्य-कल्पलता आदि हैं। उनकी दृष्टि से प्रकृति की सामान्य वस्तुओं में उतना सौन्दर्य नहीं होता, जितना कि कवि-कल्पना-युक्त उनके वर्णन में आ जाता है। जैसा कि उनके कथन—"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमलचन्द, ताते मुखमुखै सखी कमलौ न चंद री।" कमल और चन्द का काल्पनिक सौन्दर्य प्रत्यक्ष सौन्दर्य से बढ़कर है जब कि सीता के मुख का प्रत्यक्ष सौन्दर्य ही मनोहारी है। उदाहरण-स्वरूप आई केशव की रचना में चमत्कार और रसिकता दोनों ही भरी पड़ी हैं।

सलक्षण रीति-ग्रंथकारों में केशव के बाद चिन्तामणि का नाम आता है। चिन्तामणि का प्रमुख महत्त्व अत्यन्त सरल रूप में साहित्य-शास्त्र की बातों को समझाना है और अपने इस प्रयत्न में वे पूर्ण सफल हुए हैं। मैं समझता हूँ कि लक्षणकारों में से चिन्तामणि से बढ़कर सुगम स्पष्ट और स्मरणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं। यह बात उनके केवल दो-तीन लक्षणों से स्पष्ट हो जायगी। शब्द, अर्थ और काव्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने अपने 'कवि-कुल-कल्प-तरु' में लिखा है—

'जो सुनि परै सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ।' तथा 'बतकहाउ रसमैजु है *काव्य*

उमड़ि उमड़ि घन घुमड़े दिसि विदिसान।
सावन दिन मनभावन करत पयान॥
भोरहि होत कोइलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप॥

कहावै सोय ।" आदि ये ऐसी परिभाषाएँ हैं जो सभी की समझ में आ सकती हैं और स्मरण भी रहती हैं। चिन्तामणि की पद्धति का प्रभाव आगे के कवियों और आचार्यों पर भी पड़ा। इनके ग्रन्थों में उपलब्ध 'पिंगल', 'रस-मंजरी', 'शृङ्गार-मंजरी' तथा 'कवि-कुल-कल्प तरु ही हैं। चिन्तामणि के साथ ही भूषण और मतिराम का भी नाम आता है। चिन्तामणि से बहुत अधिक (अर्थात् पारिवारिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों से) प्रभाव ग्रहण करते हुए भी इन दोनों भाइयों का अपना अलग व्यक्तित्व, महत्त्व और क्षेत्र है। 'नवरत्नकार' ने इन दोनों ही भाइयों को हिंदी-नवरत्नों के भीतर रखा है। साथ-ही-साथ इनकी प्रतिभा की विशेषता यह है कि इनमें से एक ने शृंगार और दूसरे ने वीर-रस का क्षेत्र चुना और अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट कोटि की सफलता प्राप्त की। इन दोनों ही का रीति-परम्परा का आधार ग्रहण करना अत्यन्त गौण था। दोनों ही में विलक्षण कवित्व-प्रतिभा थी। एक का ओजपूर्ण शब्दावली पर असाधारण अधिकार था तो दूसरा कोमल मधुर पदों के द्वारा सूक्ष्म सुकुमार भावों और मनोदशाओं को सजीव कर देने की अद्भुत सामर्थ्य रखता था। दोनों ही के भीतर प्रबन्ध-काव्य की प्रतिभा थी; परन्तु इन्होंने युग की परम्परा और प्रवाहवश रीति-काव्य-रचना को अंगीकार किया और इस परिपाटी को आगे बढ़ाया। रीति-पद्धति को लेकर वीर-काव्य लिखने वाला भूषण के समान दूसरा कवि नहीं, जबकि भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।

सलक्षण ग्रन्थकारों में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम, रीति-काल (१७०० से १६०० सं०) की प्रथम अर्द्ध शताब्दी में उल्लेखनीय हैं। कुलपति का 'रस-रहस्य' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा गया ध्वनि-सिद्धान्त का ग्रंथ है। रीति-कालीन आचार्यों में इनका स्थान ऊँचा है। इनके ग्रंथों में आचार्यत्व की विशेषता अधिक है। सुखदेव मिश्र ने छन्दों और रसों को लेकर लिखा है। इनके ग्रन्थों में आये उदाहरण काव्य की दृष्टि से भी रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं। देव में आचार्यत्व और कवित्व दोनों की ही उत्कृष्टता विद्यमान है। इनके प्रसिद्ध ७२ और देखे सुने २५ ग्रंथों में कुछ को छोड़कर सभी रीति-काव्य के अन्तर्गत हैं। देव के ग्रंथों में विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता देखने को मिलती है। देव ने अपने लक्षणों में काव्य के प्रति अपनी धारणा स्पष्ट की है, इनमें कुलपति या सुखदेव की-सी पठित विद्वता का प्रदर्शन नहीं, परन्तु स्पष्ट दृष्टिकोण और मौलिकता के दर्शन होते हैं।

देव के उदाहरणों में उत्कृष्ट और रमणीय काव्य मिलता है। इनके ग्रन्थों को देखने पर उनमें आये हुए लक्षण, हमारा ध्यान नहीं खींचते, पर उनके उदाहरण हमारी कल्पना में घर कर लेते और अनुभूति पर मार्मिक प्रभाव डालते हैं। किसी वस्तु, दृश्य अथवा भाव को सजीव और साकार बना देना देव के वर्णन की विशेषता है। धीरे-धीरे स्वाभाविक रीति से पड़ता हुआ अन्तःकरण पर, इनके वर्णनों का, ऐसा प्रभाव जम जाता है कि फिर धोये भी नहीं धुलता है। देव को अपने शब्दों की आत्मा की पूरी परख है। शब्दों को एक निजी व्यक्तित्व प्रदान करने, एक चमक और दीप्ति भर देने की अद्भुत कुशलता देव को प्राप्त है। शब्द और वर्गों के भार को तोलकर, उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना देव की विशेषता है। रीति-काव्य के अन्तर्गत देव का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'देव' का एक अनतिप्रसिद्ध छन्द देखिये जिसमें रूपाश्रित, अनन्य प्रेम का चित्रण है—

"देव न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं।
पूरि रही री वहै पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी जो जाइ मिली जल-बूँद ज्यों कूप मैं।
कोर करो नहिं पाइये केहूँ सामइ गईं ब्रजराज के रूप मैं॥

यह तो सामान्य प्रेम की अनन्यता का वर्णन है। एक देव द्वारा 'शृङ्गार' में आये समस्त संचारियों का एक साथ विदग्ध वर्णन देखिये—

वैरागिनि किधौं अनुरागिनि सुहागिनि तू देव बड़भागिनि लजति औ लरति क्यों?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अनखाति, बिलखाति, दुखमानति डरति क्यों?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति, बिचकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साहचरज सराहौं आहचरजि मरति क्यों?

पूर्ण पांडित्य और व्यापक विदग्धता को लेकर मर्मस्पर्शी, ललित काव्य लिखने वाले बिहारी भी इसी बीच के कवि हैं। बिहारी की 'सतसई' रीति-काव्य का अलक्षण-ग्रंथ है, परन्तु इसके भीतर लगभग सभी रीति-पद्धतियों के सुघर उदाहरण मिल सकते हैं। अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, शृङ्गार, नीति, हास्य आदि सब-कुछ 'गागर सागरवत्' इनकी सतसई में भरा हुआ है। बिहारी की रचना में आभामय शब्दों का जितना ऊँचा अनुपात प्राप्त होता है उतना ऊँचा संसार के बहुत कम कवियों में देखने को मिलता है। बिहारी बड़े सजग और सूक्ष्म कलाकार हैं। उनकी पैनी दृष्टि, भाव और सौन्दर्य के न जाने कौन-कौन रूप ढूँढ़ लाती है। दस-बारह शब्दों के दोहे छन्द में पूरे दृश्य को अपनी पूर्ण सुघराई और क्रिया-कलाप के साथ स्पष्ट कर देना बिहारी का जादू है। साथ ही इसमें विशेषता यह है इस प्रकार स्पष्ट किये हुए दृश्य के पीछे दूर तक न जाने कितना व्यापक और भीतरी रूप व्यंग्य से संकेतित होता जाता है कि जिसे देखकर महान् कलाकार की हृदय से सराहना करनी पड़ती है। दो-ही-एक उदाहरण इस अति सुविख्यात कवि के पर्याप्त हैं—

अंग-अंग नग जगमगत दीप सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥
मुँह धोवति, एँड़ी घसति हँसति अनगवति तीर।
घसति न इन्दीवर नयनि कालिन्दी के नीर॥
मानहुँ वा तन अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को किये, भूषन पायन्दाज॥

आदि अनेक दोहों में बिहारी की वाग्विदग्धता और जीवन का अनुभव प्रकट होता है। ऐसे कवि किसी भी युग के गौरव हैं।

'देव' के उपरान्त और आधुनिक युग के पूर्व लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ इस बीच के लक्षणकारों में सुविख्यात कालिदास, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, दूलह, वैरीसाल, पद्माकर, बेनी, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि आदि हैं। इनके द्वारा रीति-काव्य की परम्परा को एक निश्चित और दृढ़ स्वरूप प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य कवियों ने भी इसी रीति-पद्धति का अवलम्बन करके अपनी काव्य-रचना इस युग में की। वास्तव में, वह समय ही ऐसा था कि लक्षण या रीति-ग्रन्थों की न केवल राज-दरबारों में, वरन्

जनता के बीच भी प्रशंसा होती थी। इस समय के कवि के लिए यह आवश्यक हो गया था कि जो-कुछ भी लिखे वह रीति-परम्परा में ढालकर लिखे; तभी उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। उसे रस, अलंकार, नायिका-भेद ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में राज-दरबारों में उदाहरणों पर विवाद होते थे—इस बात पर कि उसके भीतर कौनसा अलंकार है ? कौनसी शब्द-शक्ति है ? कौनसा रस या भाव है ? उनमें वर्णित नायिका, किस भेद के अन्तर्गत है ? काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं में काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिका-भेद को ही स्पष्ट किया जाता था। कवि-गोष्ठियों में भी यही प्रवृत्ति थी। अतः यह युग रीति-पद्धति का ही युग था। और इसमें इससे सम्बन्धित असंख्य ग्रन्थ लिखे गए।

कालिदास का लिखा नायिका-भेद पर 'बधू विनोद' ग्रन्थ अवश्य है; परन्तु इनकी ख्याति विशेष रूप से 'कालिदास हजारा' के कारण है जिसमें कहते हैं कि एक सहस्र कवियों की रचनाओं का चुना हुआ संग्रह था। इस प्रकार की संग्रह-पद्धति सत्साहित्य के प्रचार और साहित्यिक अभिरुचि को जगाने के लिए उस समय आवश्यक थी, जब कि छापेखाने आदि नहीं थे। आज भी उसकी आवश्यकता कम नहीं हुई। सत्काव्य-संग्रहों का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने-अपने ढंग के ऐसे और भी संग्रह हैं जैसे—'हाफिजल्ला खाँ का हजारा', 'सुन्दरीतिलक', 'काव्य प्रभाकर', 'मिश्रबन्धु विनोद', 'कविता कौमुदी' आदि। इनमें कालिदास का हजारा सबसे प्राचीन है।

सूरति मिश्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-सिद्धान्त' है जिसमें काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन अधिकारपूर्ण ढंग से किया गया है। इस काल के अति प्रसिद्ध आचार्यों में श्रीपति और भिखारीदास हैं। श्रीपति का प्रमुख प्राप्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्य सरोज' है, जिसकी रचना सं० १७७७ वि० में हुई थी। इसमें आचार्य श्रीपति ने काव्य-स्वरूप, काव्य-कारण, प्रयोजन, काव्य-कोटि, काव्य-दोष, काव्य-गुण, अलंकार आदि पर विचार किया है। श्रीपति पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों-जैसे ब्रह्म, केशव आदि की रचनाओं के दोषों का निर्देशन किया है। श्रीपति का बहुत-कुछ प्रभाव आचार्य भिखारीदास पर भी है।

सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि' भी बड़ा बृहत्काय ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है जैसे काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष, छन्द आदि। सोमनाथ ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायियों में से हैं और व्यंग्य ही कविता का प्राण मानते हैं। इनकी विवेचना का आधार 'ध्वन्यालोक' और 'काव्य-प्रकाश' विशेष रूप से हैं। सोमनाथ ने पद्य-लक्षणों के साथ-साथ गद्य-व्याख्या भी की। इसके साथ-ही-साथ इनमें कवित्व शक्ति भी अच्छी है। विप्रलम्भ शृङ्गार की उद्वेग दशा का सोमनाथ-कृत एक उदाहरण देखिए—

सीतल बयारि तरवारि सी बहत तैसी लहकनि बेलनि की सूल सरसन लागी।
धरकत छाती घोर घन की गरज सुनि दामिनी की दमक दवा सी दरसन लागी॥
'सोमनाथ' याहू पै करत कमनैती काम कौन विधि जीवोरी विपति बरसन लागी।
जेई पिय संग बरसत ही पियूषधार तेई अब घटा विषधार बरसन लागी॥

सोमनाथ वास्तव में श्रीपति और भिखारीदास के ही समकक्ष ठहरते हैं।

भिखारीदास रीति-काल के अन्तिम बड़े आचार्य हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों का अध्ययन करके काव्य-शास्त्र पर एक बड़ा ही पूर्ण ग्रन्थ लिखा। ये उन आचार्यों में हैं जो कवि प्रतिभा के साथ-साथ उससे अधिक काव्य-शास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे। इसके ग्रन्थों—'काव्य निर्णय', 'शृङ्गार निर्णय', 'छन्दोर्णव विमल' और 'रस सारांश' में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' है यह साहित्य-शास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें दास जी का विवेचन बड़ा ही सुलझा हुआ और वैज्ञानिक है। 'काव्य प्रकाश', 'चन्द्रालोक' तथा विभिन्न हिन्दी-ग्रन्थों के आधार पर यह लिखा गया है। काव्य-प्रयोजन, काव्यांग, पमार्थ-निर्णय, अलंकार मूल, ध्वनि आदि का बड़ा ही गम्भीर विवेचन है। कतिपय नवीन प्रसंग जैसे अलंकारों का वर्गीकरण, काव्य-भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से इनकी विद्वता के साथ-साथ काव्य-शास्त्र के प्रति गहरी रुचि अभिव्यक्त होती है। इसके साथ-ही-साथ 'दास' जी की कवित्व प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी और इनके उदाहरण उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और भाव की दृढ़ता दोनों इस छन्द में देखिए—

पूरब ते पुनि पच्छिम ओर कियो सुर आपगा-धारन चाहैं।
तूलन तोपिकै ह्वै मतिमन्द हुताग्नन दण्ड प्रहारन चाहैं॥
'दास जू' देखि कलानिधि कालिमा छूरिन-छीलि कै डारन चाहैं।
नीति सुनाय कै मो मन तें नन्दलाल को नेह निवारन चाहैं॥

'दूलह' कवि ने अलंकार पर 'कवि-कुल कण्टाभरण' ग्रन्थ लिखा है, जो 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर बड़ा ही प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें लक्षण और उदाहरण एक साथ चलते हैं। ऐसा ही वैरीसाल का 'भाषाभरण' भी अलंकारों पर लिखा गया सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें संक्षिप्त शैली में लक्षण और स्मरणीय उदाहरण देकर अलंकारों का विवेचन किया गया है।

रीति-काल के अन्तिम अति प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के वास्तव में अन्तिम प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इन्होंने भी अपने प्रमुख ग्रन्थ 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' इसी पद्धति पर लिखे। पद्माकर की कविता में रसिकता, सौन्दर्य, प्रेम और विलास का खुलकर चित्रण हुआ है। वर्ण-साम्य और शब्द-मैत्री इनकी कल्पना और भाव को उकसाते हुए जान पड़ते हैं। पद्माकर के मनोरम चित्र बड़े लुभावने हैं। सुन्दर भाव-विलास, हाव-विभाव का मूर्ति-विधान तन्मय कर देने वाला है। हाँ कभी-कभी वर्ण-मैत्री, ध्वनि-साम्य या अलंकार के पीछे पड़ने से अवश्य इनकी शब्द-योजना विचित्र हो गई है; पर इनकी प्रतिभा पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। एक विभावों के बीच विकसित, सात्विक अनुभाव पूर्ण प्रेम का वर्णन देखिये—

चारिहूँ ओर ते पौन झकोर झकोरन घोर घटा घहरानी।
ऐसी समै पदमाकर कान्ह के आवत पीत पटी फहरानी॥
गुञ्ज की माल गुपाल गरे ब्रजबाल बिलोकि थकी थहरानी।
नीरज ते कढ़ि नीर नदी छवि छीजति छीरधि पैं छहरानी॥

बेनी का 'नव रस तरंग' भी काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है, परन्तु लक्षण महत्त्व के नहीं। ये लक्षण, बरवै या दोहों में हैं, उदाहरण कवित्त-सवैयों में। इनके भी उदाहरण बड़े सरस और मधुर हैं। रसिक गोविन्द का 'रसिक गोविन्दानन्द घन' काव्य-शास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें अलंकार, गुण-दोष, नायक-नायिका आदि का विशद वर्णन है। उदाहरण सुन्दर ब्रजभाषा

में हैं। इसमें कहीं-कहीं प्रश्नोत्तरों द्वारा भी अनेक शंकाओं का समाधान किया गया है। इसमें 'नाट्य-शास्त्र', 'साहित्य-दर्पण', 'काव्य-प्रकाश' आदि का आधार लिया गया है। प्रतापसाहि का प्रमुख ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमदी' है जिसमें एक साथ नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार चलते हैं। इस प्रकार यह बड़ा गूढ़ ग्रन्थ है। इन्होंने भी अपनी संक्षिप्त गद्य-व्याख्या कहीं-कहीं प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ भी रीति-पद्धति पर हैं।

लक्षणकारों के अतिरिक्त इस परम्परा पर स्पष्टतया लिखने वाले कवि अधिक नहीं। परन्तु कुछ स्वच्छन्द रीति से लिखने वाले प्रेमी कवि हैं जिन पर इसका कुछ प्रभाव अवश्य कहा जा सकता है। इनमें घनानन्द, बोधा, सीतल, ठाकुर प्रमुख हैं। इनमें हमें स्वच्छन्द प्रेमोक्तियाँ मिलती हैं, जो पद्माकर, मतिराम, देव आदि के छन्दों के समान ही हैं। घनानन्द तो स्पष्टतया ब्रजभाषा के कुशल और विदग्ध कवि हैं। ठाकुर और बोधा के भी छन्द सुन्दर हैं।

रीति-काव्य की परम्परा रीति-काल ही में समाप्त नहीं हो जाती, वरन् आधुनिक समय तक बराबर चलती आ रही है। सं० १६०० वि० के पश्चात् भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए, परन्तु इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें से अधिकांश में गद्य में व्याख्या और लक्षण मिलते हैं और उदाहरण पद्य में। साथ-ही-साथ बहुतों में उदाहरण स्वयं लक्षणकार के बनाये नहीं, वरन् पूर्ववर्ती अथवा समकालीन कवियों की रचनाओं से चुने हुए उदाहरण हैं। आधुनिक युग में विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न अधिक हुआ है और वह प्रयत्न आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। आधुनिक युग के रीति-ग्रन्थों में प्रमुख—रामदास का 'कवि-कल्पद्रुम', ग्वाल के ग्रन्थ ('अलंकार','भ्रम भंजन', 'कविदर्पण', 'रसरंग'), लछिराम के ग्रन्थ, मुरारिदान का 'जसवन्त भूषण', प्रतापनारायण का 'रस कुसुमाकर', भानु का 'काव्य प्रभाकर', पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', रसाल का 'अलंकार पीयूष', केडिया का 'भारती भूषण', हरिऔध का 'रस कलश', बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्य सागर', मिश्रबन्धु का 'साहित्य पारिजात', आदि ग्रन्थ हैं। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त ये पूर्ववर्ती[1] रीति-काव्य के समान ही हैं।

यह संक्षेप में हिन्दी रीति-काव्य का परिचय है। इसकी विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं—(१) इस काव्य में लक्षणों के आधारभूत ग्रन्थ प्रायः संस्कृत काव्य-शास्त्र अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ हैं। (२) इनमें काव्य की विशेषताओं को समझने और समझाने का प्रयत्न है। (३) इनमें सैद्धान्तिक रूप से काव्य-शास्त्र का कोई विकास नहीं हो पाया (४) इनमें सर्वकालीन अथवा युगविशेष की काव्य-सम्बन्धी समस्याओं का भी पूर्ण विवेचन और समाधान नहीं मिलता। (५) इस पद्धति पर आये काव्य के लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण-खण्ड अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए हैं। (६) इस काव्य में आये उदाहरणों में अधिकांश बड़े ही सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। (७) उनमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता; उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। अतएव हम कह सकते हैं कि यह रीति-काव्य शास्त्र की दृष्टि से चाहे उतना महत्त्वपूर्ण न हो, परन्तु कवित्व की दृष्टि से बड़ा ही मनोरम है और हिन्दी-काव्य की इस परम्परा को साहित्य के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', अध्याय ४

प्रकाशचन्द्र गुप्त

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग सन् १८५० ई० से आरम्भ होता है। सन् १८५० भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म-काल है, और आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रथम चरण भारतेन्दु के जीवन से सम्बन्धित है। एक युग के अन्त और दूसरे के आरम्भ के लिए हम कोई तिथि निर्दिष्ट करते हैं, किन्तु दो युगों की सीमाएँ इतनी स्पष्टता से निर्धारित करना बहुत कठिन है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का पहला प्रयास भारतेन्दु के व्यक्तित्व से ओत-प्रोत है, और इतिहासकार उसे भारतेन्दु युग कहते हैं। इस काल-रेखा को हम पीछे भी ले जा सकते हैं, जब पाश्चात्य संस्कृति और आदर्शों के सम्पर्क से भारतीय जीवन में नव-जागरण का स्पन्दन शुरू हुआ। यह सच है कि इस नवोत्थान का सूर्य पहले पूर्वीय भारत के आकाश में उदय हुआ और क्रमशः उसका आलोक हिन्दी प्रदेश में पहुँचा, किन्तु फिर भी आधुनिक युग का इतिहास भारत की सांस्कृतिक नवचेतना से हम शुरू कर सकते हैं। आधुनिक युग की सीमाओं को हम आगे भी ला सकते हैं, जब भारतेन्दु ने साहित्य-निर्माण का कार्य आरम्भ किया। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम महापुरुष थे, अतएव उनके जन्म-काल से नवयुग का सम्बन्ध स्थापित करना स्वाभाविक है। यह हमें अवश्य याद रखना है कि आधुनिक युग हमें मध्य युग की सीमाओं से अलग करता है, और इन दो युगों के बीच रेखा खींचना किसी घटना-विशेष का एक हद तक आरोप ही होगा।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का श्रीगणेश हम सन् १८५७ से भी कर सकते हैं। सन् '५७ विप्लव के बाद ब्रिटिश शासन-सत्ता हमारे देश में अच्छी तरह से जम गई और विरोधी शक्तियाँ एक दीर्घकाल के लिए हतप्रभ हो गईं। आधुनिक युग भारतीय साहित्य में एक नवीन दृष्टि-कोण और नये सिद्धान्तों का युग है; एक नवीन समाज-व्यवस्था का वह प्रतिनिधि और परिचायक है। सन् '५७ के विप्लव के बाद उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ, जो मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थीं। एक दृष्टि से तो हम देखते हैं कि सन् '५७ के बाद विदेशी शासन-सत्ता हमारे देश में अच्छी तरह जम गई, किन्तु हमको यह भी स्मरण रखना है कि इस संघर्ष के फलस्वरूप मध्यकालीन यानी सामन्ती समाज-व्यवस्था और संस्कृति इस देश से लुप्त होने लगी, और एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली की नींव यहाँ जमी। सामन्ती युग का अन्त और आधुनिक युग का आरम्भ इतिहास की एक आवश्यकता थी; हमारे देश के दुर्भाग्य से इस परिवर्तन का माध्यम एक विदेशी शासक-वर्ग बना। यदि अंग्रेज भारत में न आये होते, तो भी यह आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति हमारे देश में अवश्य होती। कुछ विद्वानों का मत है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रान्ति में विलम्ब ही हुआ। हमारे देश में व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि काफी गति से फैल रहे थे, किन्तु अंग्रेजों ने उनका नाश करके हमारी सामाजिक

और आर्थिक उन्नति में एक भारी व्यवधान पैदा कर दिया। यह मत रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' (India Today) में प्रगट किया है।

मध्य युग का अन्त सामन्ती समाज-व्यवस्था और संस्कृति के अन्त की सूचना है। आधुनिक युग व्यावसायिक क्रान्ति और सांस्कृतिक नवजागरण का युग है। इतिहास का यह क्रम विश्व-व्यापी है, यद्यपि देश और काल के अनुरूप नवीन कला और संस्कृति की रूप-रेखा में बहुत अन्तर रहता है। यूरोपीय साहित्य का आधुनिक युग चौदहवीं शताब्दी में शुरू होता है; इस नवजागरण का तत्कालिक कारण ग्रीक संस्कृति से सम्पर्क था, जिसके फलस्वरूप सदियों से सोई यूरोप की आत्मा जाग उठी। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत की साहित्यिक आत्मा जो बँधे सामाजिक जीवन के कारण दीर्घ काल से सो रही थी, नई संस्कृति के संस्पर्श से जाग उठी। किन्तु समाज अथवा साहित्य में उथल-पुथल मूलतः आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप होती है; इसकी कुछ विवेचना यहाँ संक्षेप में होनी चाहिए।

आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नये साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नये परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूँजी से नये उद्योग-धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए। उनका लक्ष्य भारत का आर्थिक शोषण ही था, किन्तु रेल, तार, डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिए खड़े किये, भारत में एक नये जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। भारत के विशाल साम्राज्य को चलाने के लिए उन्हें सस्ते क्लर्कों की भी आवश्यकता थी; इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का भारत में सूत्रपात किया। यह अस्त्र जो उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन चक्र की भाँति उलटकर उन्हीं के मर्म-स्थान पर लगा। अंग्रेजी शिक्षा ने भारत की उर्वरा भूमि पर एक नये विचार-दर्शन के बीज छिटका दिये, जो आगे चलकर बड़े वृक्ष बने और फले-फूले।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य को हम भक्ति-काल और रीति-काल के साहित्य में विभाजित करते हैं। भक्ति-काल का साहित्य जनता का साहित्य है और रीति-काल का साहित्य दरबारों का साहित्य है। तुलसी, सूर, कबीर, दादू, नानक, रैदास की वाणी भारतीय जन-कवियों की वाणी है; इस वाणी को भारत की असंख्य, अशिक्षित जनता समझती थी। इसके विपरीत रीति-काल के साहित्य में सामन्तों की विलास-लीलाओं और यदा-कदा उनकी वीर-गाथाओं का प्रतिबिम्ब है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नये वर्ग की वाणी को मुखरित करता है, जो नवीन शासन-प्रणाली और आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप भारतीय रंगमंच पर प्रवेश कर रहा था। आधुनिक साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का फल है।

इस नये शिक्षित, बुद्धिजीवी वर्ग के सांस्कृतिक प्रतिनिधि राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दिलीपकुमार राय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, हाली, इकबाल, अकबर, सुमित्रानन्दन पन्त, 'निराला', प्रेमचन्द और 'प्रसाद' हैं। यह वर्ग भारत के नवजागरण का नेतृत्व करता है। एक ओर तो यह अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए उत्सुक है, किन्तु दूसरी ओर उस सांस्कृतिक परम्परा का विकास भी चाहता है। यह वर्ग अतीत के स्वप्न में ही उलझा रहना नहीं चाहता, वह भविष्य

पर दृष्टि जमाए है, और नई दिशाओं में आगे बढ़ने का आग्रह रखता है।

हिन्दी का प्राचीन साहित्य विशेष रूप से काव्य-साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य में अनेक नई शैलियों का विकास हुआ, किन्तु इस युग की विशेषता गद्य-साहित्य का अभूतपूर्व विकास है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, उपयोगी साहित्य, इन सभी रूपों का आविर्भाव और उनकी पुष्टि आधुनिक युग में हुई।

आधुनिक युग का साहित्य जीवन से ओत-प्रोत है। रीतिकाल के कवि जीवन से काफी दूर हट गए थे। वे एक साहित्यिक परम्परा का निर्वाह कुशलतापूर्वक कर रहे थे, किन्तु अनेक सीमाओं में उन्होंने अपने-आपको बाँध लिया था। जो पानी थम गया था, मानो आधुनिक युग के आरम्भ से फिर वह निकला और उद्दाम गति से प्रवाहित हुआ। नदी का जल, जो बँधकर ताल बन गया था, फिर बरसात में बाँध तोड़कर बढ़ती सरिता के समान बह निकला।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के आधुनिक इतिहास को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) प्रथम उत्थान, संवत् १९२५-'५०; (२) द्वितीय उत्थान, संवत् १९५०-'७५; (३) तृतीय उत्थान, संवत् १९७५ से प्रारम्भ। इस काल-क्रम को आलोचकों ने (१) भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, और (३) छायावादी युग में भी विभाजित किया है, यद्यपि यह वर्गीकरण युग के व्यक्ति-विशेष के प्रति आग्रह रखता है, और 'छायावाद' केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य के इतिहास से सम्बन्धित है; गद्य-साहित्य पर यह नामकरण नहीं लागू होता।

प्रथम चरण : भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश-द्वार है। इस युग का साहित्य एक हद तक युग-सन्धि का साहित्य है। यह साहित्य हिन्दी के विकास-क्रम को स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाता है। यद्यपि यह युग हमारे साहित्य में क्रान्ति का युग है, किन्तु पुरानी परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए ही वह आगे बढ़ता है।

आधुनिक युग का साहित्य खड़ीबोली का साहित्य है। खड़ीबोली का प्रयोग हिन्दी कविता में पहले भी खुसरो, गंग, सीतल, कबीर आदि कवियों ने किया था, किन्तु अब पहली बार खड़ी बोली पूरे हिन्दी प्रदेश की भाषा बनी, जैसे पहले ब्रजभाषा अथवा अवधी थी। भारतेन्दु युग में खड़ीबोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ, किन्तु इस युग के अनेक कवि अब भी अपने काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे। स्वयं भारतेन्दु का अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में है और हिन्दी कविता की मध्यकालीन परम्परा से काफी प्रभावित है। राजा लक्ष्मणसिंह 'शकुन्तला' के अनुवाद में गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उसका पद्यांश ब्रजभाषा में है। वास्तव में द्विवेदी युग में आकर ही ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस संघर्ष का अन्त हुआ।

खड़ीबोली दिल्ली प्रदेश की भाषा थी। इस कारण हिन्दी और उर्दू का साहित्यिक रूप वह आसानी से ले सकी। ब्रजभाषा में भी कुछ गद्य-रचना हुई थी, किन्तु उसका महत्त्व बहुत कम है। भारतेन्दु युग में अनेक नवीन गद्य-रूपों का विकास हुआ, जिनका माध्यम खड़ीबोली थी। नये रूपों में पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का उल्लेख होना चाहिए। इन साहित्य-रूपों का प्रसार और विकास अब हिन्दी में पहली बार हुआ।

हिन्दी गद्य के प्रवर्तकों में चार प्रथम-पुरुषों के नाम आते हैं, मुन्शी सदासुख लाल,

इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र। मुन्शी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' लिखा, इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान'। इस युग में खड़ीबोली के गद्य की रूपरेखा तैयार ही हो रही थी; उसने पूर्ण प्रौढ़ता आगे चल कर प्राप्त की।

इसी काल में हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलनी भी शुरू हुईं, जिनके कारण गद्य-निर्माण में काफी गति आई। हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' सन् १८२६ में निकला; सन् '५० के बाद पत्र-पत्रिकाओं की एक बाढ़-सी आ गई, जिनमें भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', आदि पत्र भी थे। शुक्लजी ने श्री निवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०) को हिन्दी का पहला उपन्यास माना है। स्वयं भारतेन्दु ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया और खेद प्रगट किया था कि जैसे मौलिक नाटक हिन्दी में लिखे जा रहे थे, वैसे उपन्यास नहीं। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों और पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित 'सामाजिक' उपन्यासों में पुष्ट चरित्र-चित्रण नहीं मिलता। इन उपन्यासों की विशेषता घटना-प्राधान्य है। किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतेन्दु युग ने हिन्दी-साहित्य में इस अभिनव रूप की सृष्टि की और उसे पाला-पोसा।

नाटक हिन्दी में पहले भी लिखे जाते थे। डा० वार्ष्णेय ने अपने इतिहास में मध्य-कालीन नाटकों की एक लम्बी सूची इकट्ठी की है, जिसमें 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'देवमाया प्रपंच', 'विज्ञान गीता', 'रुक्मिणी हरण' आदि के नाम सुपरिचित हैं। इन नाटकों में चरित्र-चित्रण आदि बहुत कम हैं, और नाटक के संकेत, 'प्रवेश' आदि भी नहीं हैं। इनको केवल 'पद्यात्मक वर्णन' कहा जा सकता है। हिन्दी का पहला आधुनिक नाटक गिरिधरदास कृत 'नहुष' (१८५९ ई०) माना गया है। इसके उपरान्त हिन्दी के रंगमंच पर भारतेन्दु अवतीर्ण हुए, जो एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना थी। आपने 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद सन् १८६८ में किया, उसके बाद 'चन्द्रावली' 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'प्रेमजोगिनी' आदि नाटकों की रचना की। आपने नाट्य-शास्त्र पर 'नाटक' नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा और काशी में भारतेन्दु नाटक मण्डली की स्थापना की, जिसके अभिनयों में आप स्वयं भाग लेते थे। भारतेन्दु के नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। यह समन्वय हिन्दी में, सर्वप्रथम भारतेन्दु ने किया। आज की दृष्टि से अवश्य 'चन्द्रावली' अभिनय' के योग्य नहीं ठहरता और भारतेन्दु के अन्य नाटक पारसी रंगमंच की प्रणाली का स्मरण दिलाते हैं।

आलोचना-साहित्य की आधुनिक परिपाटी श्री निवासदास के 'संयोगता स्वयंवर' से शुरू होती है। एक प्रकार से तो सभी मध्यकालीन रीति-ग्रन्थ समालोचना-साहित्य की श्रेणी में आते हैं, किन्तु लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना भारतेन्दु युग से शुरू होती है। भारतेन्दु की 'नाटक' पर रचना भी इसी श्रेणी में आती है। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना-शैली का भी अध्ययन किया और साहित्य में नये आदर्श अपने युग के लेखकों के सामने प्रस्तुत किये। हिन्दी-आलोचना का अभूतपूर्व परिष्कार और विकास आगे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। इस दिशा में पं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी सराहनीय कार्य किया।

इस युग में गद्य-साहित्य के निबन्ध, जीवनी आदि अन्य साहित्य-रूपों का भी अभूतपूर्व

सृजन और विकास हुआ। इनके कुछ संकलन और उदाहरण डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' में उद्धृत किये हैं।

हमने ऊपर कहा है कि भारतेन्दु युग का साहित्य युग-सन्धि का साहित्य है। यह हम इस युग के काव्य में स्पष्ट देख सकते हैं। गद्य-साहित्य में भारतेन्दु युग के लेखक नई भूमि गोड़ रहे थे, किन्तु कविता में हिन्दी की प्राचीन परम्परा उनके सामने थी। इसी परम्परा को उन्होंने विकास के नये पथ दिखाए। भारतेन्दु युग के काव्य में प्राचीन रूपों में नये जीवन की आकुलता है।

प्रकृति, शृंगार, कृष्ण लीला आदि का वर्णन भी भारतेन्दु स्वतन्त्र अनुभूति और भाव-विदग्धता से करते हैं, किन्तु सामाजिक, और राजनीतिक विषयों का समावेश, प्रथम बार उनके युग ने ही हिन्दी-काव्य में किया। तात्पर्य समाज के चित्रण से है, व्यक्तियों के सम्बन्ध में गाई हुई प्रशस्तियाँ अलग श्रेणी में हैं।

भारतेन्दु का गंगा-वर्णन प्रसिद्ध है—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि मोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान विविध भय दूर मिटावत॥ आदि

यह आधुनिक हिन्दी-काव्य में एक नया स्वर था और हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से जीवन की ओर खींच रहा था। अतएव इस वर्णन में कुछ नई ही गम्भीरता और सजीवता है, जो हमें रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ प्रकृति-वर्णन में भी कम मिलती है। इसी प्रकार चन्द्रावली के प्रेम-उद्गार में जो मार्मिकता भारतेन्दु ला सके हैं, वह देव अथवा मतिराम के अतिरिक्त अन्य रीति-ग्रन्थकारों के अलंकार-बोझिल परकीया-वर्णन में दुर्लभ है—

इन दुखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं याते,
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछतायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

ब्रजभाषा-काव्य के महाकवियों में भारतेन्दु अवश्य ही आते हैं। उनके अनेक पदों को स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद ने अपने 'संक्षिप्त सूरसागर' में सूर के पदों की तुलना में रखा है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु का एक गीत लीजिए—

तूं केहि चितवति चकित मृगी सी।
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो, क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी॥

तन सुधि करु उघरत री आँचर, कौन ख्याल तू रहति खगी सी।
उतर न देत जकी सी बैठी, मद पीया कै रैन जगी सी॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिसि, सपने पिय देखत उमगी सी।
भूल बैखरी मृगछौनी ज्यौं, निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी॥
करति न लाज हाट घर बर की, कुल मरजादा जाति डगी सी।
हरीचन्द ऐसिहि उरझी तौ, क्यों नहिं डोलत संग लगी सी॥

किन्तु भारतेन्दु प्राचीन परम्परा के एक विशिष्ट कवि के रूप में ही हमारे सामने नहीं आते, वह एक नवीन परम्परा के सूत्रधार भी हैं। भारतेन्दु युग के कवि सामयिक विषयों पर निरन्तर काव्य-रचना करते थे; यह सामाजिक दृष्टि छायावादी युग में लुप्त हो रही थी, किन्तु दासता और परवशता से व्याकुल देश के कवि अधिक समय तक जीवन से विमुख नहीं हो सकते थे।

भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा' सम्बन्धित गीत सुप्रसिद्ध है। उनके अनेक समकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में यही सामाजिक चेतना दिखाई है। बद्रीनारायण चौधरी 'भारत-वन्दना' में लिखते हैं—

जय-जय भारत भूमि भवानी।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी॥
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी।
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी॥ आदि

यह स्वाभाविक है कि दलित देश के कवि अपने आध्यात्मिक संतोष के लिए अतीत की ओर मुड़ें, और उससे तृप्ति पायें, किन्तु भारतेन्दु युग के लेखक निरन्तर महामारी, अकाल और 'टिक्कस' आदि विपदाओं का उल्लेख अपनी रचनाओं में करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' का विषय ही इस युग के लेखकों की सामाजिक चेतना को बनाया है। 'हिन्दी प्रदीप' में छपी एक होली देखिए—

उफ बाज्यो भरत भिखारी को।
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
कोउ पूछत नहिं पिचकारी को।
बिन धन, अन्न लोग सब व्याकुल,
भई—कठिन बिपत नर-नारी को।
चहुँ दिसि काल पर्‌यो भारत में,
भय उपज्यो महामारी को॥

बद्रीनारायण चौधरी अकाल के सम्बन्ध में लिखते हैं, जो अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण नित्य-प्रति देश में पड़ने लगे थे—

भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा बिपत की कारी॥
सब गए बनज ब्यापार इतै सों भागी।
उद्यम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी॥

अब बची-खुची खेती हूँ खिसकन लागी ।
चारहुँ दिसि लागी है मँहगी की आगी ॥
सुनिये चिलायँ सब परजा भई भिखारी ।
भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी......॥

भारतेन्दु समझते थे कि इस विभीषिका का पूर्ण उत्तरदायित्व अंग्रेजों के शोषण पर है और पहेली के रूप में आप कहते हैं—

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मूसै ।
जाहिर बातिन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अँगरेज ॥

यह प्रवृत्ति हम भारतेन्दु युग के गद्य में भी देख सकते हैं । 'सारसुधानिधि' ने एक लेख में लिखा था—

'टैक्स पर टैक्स, अकाल-पर-अकाल, और मरी-पर-मरी यहीं देखी जाती है । नित्य नये आईनों से बेधा जाता है, और नित्य नई स्पीचों से नमक छिड़का जाता है ।...'

लाइसेंस टैक्स के सम्बन्ध में अर्थ-मन्त्री सर-जॉन स्ट्रैची को सम्बोधित करके 'सारसुधानिधि' ने लिखा था—

'इधर तो तेली-तम्बोली, नाई-धोबी, घसियारे-नालबन्द और हाड़ी-मोची तक कोई न छूटा, पर इधर देखो तो सर-जॉन स्ट्राची साहिब आदि बड़ी-बड़ी तलब और वेतन-भोगी महा-भाग्य महाशयों को इस लाइसन की हवा नहीं लगी ।...'

भारतेन्दु युग के लेखकों ने राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्च कोटि के व्यंग्य और हास्य का भी आश्रय लिया । उस युग की परिस्थितियों में यही जनता का तीव्रतम अस्त्र हो सकता था । 'भारत-मित्र' के सम्पादक की हैसियत से बा० बालमुकुन्द गुप्त ने निरन्तर अंग्रेजों के शासन और सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात किया । पठान-युद्ध के सम्बन्ध में 'भारत-मित्र' की टिप्पणी देखिए—

'अंग्रेजों ने काबुल के ऊँट को बलवान करने के लिए कई बरस से चारा दिया, पर जब उस पर बोझ लादने का विचार किया तब वह दुलत्ती छाँटने लगा । उस पर अंग्रेजों ने उसकी नकेल पकड़ के अपनी तरफ जब जोर से खींचा, तब वह काटने दौड़ा । तिस पर अंग्रेजों ने लाचार होकर चाबुक मारने का बन्दोबस्त किया, किसलिए कि 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी ।'

इन उद्धरणों से हम भारतेन्दु युग की तीव्र राजनीतिक और सामाजिक चेतना का कुछ अनुमान लगा सकते हैं । यह दृष्टिकोण आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विशेषता है । नवयुग के लेखक उस पाठक-वर्ग के लिए लिख रहे थे, जिससे वे स्वयं उत्पन्न हुए थे; उसी के जीवन का प्रतिबिम्ब वे अपनी रचनाओं में भी देते हैं । यह साहित्य सामन्तों के लिए नहीं रचा गया था; इसका पढ़ने वाला एक नया मध्यम श्रेणी का पढ़ा-लिखा वर्ग था । इस युग के साहित्य में श्रृंगार रस का वह प्राधान्य नहीं रहा, जो रीति-काल के साहित्य में था । इसके अतिरिक्त इस युग ने खड़ीबोली को हिन्दी की साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया, गद्य का अभूतपूर्व विकास और प्रसार किया, और नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध आदि अनेक नये साहित्य-रूपों को अपनाया । भारतेन्दु युग अनेक नवीन प्रवृत्तियों का आरम्भिक रूप हमें दिखाता है । अनेक दिशाओं में

उसने कदम आगे बढ़ाए। भारतेन्दु युग का गद्य और काव्य नवीन की आकुलता को तो व्यक्त करता है, किन्तु उसके परिष्कार और विकास की अभी बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आने वाले युगों ने पूरी की, जब काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, आलोचना, आदि सभी रूपों में हिन्दी-साहित्य ने अभूतपूर्व उन्नति की, और 'प्रेमचन्द', 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', 'आचार्य शुक्ल' आदि महान् साहित्यकारों को जन्म दिया।

द्वितीय चरण : द्विवेदी-युग

द्वितीय उत्थान का काल-विभाजन आचार्य शुक्ल ने संवत् १९५० से १९७५ तक किया है। इस युग के प्रधान पुरुषों में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप युग-चेतना पर छोड़ी, अतएव इस युग को द्विवेदी-युग भी कहा गया है। आप एक दीर्घ काल तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे और युग की भाषा और उसके साहित्य की रूप रेखा दृढ़ हाथों से निर्धारित करते रहे। द्विवेदीजी ने खड़ीबोली को काफी माँजा और सँवारा और एक प्रकार से काव्य की भाषा के सम्बन्ध में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के झगड़े का सदा के लिए अन्त कर दिया। इस युग में हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन और विकास हुआ। विशेष रूप से कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में इस युग में नवीन प्रौढ़ता आई। डा० श्री कृष्णलाल अपने इतिहास में इस युग की साहित्यिक 'अनेकरूपता' पर लक्ष्य करते हुए लिखते हैं : "...पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन-खण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य (Ballads)प्रेमाख्यानक काव्य (Metrical Romances) प्रबन्ध काव्य, गीति-काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुईं। समालोचना और निबन्धों की अपूर्व उन्नति हुई।..." ('आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० २)। इस युग में उपयोगी साहित्य की ओर भी हिन्दी लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ। यह आरम्भिक प्रयास था। स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' में विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखते थे, अथवा अनुवाद छापते थे, किन्तु हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम बन सके, इस परिस्थिति से हम कोसों दूर थे। इस दिशा में कदम अवश्य हमने बढ़ाया।

इस युग के लेखकों पर पाश्चात्य विचार-धाराओं और साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी प्रेरणा भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा न थी। वे अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए नये माध्यम और मार्ग खोज रहे थे। इन लेखकों की प्रेरणा व्यक्तिवादी थी : वे अपने स्वतंत्र अनुभव के बल पर कल्पना की उड़ान लेते थे। रीति-काल के शास्त्रीय और परम्परावादी साहित्य से भिन्न उनकी सृजन-प्रेरणा थी। भारतेन्दु युग की तुलना में इन लेखकों ने अपनी कला का शृंगार भी किया, किन्तु फिर भी इनके भावों, अनुभूति और कल्पना में गम्भीरता और गहराई की कमी है। यह कमी छायावाद ने पूरी की। भाषा का परिमार्जन और परिष्कार अवश्य इस युग में हुआ। जो रास्ता आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने भारतेन्दु युग में पकड़ा, उस पर द्विवेदी युग ने हमें आगे बढ़ाया। साहित्य के विविध रूपों का विकास और प्रस्फुटन इस युग में हुआ, किन्तु लक्ष्य से हम अभी दूर थे। इस युग को हम 'रोमांटिक' अथवा 'स्वच्छन्दशील' युग भी नहीं कह सकते। इस युग के लेखकों में न तो वह कल्पना-विलास था जिसका द्योतक 'रोमाण्टिक' शब्द है, न वह निरंकुशता अथवा उतावलापन था जिसका अनुमान 'स्वच्छन्दता' से होता है। इन विशे-

षणों का प्रयोग छायावादी लेखकों के सम्बन्ध में ही हो सकता है।

इस युग की प्रेरक-शक्ति यदि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे—जिन्होंने व्याकरण के प्रति अपने आकर्षण को और अपनी कल्पना की शुष्कता को एक साथ ही युग पर आरोपित किया—तो बा० मैथिलीशरण गुप्त इस युग-शक्ति के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि थे। गुप्तजी अनेक छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य आदि अब तक लिख चुके हैं। इनमें प्रवाह है, गति है, गंभीरता है और एक हद तक गहराई भी है। 'साकेत' और 'यशोधरा' के अनेक स्थल इसका प्रमाण हैं। गुप्तजी अपने प्रथम महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ 'भारत-भारती' में देश के बीते वैभव पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी वर्तमान दुर्दशा पर आँसू बहाते हैं। यह 'भारत दुर्दशा' की परम्परा का ही निर्वाह और विकास है। अन्य ग्रन्थों में गुप्तजी प्राचीन गाथाओं को पद्य-बद्ध करते हैं। आप भक्त कवि हैं और 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम को अपना उपास्य-देव मानते हैं। इस विचार-दृष्टि का समर्थन 'साकेत', 'पंचवटी' आदि काव्य-ग्रन्थों में हुआ है। द्विवेदी युग की सफलता और असफलता दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। खड़ीबोली का साहित्यिक रूप अब सुस्पष्ट और मधुर हो गया है, उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता आ रही है, किन्तु फिर भी इस भाषा में एक अटपटापन शेष है जिसका अन्त छायावादी कवियों ने किया। इन सभी गुणों का प्रदर्शन हम 'झंकार' की इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घर लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

अथवा, 'साकेत' की इन पंक्तियों में—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।

गुप्त जी के काव्य का मधुरतम रूप हम 'मातृभूमि' सदृश कविताओं में देखते हैं—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दी जन खग वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाषा में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मकता और गुरुता है; इनकी कल्पना अधिक गतिमय और अनुभूति अधिक तीव्र है। किन्तु आप किसी एक शैली को न अपना सके और निरन्तर प्रयोग करते रहे—कभी ठेट हिन्दी से, 'चुभते' और 'चोखे चौपदों से' कभी ब्रजभाषा से, कभी संस्कृत पदावली से पुष्ठ और अलंकृत खड़ीबोली से। आप किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे और शायद आपके साहित्यिक जीवन की यही

सबसे बड़ी पराजय रही। आपका 'प्रिय प्रवास' हिन्दी का पहला सफल महाकाव्य है। और अवश्य ही हिन्दी के इतिहास का एक पथ-चिह्न। 'प्रिय प्रवास' का विषय गोपियों की विरह-कथा है, जिसका वर्णन कवि ने अद्भुत सफलता और चमत्कार से किया है। किन्तु यह विषय-निर्वाचन हमें स्मरण दिलाता है कि हमारे कवि निरन्तर प्राचीन आख्यानों की ओर मुड़ रहे थे और उनसे प्रेरणा पा रहे थे। 'हरिऔध' के प्रकृति-वर्णन में कितनी मार्मिकता और अनुभूति है, यह 'प्रिय प्रवास' के प्रथम सर्ग से हम देख सकते हैं—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखाओं पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम-वृन्द का।
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा-विहगावली।
उड़ रही नभ मंडल मध्य थी॥

'हरिऔध' जी ने संस्कृत के अतुकान्त छन्दों को पुनः प्रचलित किया। विषय-वस्तु का इन छन्दों में बहुत सफल निर्वाह हुआ है। अनेक स्थलों पर तीव्रतम अनुभूति कवि ने सरल और मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त की है। यशोदा के विलाप का एक स्थल लीजिए—

मृदु किशलय ऐसा पंकजों के दलों सा।
वह नवल सलोने गात का तात मेरा॥
इन सब पवि ऐसे देह के दानवों का।
नहिं कर सकता था नाश कल्पान्त में भी॥
पर हृदय हमारा ही हमें है बताता।
सब शुभ फल पाती हूँ किसी पुण्य ही का॥

हिन्दी के आधुनिक साहित्य में पौराणिक पुनरावृत्ति केवल एक धारा है; अधिकतर लेखक आधुनिक समस्याओं की ओर मुड़ते हैं, यह 'भारत-भारती' आदि से स्पष्ट है। पं० श्रीधर पाठक ने अपने काव्य का एक बड़ा अंश अंग्रेजी के अनुवादों को प्रदान किया। आश्चर्य यह है कि अनुवाद के लिए आपने गोल्डस्मिथ की कविता को चुना। आपने 'काश्मीर सुषमा' आदि स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना भी की। द्विवेदी युग के प्रकृति-वर्णन की शैली का एक उदाहरण हम नीचे देते हैं—

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सुवि-
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

इस वर्णन में प्राचीन साहित्यिक संस्कारों से कवि की कल्पना मुक्त हो चुकी है और वह अपनी

भाव-व्यञ्जना के लिए स्वतन्त्र शैली, शब्द-विन्यास, उपमाओं आदि की सृष्टि करता है। द्विवेदी युग में अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने नये कवियों और लेखकों को साहित्य-रचना की प्रेरणा दी। इनमें 'सरस्वती' का महत्व सभी से अधिक बढ़-चढ़कर था। इस युग के जिन कवियों ने विशेष ख्याति प्राप्त की, इनमें श्री सियारामशरण गुप्त, डा० गोपालशरण सिंह, पं० रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० सत्यनारायण, 'सनेही', 'एक भारतीय आत्मा' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ कवि ब्रजभाषा की परम्परा से अभी तक सम्बन्ध बनाए हुए थे।

द्विवेदी युग में गद्य-साहित्य का भी समुचित प्रसार हुआ। वास्तव में द्विवेदी युग गद्य का ही युग था। उसने दर्जनों कवियों को प्रेरणा अवश्य दी, जो हिन्दी-साहित्य के शृङ्गार हैं। किन्तु इस युग के महारथी भाषा को गढ़ने और निखारने में विशेष रूप से तल्लीन थे। उनकी कल्पना और भावनाओं में अधिक ऊँचे उड़ने की अथवा गहराई में पैठने की क्षमता न थी। द्विवेदी युग में समालोचना-साहित्य का सन्तोषजनक विकास हुआ। स्वयं द्विवेदीजी उच्च कोटि के आलोचक और सम्पादक थे। आपकी सर्वोत्कृष्ट समालोचना कालिदास और संस्कृत के अन्य कवियों से सम्बन्धित थी। द्विवेदीजी हिन्दी की नई पुस्तकों की भी निरन्तर खरी आलोचना करते थे, जिसमें भाषा-सम्बन्धी भूलों की अधिक चर्चा रहती थी। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' और हिन्दी का सुप्रसिद्ध 'इतिवृत्तात्मक' इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' लिखा। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर अपनी प्रसिद्ध आलोचना लिखी। इस विषय पर सबसे गम्भीर पुस्तक पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र की रचना 'देव और बिहारी' थी। यह आलोचक प्राचीन साहित्य-शास्त्र का ज्ञान रखते थे, किन्तु आधुनिक पाश्चात्य समालोचना-विज्ञान से भी वे परिचित थे। इस प्रकार हिन्दी आलोचना को आधुनिक रूप देने में उनकी रचनाओं का काफी हाथ रहा।

नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध में भी इस युग के लेखकों ने भारतेन्दु युग की परम्परा का विकास किया। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ टाकुर के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में खूब निकल रहे थे, किन्तु अभी तक हिन्दी में किसी स्वतन्त्र नाट्य-परम्परा का निर्माण न हो सका था। गोपाल राम गहमर जासूसी उपन्यास लिख रहे थे और बाबू देवकीनन्दन खत्री तिलिस्मी उपन्यास। अनुवादों की भरमार थी, जिसका तृतीय उत्थान के उपन्यास-साहित्य पर अवश्य ही गहरा प्रभाव पड़ा होगा। इस युग के मौलिक उपन्यासकारों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, जिनकी संख्या ६५ कही जाती है। किन्तु इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि में अभी बहुत उन्नति और प्रौढ़ता की गुँजाइश थी।

द्विवेदी युग तैयारी का युग था। भारतेन्दु युग ने भूमि गोड़ी और बीज-वपन किया। द्विवेदी युग में अनेक तरु-लताओं से उपवन लहलहाने लगा था, किन्तु तृतीय उत्थान में शुक्ल जी, प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी वर्मा ने समान उच्चतम कोटि के साहित्य-कार हिन्दी ने उत्पन्न किये। इन पर किसी भी साहित्य और युग को गर्व हो सकता है। द्विवेदी युग उस अस्त्र को चमका रहा था और पैना कर रहा था, जिसका तीसरी पीढ़ी के कलाकारों ने कुशल हाथों से प्रयोग किया। हिन्दी की आधुनिक साहित्य-शैली का निर्माण हो चुका था और अनेक उत्कृष्ट कलात्मक प्रयास भी उसके माध्यम से हुए, किन्तु पूर्ण विजय तीसरी पीढ़ी के लेखकों

द्वारा हमें मिली।

द्विवेदी युग हमारे देश में गहरी सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। इसी काल-खण्ड में प्रथम यूरोपीय महासमर हुआ जिसने यूरोपीय समाज-व्यवस्था को किसी 'प्रबल झंझावात' से झकझोर दिया। काँग्रेस की नींव पड़ चुकी थी और भारतीय राष्ट्र अपनी स्वाधीनता की यात्रा में आगे बढ़ रहा था। इस राजनीतिक भूचाल का प्रभाव तृतीय उत्थान के लेखकों पर आगे चलकर पड़ा। आधुनिक साहित्य की एक प्रमुख भावना देश-प्रेम की भावना है; इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की रचनाओं में हुई। यद्यपि छायावादी कवियों की अपेक्षा प्रथम दो पीढ़ियों में कलात्मकता—भारतेन्दु आदि कुछेक अपवादों को छोड़-कर—कम है, किन्तु इन युगों की प्रेरणा बहिर्मुखी अधिक है। जिस राष्ट्रीय परम्परा का उत्थान 'भारत-दुर्दशा' से हुआ, उसका द्विवेदी युग में पोषण 'भारत-भारती' तथा 'एक भारतीय आत्मा', 'त्रिशूल', 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि की रचनाओं में हुआ। छायावादी युग में यह धारा सरस्वती के समान कुछ काल के लिए भूमि में खो गई, किन्तु पिछले वर्षों में फिर एक बार पृथ्वी को फोड़कर हिन्दी-काव्य की त्रिवेणी में मिली है। द्वितीय उत्थान के राष्ट्रवाद का विकसित रूप हम 'नवीन' की रचनाओं में देख सकते हैं। आपकी प्रेरणा गान्धीवाद से विशेष स्पन्दित हुई है और आप उन प्रतिभाओं में हैं, जो द्वितीय उत्थान में अवतरित हुईं और तृतीय में चमकीं। 'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ' शीर्षक रचना में आप लिखते हैं—

> नियम और उपनियमों के ये
> बन्धन टूक-टूक हो जाएँ,
> विश्वम्भर की पोषक वीणा
> के सब तार मूक हो जाएँ,
> शान्ति-दण्ड टूटे, उस महा-
> रुद्र का सिंहासन थर्राये,
> उसकी श्वासोच्छ्वास-दाहिका
> जग के प्राङ्गण में घहराये,
> नाश ! नाश !! हाँ महानाश !!! की
> प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
> कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
> जिससे अङ्ग-अङ्ग झुलसाएँ...'

यह सब उत्तराधिकार लेकर तृतीय उत्थान के कलाकार आगे बढ़े। जिस उच्च कोटि का साहित्य तीसरी पीढ़ी के लेखकों ने रचा, उसकी तुलना इतिहासकारों ने भक्ति-काल के साहित्य से की है। तृतीय उत्थान को इस दृष्टि से हम फसल का समय कह सकते हैं।

तृतीय चरण : नव यौवन

तीसरे युग में 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', और 'गोदान', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'स्कन्द-गुप्त', 'कामायनी', 'आँसू', 'पल्लव', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'अनामिका', 'गीतिका', 'परिमल', 'कुकुरमुत्ता', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' और 'दीपशिखा', आचार्य शुक्ल के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ और अनेक नये कलाकारों की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आईं। इस युग

में आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रौढ़तम रूप हमारे सामने आता है। यह युग काव्य में छायावाद का युग, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में 'प्रसाद' और आलोचना में शुक्लजी का युग है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग साम्राज्यवाद की पराजय का युग है। प्रथम महासमर ने साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव पूँजीवाद को जड़ से हिला दिया था। भारतवर्ष में जनता ने पहली टक्कर विदेशी शासन-सत्ता से ली। यह नवीन उल्लास हम अपने साहित्य-सृजन में भी देखते हैं। जो राष्ट्रीय नवजागरण भारतेन्दु युग में शुरू हुआ था, उसका अन्तिम चरण इस युग का साहित्य है।

शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं कि इस युग में विदेशी साहित्य और विचार-धाराओं का बहुत प्रभाव हिन्दी-साहित्य के विकास पर पड़ा, किन्तु हम समय की इस दूरी से कह सकते हैं कि यह प्रभाव अस्वस्थ अथवा गतिरोधक नहीं था। कुछ व्यक्तियों के नये विवाद अथवा वाद चलाने या साहित्यालोचन में नई शब्दावली के प्रयोग से हमारे साहित्यिक विकास की धारा को कोई आघात नहीं पहुँचा। शुक्लजी 'क्लासिकल', रोमांटिक, आदि शब्दों के अनधिकार प्रयोग के पक्ष में नहीं। उन्हें 'छायावाद' शब्द पर भी आपत्ति थी, किन्तु साहित्य-प्रेरणा को किन्हीं विशेष छंदों में भी बाँधकर सदा के लिए नहीं रखा जा सकता।

तृतीय उत्थान एक दृष्टि से विचित्र साहित्यिक युग है। इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, आलोचना पुरातनवादी और शास्त्रीय है—इस युग के सर्वश्रेष्ठ आलोचक की गति तो यही थी—कविता 'रोमांटिक' है। इसे हम युग की बहुमुखी प्रतिभा कह सकते हैं, अथवा यह भी कि हमारे उपन्यास में अपेक्षाकृत अधिक जागरूकता और सामाजिक चेतना थी।

हिन्दी का कथा-साहित्य प्रेमचन्द की रचनाओं में पूर्ण वयः प्राप्त करता है। प्रेमचन्द के प्रथम प्रयास, 'सेवा-सदन' और 'सप्त-सरोज' ही हिन्दी के कथा-साहित्य में नवीन गम्भीरता और गहराई लाए। ऐसा कम ही होता है कि किसी साहित्यकार की आरम्भिक रचनाएँ ही उसकी प्रौढ़तम रचनाएँ हों। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गबन' 'मानसरोवर', अथवा 'गोदान' के समान उच्च साहित्यिक श्रेणी की ही रचनाएँ 'सेवा-सदन' और 'सप्त-सरोज' थीं। इस साहित्य में रोचकता और कलात्मकता के साथ-साथ तीव्रतम सामाजिक चेतना भी है। प्रेमचन्द को कथा-वस्तु पर पूर्ण अधिकार रहता था; चरित्र-चित्रण की जटिलता और गहराई में वह आसानी से उतरते थे; उनकी भाषा में साहित्यिकता के साथ-साथ प्रवाह और सरलता के गुण भी थे; किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रेमचन्द ने एक जनवादी दृष्टिकोण अपनाया। वह सामाजिक कुरीतियों पर अपने पूरे बल से आघात करते थे और राजनीतिक और आर्थिक दोहन का अन्त कर देना चाहते थे। प्रेमचन्द की रचनाएँ हिन्दी जनता की साहित्यिक क्षुधा को तो शान्त करती ही थीं, किन्तु उसकी अन्तश्चेतना को भी जगाती थीं। प्रेमचन्द प्रत्येक अर्थ में जनता के कलाकार थे। उनका साहित्य परिमाण में काफी है, किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य से वह असमय ही चल बसे। फिर भी हिन्दी-साहित्य में उन्होंने एक बड़े अभाव की पूर्ति की और एक महत्त्वपूर्ण कला-रूप पर हिन्दी की मुहर सदा के लिए लगा गए। पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक और श्री सुदर्शन भी प्रेमचन्द के अनुवर्ती थे और कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की तरह ही उदार, यथार्थवादी

परम्परा का पोषण करते रहे।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकार श्री जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल नये पथों का अनुसरण करते हैं। प्रेमचन्द ने भारतीय किसान को साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि भारत के ग्राम-जीवन पर लगी थी। किन्तु नये कथाकारों ने अपना ध्यान मध्यम श्रेणी के जीवन पर केन्द्रित किया, जिसके अंग वे स्वयं थे, और वे नगरों की ओर मुड़े। इस नवीन भूमि को गोड़ना भी आवश्यक था और नये कथाकारों ने अनन्य सफलता से अपना कर्तव्य निबाहा। जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र' और 'कल्याणी' मध्यवर्ग की वेदना और विफलताओं का कुशल और मार्मिक चित्रण हैं। भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में अतीत का सफल चित्र खींचा और ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा को पुष्ट किया। इस दिशा में श्रीवृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुँडार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इधर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, श्री यशपाल और रांगेय राघव ने भी ऐतिहासिक उपन्यास को महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रदान की हैं।

हिन्दी-नाटक को इस काल-खण्ड में 'प्रसाद' ने अपनी स्मरणीय रचनाओं से समृद्ध बनाने का प्रयास किया। हिन्दी-साहित्य का यह अंग अपेक्षाकृत कम विकसित है। इसका कारण यही हो सकता है कि हिन्दी में अभी तक कोई स्वस्थ रंगमंच की परम्परा नहीं है। भारतेन्दु नाटक मण्डली और व्याकुल नाटक मण्डली ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया था, किन्तु यह परम्परा सर्वथा आधुनिक किसी प्रकार नहीं थी। इनका कथोपकथन पद्यबद्ध अथवा काव्य-बद्ध होता था और बीच-बीच में गीतों की भरमार रहती थी। इस प्रकार की नाट्य-परम्परा आधुनिक भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व किस प्रकार कर सकती थी? इसी परम्परा का अत्यन्त दूषित रूप हम व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के खेलों में पाते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में उच्च कोटि की साहित्यिकता है, किन्तु कथोपकथन में वह गति और प्रवाह नहीं, जो दर्शक का ध्यान निरन्तर अपनी ओर आकर्षित रखे। 'प्रसाद' की शैली संस्कृत शब्दावली से अधिक बोझिल है। साधारण जनता उनके नाटकों का रस उठाने में असमर्थ रहती है। उनके अभिनय के लिए एक उच्च श्रेणी की साहित्यिक दर्शक-मण्डली होनी चाहिए। इधर 'प्रसाद' के नाटकों के दो अभिनय प्रयाग विश्वविद्यालय में हुए थे। उनके अनुभव से इस आलोचना की पुष्टि होती है। 'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास का गहरा मनन और अध्ययन, कथा-वस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण और गहरी अनुभूति आदि गुण हमें मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी नाटक में एक बड़े अभाव की पूर्ति 'प्रसाद' ने की। अन्य नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा, 'प्रेमी', पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाट्यकारों ने आधुनिक नाट्य-शैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, कथानक और कथोपकथन के अविरल प्रवाह के लिए अनावश्यक काव्यमयता का वे बहिष्कार करते हैं। इन नाट्यकारों ने देश और काल से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं को भी अपने नाटकों में प्रश्रय दिया।

हिन्दी में रंगमंच की एक स्वस्थ परम्परा कॉलिज, विश्वविद्यालय आदि के छात्रों और अन्य अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों द्वारा बन रही है। इस सम्बन्ध में एकांकी नाटक का विकास महत्त्वपूर्ण है। डा० रामकुमार वर्मा ने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का अध्ययन किया है, और रंग-

मंच की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार लिखने का प्रयत्न किया है। आपके नाटकों में काव्य का पुट और बोझिल संवाद कथानक के प्रवाह में अवरोध डालते हैं। आजकल अनेक नाटककार एकांकी लिख रहे हैं; इनमें श्री भुवनेश्वर का 'कारवाँ', जगदीशचन्द्र माथुर का संग्रह 'भोर का तारा' और श्री 'अश्क' के संग्रह विशेष उल्लेख योग्य हैं। इधर भारतीय जन-नाट्य-संघ ने रंगमंच की परम्परा को विकसित करने का प्रयत्न किया है। संघ की बम्बई शाखा ने अनेक सफल प्रदर्शन बम्बई की हिन्दी जनता के सामने किये हैं। इनमें 'अश्क' के एकांकी 'तूफानों के बीच' का अभिनय साम्प्रदायिक वैमनस्य कम करने के प्रयास में हुआ था।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक का भण्डार इस हद तक भरा-पूरा नहीं है जैसा हम कविता, उपन्यास, आलोचना आदि साहित्य के अन्य अंगों में देखते हैं।

समालोचना को इस युग में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली। शुक्ल जी भारतीय साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य समीक्षा विज्ञान से समान रूप से परिचित थे। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी। वह बड़ी खोज और परिश्रम के बाद सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना करते थे। उनके तुलसी, सूर और जायसी के अध्ययन और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' महान देन हैं। इन रचनाओं में बहुत गहरी, गम्भीर और निष्पक्ष आलोचना है। किन्तु शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति आधुनिक साहित्य की परख के लिए सर्वथा उपयुक्त नहीं है। उदाहरण के लिए पं० सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य का शुक्लजी द्वारा विश्लेषण देखिए—

"'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अंग्रेजी कविताओं से लिये हुए भाव और अंग्रेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत से मिलते हैं। कहीं-कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिए रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनों के बाल' आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, जैसे मधुबाल, मधुपों के बाल। शब्द का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी प्रायः मिलता है। कहीं-कहीं वैचित्र्य के लिए एक ही प्रयोग में दो-दो लक्षणाएँ गुंफित पाई जाती हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर जाना पड़ता है, जैसे 'मर्म पीड़ा के हास' में। इसी प्रकार कहीं-कहीं दो-दो अप्रस्तुत भी एक में उलझे हुए पाए जाते हैं, जैसे 'अरुण कलियों से कोमल घाव'·····।" (इतिहास, परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ २३८-३९)

नवीन जीवन और प्राणों से आकुल काव्य पर यह एक प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि का आरोप है। कवि की नवीन भाव-प्रवणता ग्रहण करने में असमर्थ आलोचक लक्षणा और व्यञ्जना की चर्चा करता है, और इस काव्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। इसी प्रकार शुक्लजी प्रेमचन्द से शिकायत करते हैं कि उन्होंने जमींदारों के प्रति न्याय नहीं किया है। शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को अभूतपूर्व विदग्धता और गहराई दी, किन्तु आपकी शास्त्रीय दृष्टि प्राचीन कवियों की विवेचना में जिस सूझ का परिचय देती है, आधुनिक साहित्य की परीक्षा में नहीं।

नये साहित्य की परीक्षा के लिए, जो आधुनिक भारतीय जीवन को व्यक्त करता है, नई दृष्टि के समीक्षकों की आवश्यकता थी। वह दृष्टि शुक्लजी के उत्तराधिकारी आलोचकों को प्राप्त थी। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रो० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान और डा० रामविलास शर्मा आदि तृतीय उत्थान के आलोचक शास्त्रीय-ज्ञान के साथ-साथ आधुनिक साहित्य के प्रति एक अधिक उदार भावना भी रखते हैं, और उनकी

साहित्यिक परख अधिक सच्ची है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सबसे ऊँची उड़ान प्रेमचन्द का कथा-साहित्य, शुक्ल की समालोचना और छायावादी काव्य है। छायावाद ने आधुनिक काव्य-परम्परा को विकसित और परिमार्जित किया, उसके रूप को निखारा और सँवारा और उसके प्राणों में नई प्रेरणा भरी। छायावादी काव्य में भावों की कोमलता, अनुभूति की गहराई और जीवन के प्रति एक संवेदना है, जो भक्तिकाल के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। कल्पना की यह सहज माधुरी और सुकुमारता तो छायावादी काव्य की ही विशेषता है। छायावाद ने हिन्दी-काव्य को एक नवीन, परिष्कृत भाषा दी, जिसकी तुलना, मधुरिमा और सौष्ठव में केवल रीतिकाल की परिमार्जित भाषा से हो सकती है।

छायावाद अन्तर्मुखी, गीति-काव्य की नवीन परम्परा है। इसका नामकरण 'छायावाद' इसलिए हुआ कि यह काव्य बहिर्जगत् की कुरूपता को भूलकर किसी अव्यक्त सौन्दर्य की खोज करता है। छायावाद का जग गोधूलि के आलोक और छायाओं से झिलमिल है, और उसमें दूर कुछ खोजते हुए का भाव है। उसके स्वर में एक पीड़ा और क्रन्दन है, जिसे हम सन् '२० से '३० तक के संघर्षों को स्मरण कर कुछ समझ सकते हैं। छायावाद रात्रि के आँचल में छिपे प्रियतम को खोजता है, ऊषा की स्वर्ण-किरणों से विहार करते उसे देखता है, किन्तु उसे बाँधकर रोक नहीं सकता। वह निरन्तर इस वेदना को काव्य में स्थान देता है।

पथ देख बिता दी रैन,
मैं प्रिय पहचानी नहीं!
अथवा—**तुम्हें बाँध पाती सपने में।**

यह विचार-विन्यास हमें निरन्तर अंग्रेजी और बँगला कवियों की कल्पना का स्मरण दिलाता है, किन्तु आधुनिक जीवन के प्रति कवि की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इस काव्य को हम 'रोमांटिक' कहते हैं, क्योंकि इसमें पार्थिव जीवन से विमुखता और अदृश्य जग के प्रति आकर्षण है। यह काव्य जीवन के छिपे, अव्यक्त सौन्दर्य को खोज निकालना चाहता है।

छायावादी कवि अपने आरम्भिक प्रयोगों में अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत थे, यह 'निराला' की 'बादल', पन्त की 'परिवर्तन' आदि कविताओं से स्पष्ट है। 'निराला' सदियों से जकड़े 'हृदय-कपाट' को 'कठिन प्रहार' कर-करके खोलना चाहते हैं। आप देश को नव-जागरण का सन्देश सुनाते हैं—

जागो फिर एक बार!
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती-रति रवि कण्ठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के
बीते दिन पक्ष-मास,

वर्ष कितने ही हजार।
जागो फिर एक बार!

पन्त की कविता 'परिवर्तन' हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय परम्परा की ही एक कड़ी है। इस परम्परा के एक छोर पर 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-भारती' आदि हैं, और दूसरी ओर 'युग-वाणी', 'ग्राम्या' और 'कुकुरमुत्ता'।

छायावाद गीति-काव्य का युग है। इस युग के महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्य उसकी प्रमुख धारा के ही कुछ निखरे अंग हैं। 'कामायिनी' महाकाव्य का रूप रखते हुए भी वास्तव में चिन्ता, प्रलय आदि विषयों पर कथा के धागे में पिरोए गीतों की एक लड़ी है। गीति-काव्य व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होता है। छायावादी कवि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। मध्यकालीन कला और साहित्य की प्रेरणा एक बड़ी हद तक सामूहिक और सामाजिक होती है, वह कुछ विशेष साँचों में ढलती है। इसका उदाहरण भारतीय चित्रकला, संगीत, स्थापत्य और काव्य सभी में मिलता है। आधुनिक समाज-व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक बन्धनों से एक हद तक मुक्ति पाता है; पुराने सामन्ती सम्बन्ध टूट जाते हैं; कला में कलाकार का अहम् अधिकाधिक व्यक्त होने लगता है। 'निराला' लिखते हैं—

मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल—
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर;
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद।...(अनामिका)

कवि की अहम्वादिता पहले इस प्रकार विश्व पर आरोपित होती है, जिसको वेदान्त और रहस्यवाद भी कहा गया है; अधिक गहरी और अन्तर्मुखी होकर यह गीति-काव्य की प्रेरणा बनती है और छायावादी कवियों की अद्भुत सृजन-शक्ति का कारण बनती है। 'प्रसाद' के 'आँसू', 'लहर' और 'कामायिनी' से शुरू होकर यह धारा पन्त और निराला के काव्य में प्रवाहित हुई है और श्रीमती महादेवी वर्मा के अश्रु-विनिर्मित काव्य में विलीन होती है। इस धारा के साथ हिन्दी के और भी अनेक आधुनिक कवि बहे हैं, जिनका विवरण यहाँ सम्भव नहीं।

छायावाद कोमल, रेशमी ताना-बानों से बुना हुआ काव्य है। वह आधुनिक हिन्दी-काव्य को नई कलात्मक मंजिल पार कराता है। सुन्दर शब्द-विन्यास, कल्पना-विलास, तीव्र अनुभूति आदि गुणों से यह काव्य सुशोभित था। यह काव्य आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रौढ़ता और उसके सौष्ठव का द्योतक है। छायावाद का उत्तराधिकार जिन कवियों ने ग्रहण किया, वे अहम्वादी, दुःखवादी और प्रयोगवादी हैं। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी उन्हीं के साहित्य में यथार्थ-वाद और समाजवाद के रूप में निहित है।

नई पौध

सन् '३० के लगभग ही कवियों की एक नई पीढ़ी शुरू होती है, जिसे श्रीयुत नगेन्द्र शर्मा 'छायावाद का उत्तरार्द्ध' कहते हैं। इस नई पीढ़ी के कवि और भी अधिक अहम्वादी, अन्तर्मुखी और नियतिवादी हैं। इस नवीन काव्य-धारा का आरम्भ हम श्री भगवतीचरण वर्मा

से कर सकते हैं; उसके पोषक सर्वश्री 'बच्चन', 'नरेन्द्र', 'अज्ञेय', 'अंचल' आदि हैं। यह कवि अपने चारों ओर गहन कुहासा देखते हैं और उससे बाहर निकलने को उनके प्राण छटपटाते हैं। उनमें से कुछ तो दूर पर आलोक की किरण भी देख लेते हैं, जैसे नरेन्द्र और 'अंचल'। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है और इनकी कल्पना एक उदार मानव संस्कृति का स्वप्न देख सकती है, जो शोषण-क्रियाओं का सदा के लिए अन्त कर देगी। एक सीमा तक सभी उपरोक्त कवि इस स्वप्न की झलक देखते हैं, किन्तु इसकी सीमाएँ उनके व्यक्तिवाद ने दृढ़तर हाथों से उनके काव्य के चतुर्दिक खींची हैं। इनमें से कुछ कलाकार शैली, उपमाओं, विषयों के प्रयोग और नूतनता में अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। कला की प्राचीन परम्पराओं से अधिकाधिक वे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने लगते हैं। शैली की दुरूहता के कारण उनकी कला सर्व-साधारण के लिए अग्राह्य बनने लगती है और उनके पाठकों का क्षेत्र अधिकाधिक संकुचित होने लगता है।

इसी प्रकार की प्रवृत्ति हम कथा-साहित्य में भी देखते हैं। प्रेमचन्द और उनके समवर्ती कथाकार यथार्थवादी और सामाजिक परम्परा के पोषक थे। कथाकार के रूप में 'प्रसाद' जी भी इसी परम्परा के अनुगामी थे। 'कंकाल', 'तितली' और 'गुण्डा' सदृश रचनाओं में उन्होंने समाज की कुरूपताओं का दिग्दर्शन कराया और उसे मिटाने का आग्रह कला में व्यक्त किया। किन्तु नवीन पीढ़ी के कलाकार मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रभावित होकर मनुष्य के अन्तस् का चित्र अंकित करना चाहते हैं; इस दृष्टि से घनघोर कुहासा उन्हें अपने चतुर्दिक हिलोर मारता दिखाई देता है, और इस अन्धकार से बाहर निकलने का कोई पथ नहीं सूझता। वह जग की कुरूपता से इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं कि उसका कोई प्रतिकार उन्हें नहीं दिखाई देता। श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' आदि इस श्रेणी के उपन्यास हैं। श्री 'अज्ञेय' का बृहत् उपन्यास 'शेखर' एक ही व्यक्तित्व की कथा है; सुगठित शैली में लिखे इस उपन्यास में सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता पूर्ण रूप से प्रगट होती है।

मनोविश्लेषण के प्रति छायावाद के परवर्ती साहित्य की आसक्ति उपयुक्त विवेचना से कुछ मालूम हो सकती है। यूरोपीय साहित्य में कला-रूपों के लिए यह प्रभाव घातक सिद्ध हुआ है। हिन्दी में लेखकों का एक दल फ्रायड, ऍडलर आदि की स्थापनाओं की ओर आकर्षित होकर अपनी सामाजिक चेतना खो रहा था और यह भूल रहा था कि जीवन की विषमताओं में ही प्रगति के तत्त्व भी निहित रहते हैं, और मनुष्य निरन्तर प्रकृति से संघर्ष करके जीवन को बदला करता है। इस निराशा का कारण समाज-शास्त्री और अर्थ-शास्त्री यह बताते हैं कि पुरानी समाज और आर्थिक व्यवस्था आज खण्ड-खण्ड हो रही है; साम्राज्यवाद और पूँजीवाद नित्यप्रति आर्थिक संकट, महासमर और राष्ट्रों के संघर्ष को जन्म देते हैं। मनुष्य की प्राचीन मान्यताएँ आज तार-तार हो चुकी हैं। पुरानी व्यवस्था में पोषित कलाकार अपनी असमर्थता और असहायता पर सिर धुनता है, क्योंकि अभी तक किसी नवीन समाज व्यवस्था की रूपरेखा उसकी कल्पना में स्पष्ट नहीं। उसे 'हलाहल' से मोह होता है; नियतिवाद को वह अपना जीवन-दर्शन बना लेता है और कहता है—

एक दिन सब पथ मिलेंगे,
तम भरे यम के नगर में।

इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति भी हम पाते हैं, जिसे प्रगतिवाद कहा गया है। इस धारा का आरम्भ सन् '३६ के लगभग 'युगवाणी' की रचनाओं अथवा 'रूपाभ' के जन्म-काल से होता है। इस धारा को शुक्लजी अपने इतिहास में समाजवादी धारा कहते हैं, और इसका आह्वान इन शब्दों में करते हैं—

"यह देखकर प्रसन्नता होती है कि 'छायावाद' के बँधे घेरे से निकलकर पन्तजी ने जगत् की विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छन्दता के साथ विचरने का साहस दिखाया है। सामने खुले हुए रूपात्मक व्यक्त जगत् से ही सच्ची भावनाएँ प्राप्त होती हैं, 'रूप ही उर में मधुर भाव बन जाता' है, इस 'रूप-सत्य' का साक्षात्कार कवि ने किया है।···

"शहद चाटने वालों और गुलाब की रूह सूँघने वालों को चाहे इसमें कुछ न मिले, पर हमें तो इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की बड़ी प्यारी भावना मिलती है। 'झंझा में नीम' का चित्रण भी बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर है। पन्तजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता (True Romanticism) की ओर बढ़ते देख हमें अवश्य सन्तोष होता है।" (पृष्ठ ८६०–६२)

यह नवीन साहित्यिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, कलाकार के सामाजिक दायित्व के प्रति आग्रह दिखाती है और एक नवीन शोषणरहित संस्कृति में आस्था रखती है। निस्संदेह ही इस नई साहित्यिक प्रवृत्ति ने लेखकों को उनके एकाकीपन और अहंवाद से मुक्त किया है, और अधिक स्वस्थ कला-निर्माण के लिए उन्हें प्रेरित किया है। इस आन्दोलन के साथ प्रेमचन्द, पन्त और 'निराला' के नाम सम्बद्ध हैं। नई पीढ़ी के अनेक मेधावी लेखक इसी धारा के अन्तर्गत आते हैं। कवियों में सर्वश्री नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', 'सुमन', 'दिनकर', गिरजाकुमार माथुर, केदार, नागार्जुन आदि हिन्दी के तरुण, यशस्वी कवि अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य को गौरव प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार कथा-साहित्य में यशपाल, रांगेय राघव, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय आदि नित्य-प्रति हिन्दी साहित्य को सर्वांग-सुन्दर बनाने में तल्लीन हैं। इन कलाकारों ने हिन्दी-साहित्य में एक बार फिर सामाजिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया है।

आलोचना में नवीन मार्क्सवादी पद्धति को शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय आदि ने अपनाया है। नये आलोचक किसी भी कला-कृति को उसकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं। ये काल-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों और उसके कला-सृजन में एक अंतरंग सम्बन्ध देखते हैं और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। वास्तव में आज दो धाराओं का संघर्ष युग-साहित्य में चल रहा है; एक मनोविश्लेषण पद्धति जो साहित्य को अधिकाधिक रूपहीन और अहंवादी बनाती है, दूसरी समाजवादी पद्धति जो कलाकार को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करती है।

इसी सम्बन्ध में हमें जन-कवियों का भी उल्लेख कर देना चाहिए। हिन्दी के जनपदों में इस नव-जागरण की चेतना अच्छी तरह पैठ चुकी है। ब्रज-मण्डल, भोजपुर, मगध आदि प्रदेशों के जन-कवि दर्जनों की तादाद में अपनी बोलियों में कविता कर रहे हैं। इस सांस्कृतिक चेतना का हिन्दी-साहित्य में स्वागत होना चाहिए, क्योंकि इससे हमारा साहित्य जनता तक पहुँचकर अपनी जड़ें मजबूत करेगा।

उपसंहार

हिन्दी का आधुनिक साहित्य एक शताब्दी पार कर चुका है। इस दीघकाल में इसने परिवर्तन और विकास की एक लम्बी साहित्यिक मंजिल पार की है। मध्यकालीन रूढ़ियों में फँसे हिन्दी साहित्य को नये युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में दीक्षित किया। आधुनिक युग साहित्य की सामन्ती परम्परा का अन्त करता है; इस परम्परा का ह्रास सामन्ती समाज-विधान के क्षय के साथ अवश्यम्भावी हो गया था। नये सामाजिक और आर्थिक संगठन ने देश में एक नई संस्कृति को जन्म दिया, जिसकी पोषक, भारतीय इतिहास की नई प्रबल शक्ति मध्यम बुद्धिजीवी वर्ग है। अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में विराट् परिवर्तन हुए, उद्योग-धन्धों, फेक्टरियों, प्रेस, तार, डाक और यातायात के नये साधनों ने भारतीय जीवन में एक नई क्रान्ति की। इसका श्रेय विदेशी शासक ले सकते हैं, यद्यपि देश के आर्थिक शोषण के लिए ही उन्होंने यह यन्त्र-संचय भारत में किया। पाश्चात्य संस्कृति और विचार-दर्शन के सम्पर्क से देश में नवीन जागरण की लहर उठी, किन्तु यह लहर भारतीय जीवन की वास्तविकता से ही प्रेरित हुई थी। पश्चिम के आचार-विचारों ने केवल खमीरे का काम किया।

भारत के नवीन सामाजिक जीवन और संस्कृति को आधुनिक साहित्य स्वर देता है। इस आधुनिक साहित्य की क्या विशेषताएँ हैं, जो मध्यकालीन साहित्य से उसे पृथक् करती हैं।

मध्यकालीन साहित्य की एक सामूहिक और शास्त्रीय परम्परा थी जो उस युग के अन्त होने पर लुप्त होने लगी। आधुनिक युग के कलाकार शास्त्र की अपेक्षा जीवन से प्रेरणा पाते हैं; उनका दृष्टिकोण अधिक व्यक्तिवादी है, इसी गुण को कुछ इतिहासकारों ने 'स्वच्छन्दतावादी' अथवा 'रोमाण्टिक' कहा है। यह भी कह सकते हैं कि मध्यकालीन साहित्य परम्परावादी है; आधुनिक साहित्य विशेष धाराओं में प्रवाहित होते हुए भी परम्परा-विरोधी है; व्यक्ति की प्रेरणा के सामने वह परम्परा की उपेक्षा करता है। सन्त कवियों ने जनता के लिए साहित्य-सृजन किया था; उनका लक्ष्य समाज-मंगल था। सन्त कवि साहित्य के इतिहास में एक असाधारण धारा हैं। उनके अतिरिक्त अन्य मध्यकालीन साहित्य दरबारों में पोषित हुआ था। आधुनिक साहित्य सामन्तों के प्रभाव से निकलकर जनता को अपना अवलम्ब और संबल बनाता है। यह जनता शिक्षा की सीमाओं पर निर्भर थी, किन्तु उन सीमाओं का निरन्तर विस्तार हो रहा था। मनुष्य, समाज, प्रकृति, चराचर के प्रति आधुनिक साहित्य की एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जो शास्त्रीय अथवा रूढ़ि-बद्ध न होकर यथार्थ के अधिक समीप है और उसी से प्रेरणा पाती है। मध्यकालीन साहित्य की अपेक्षा अधुनिक साहित्य का दृष्टिकोण पार्थिव भी अधिक है। आधुनिक कवि देश की, मनुष्य की, प्रकृति के साक्षात रूप की वन्दना करता है और इनके प्रति सामीप्य अनुभव करता है। वह कहता है—

> **इस धरती के रोम रोम में**
> **भरी सहज सुन्दरता,**
> **इसकी रज को छू प्रकाश**
> **बन मधुर विनम्र निखरता,**
> **पीले पत्ते, टूटी टहनी,**
> **छिलके, कंकर, पत्थर,**

कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक, सुन्दर।...

("युगवाणी", 'मानवपन')

एक शताब्दी के दीर्घकाल में आधुनिक साहित्य के दृष्टिकोण में अनेक परिवर्तन हुए, जिनकी कुछ विवेचना ऊपर हो चुकी है। भारतेन्दु युग में साहित्य की नई परम्परा का अभ्युत्थान हुआ। भारतेन्दु युग के लेखकों की दृष्टि बहिर्मुखी थी; उनका दृष्टिकोण सामाजिक था, किन्तु युग के प्रमुख लेखकों को छोड़कर अन्य औसत कलाकारों की रचनाओं में अधिक साहित्यिक प्रौढ़ता न थी। वे नवीन शैलियों और कला-रूपों को गढ़ रहे थे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक साहित्य की विशेषता गद्य-साहित्य और उसके विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, उपयोगी साहित्य, आदि—का विकास है। भारतेन्दु युग के लेखक हिन्दी गद्य की भाषा, खड़ीबोली, की रूप-रेखा निर्धारित कर रहे थे, और कथा-साहित्य, निबन्ध आदि का आरम्भिक रूप स्थिर कर रहे थे। द्विवेदी युग ने इन शैलियों और साहित्य-रूपों का परिमार्जन और विकास किया; कविता, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध आदि में इस काल-खंड ने हिन्दी साहित्य की सीमाओं का विस्तार किया। हिन्दी-पाठकों की संख्या इस युग में बहुत बढ़ी, और खड़ीबोली का साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। तृतीय उत्थान में आधुनिक साहित्य प्रौढ़ता की चरम सीमा तक पहुँचा; भाषा में नई माधुरी, कोमलता और व्यापकता आई; उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, काव्य, निबन्ध और उपयोगी साहित्य, सभी दिशाओं में अभूतपूर्व विकास हुआ और वयःप्राप्त हिन्दी-साहित्य अन्यान्य युगों और देशों के साहित्य का समकक्षी बनने का अधिकारी हुआ। इसी काल-खण्ड में हिन्दी-साहित्य में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का आविर्भाव और प्रसार हुआ। यह प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम काव्य में प्रगट होती हैं, और क्रमशः साहित्य के अन्य अंगों को प्रभावित करती हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने अभी तक युग-चेतना का नेतृत्व किया था; सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों और उथल-पुथल में हिन्दी के साहित्यकार अग्रगामी रहे थे, किन्तु बढ़ते आर्थिक और सामाजिक संघर्ष और संकट के युग में नये कलाकारों की प्रेरणा अन्तर्मुखी और अहंवादी होने लगी। वे निराशावादी और नियतिवादी बन गए अथवा टेकनीक के प्रयोगों में अपनी प्रतिभा विकीर्ण करने लगे। अपनी काव्य-भूमि की विवेचना के रूप में इस परिस्थिति का मार्मिक और हृदयग्राही वर्णन श्री नरेन्द्र शर्मा ने 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में किया है। इस विषम परिस्थिति से निकलने का प्रयत्न युग के नये कलाकारों ने किया, जिसे भविष्य के इतिहासकार सम्भवतः आधुनिक युग का चतुर्थ उत्थान कहें। इस साहित्य की विशेषता यथार्थवाद अथवा बुद्धिवाद कह सकते हैं। नये लेखकों की दृष्टि वैज्ञानिक है, उनकी सामाजिक चेतना तीव्र है, उन्हें नव-संस्कृति के स्वप्न की प्रेरणा उद्वेलित कर रही है। इस प्रकार अहंवाद और प्रयोगवाद के अन्धकूप से आधुनिक साहित्य का निकलना निश्चित है।

जिन वादों और प्रभावों से आधुनिक साहित्य निकल रहा है, उनमें विज्ञान, समाजवाद, मनोविश्लेषण विज्ञान, यथार्थवाद आदि प्रमुख हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य आज विद्रोह के मार्ग पर चल रहा है। वह सभी कुछ 'जीर्ण और पुरातन' भस्मीभूत कर देना चाहता है, किन्तु सृष्टि और पुनर्निर्माण की क्रिया भी विध्वंस के साथ ही चलती है। आधुनिक साहित्य भारत के आधुनिक जीवन को प्रतिबिम्बित और चित्रित करता है; उसकी वेदना, कुरूपता, विवशताएँ,

आशाएँ और आदर्श आधुनिकता की समस्त जीवन-प्रेरणा और व्यथा वह व्यक्त करता है। आधुनिक युग ने अपना नया जीवन-दर्शन और मार्ग प्रशस्त किया है। उसकी दृष्टि पृथ्वी और आकाश के नये रूप देख रही है। इनका सांगोपांग वर्णन हम नये साहित्य में पाते हैं। आधुनिक साहित्यकार नये जीवन-अनुभव और जगत् के किनारे खड़ा सीपी और मोती बटोर रहा है। कवि की नई दृष्टि का वर्णन पन्तजी ने 'युगवाणी' में इस प्रकार किया है :—

खुल गए छन्द के बन्ध,
प्राश के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ, युग वाणी बहती अयास !
बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम ।······

('तन दृष्टि')

कला-रूपों की विविधता और 'अनेकरूपता' आधुनिक साहित्य की अपनी विशेषता है। इस युग ने कथा-साहित्य, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि का विकास ही नहीं किया, वरन् इन रूपों में निरन्तर नवीन शैलियों का प्रयोग करके उन्हें पुष्ट और समृद्ध भी बनाया है। प्रयोगशीलता का साहित्य में अपना महत्त्व है, यद्यपि यह निर्विवाद है कि नवीन जीवन-प्रेरणा को व्यक्त करने के लिए ही कला-रूपों में नये प्रयोग सफल होते हैं, प्रयोग के लिए प्रयोग करके नहीं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह हिन्दी के इतिहास में अभूतपूर्व उन्नति का युग है। सभी साहित्य-रूपों का इस युग ने विकास किया और हिन्दी की सीमाओं का विस्तार किया। आधुनिक जीवन की अनेकरूपता, विविधता और संवेदना का वह सम्यक् और समर्थ प्रतिनिधि है। निरन्तर उसका विकास और प्रस्फुटन हो रहा है। आशा है आगे चलकर और भी अधिक प्रौढ़ता उसमें आयगी और किसी भी देश अथवा काल के साहित्य की तुलना में वह हल्का न उतरेगा।

डा० रघुवंश

आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध (१८५०-१९१८)

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ खड़ीबोली के विकास से प्रारम्भ होता है; और खड़ीबोली के विकास में देश के नव-जागरण का इतिहास छिपा है। पिछले युगों में हिन्दी-भाषा को किसी प्रकार का राज्याश्रय प्राप्त नहीं था, इस कारण जन-जीवन के आधार पर वह पनपी है। परिणामस्वरूप हिन्दी के आधुनिक युग के साहित्य में जनता की भावनाओं का इतिहास छिपा है। जिस समय यूरोप की विभिन्न जातियाँ भारत में अपने पैर जमा रही थीं, उस समय हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन कविता का पतनोन्मुखी तथा रूढ़िवादी युग था। १९वीं शताब्दी तक अंग्रेजों के पैर यहाँ जम चुके थे; कम्पनी का शासन देश के विस्तृत भू-भाग पर स्थापित हो चुका था। इसके पूर्व ही शताब्दियों की अनिश्चित तथा कमजोर राज्य-व्यवस्था में जनता के जीवन की प्रत्येक दिशा में एक बहुत बड़ा शून्य समा गया था। इसके मूल में राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक तथा धार्मिक कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। जन-जीवन के सामने से आदर्शों की दिशा लोप हो गई थी, पर वह सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों की शृंखलाओं को ढोता आ रहा था। ऐसी परिस्थिति में विदेशी नीति के फलस्वरूप जनता के सामने आर्थिक प्रश्न भी कठोर होता जा रहा था। इस प्रकार एक ओर यदि जनता के जीवन में कुण्ठा आती जा रही थी और आदर्शों से पतन हो रहा था, तो दूसरी ओर उसमें अपनी परिस्थिति के प्रति असन्तोष की भावना भी जागने लगी थी।

विदेशियों के पैर ज्यों-ज्यों इस देश पर जमते गए, देश का सम्पर्क पश्चिम से बढ़ता गया। विदेशी शासन के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से देश का लाभ भी हुआ, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। अंग्रेजों ने रेल, तार, डाक आदि वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग के साथ देश में पश्चिम की नई शिक्षा का प्रसार भी किया। इस नवीन शिक्षा से जाति में नव-चेतना का जागरण हुआ। यही कारण है कि राजा राममोहनराय जैसे प्रगतिशील भारतीय भी अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार के पक्ष में थे। मैकाले की धारणा कुछ भी रही हो, कम्पनी सरकार की नीति कुछ भी रही हो, पर अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से हमारा पश्चिम से अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया। इस सांस्कृतिक सम्पर्क ने देश के जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित कर दी। अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय शिक्षित समुदाय यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्त्व समझने लगा। परन्तु इस शिक्षा और सम्पर्क का प्रभाव विदेशी शासन के अन्तर्गत देश पर बुरा भी पड़ा। यूरोप की नवीन शिक्षा के प्रकाश में आये हुए व्यक्ति अपनी प्राचीन शिक्षा तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति नितान्त उदासीन हो गए, जिसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। शिक्षित समुदाय जनता की अविच्छिन्न जीवन-धारा से अपने-आप अलग पड़ गया। इस वर्ग के लोग पश्चिमी सभ्यता से इस प्रकार आकर्षित हो गए थे कि उसी को पूरी

तरह अपना लेना चाहते थे, पर वह देश के परम्परागत स्वाभाविक जीवन के अनुरूप नहीं थी।

इस नव-शिक्षित-वर्ग से आशा यह की जा सकती थी कि वे पश्चिमी सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर भारतीय जीवन के प्राचीन आदर्शों का मूल्यांकन करेंगे और इस प्रकार जनता के सामने नया मार्ग प्रशस्त करेंगे। परन्तु इनमें से अधिकांश ने स्वदेशी तथा प्राचीन संसार से घृणा प्रकट की; अतः वे स्वयं जन-जीवन के नायक नहीं बन सके। प्रत्येक क्रिया के साथ उसकी प्रतिक्रिया छिपी रहती है। अतः इसी शिक्षित वर्ग से एक ऐसा वर्ग भी निकल आया जो देश की माँग को ठीक प्रकार से पहचान सका। इस वर्ग में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से धर्म तथा समाज की प्रचलित बुराइयों के प्रति विद्रोह की भावना थी···वह उनका विरोध करता था। परन्तु भारतीय प्राचीन परम्पराओं के प्रति इसके मन में श्रद्धा थी; वह प्राचीन मूल्यों को नवीन दृष्टि से आँकने का पक्षपाती था। पश्चिमी शिक्षा के अन्ध-भक्तों की भारतीय प्राचीन संस्कृति की अवहेलना उसको अत्यधिक पीड़ा पहुँचाती थी। विदेशी चालचलन, आचार-विचार, खान-पान की नकल करने वाले नव-शिक्षित अपने देश की बातों को गँवारू तथा उपेक्षणीय मानने लगे थे; और इस वर्ग के स्वदेश-भक्तों के लिए यह बहुत बड़े कष्ट की बात थी। इस प्रकार यह वर्ग भारत की नवोदित राष्ट्रीय चेतना को सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में जगा रहा था, जिसका एक ध्येय यह भी था कि शिक्षित समुदाय के दृष्टिकोण का सुधार करके उसे स्वदेश के गौरव की भावना से भरा जाय। इस भावना के अन्तर्गत निज भाषा हिन्दी के प्रति प्रेम भी है; साथ ही राष्ट्रीय चेतना के उन्नायकों में इस युग के हिन्दी के साहित्यिक भी आते हैं।

पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था, और इसी बदलते हुए दृष्टिकोण से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। पूरब-पश्चिम के सांस्कृतिक सम्पर्क से जो नई चेतना उद्बुद्ध हो रही थी और उससे जो विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हो रहा था, उसके प्रभाव में हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ विकास के एक नये युग में प्रवेश किया। परन्तु हिन्दी-साहित्य के इस युग के प्रवर्तकों में उसी वर्ग के लोग थे जो नव-शिक्षा से प्रकाश ग्रहण करके भी प्राचीन भारत के सांस्कृतिक गौरव से प्रभावित थे और जन-जीवन को उसकी प्राचीन परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न करने के पक्ष में नहीं थे। इसी कारण १९वीं शताब्दी के सभी साहित्यकार सुधारवादी थे और उनमें से अधिकांश ने सक्रिय रूप से राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों में भाग लिया था। यह दृष्टिकोण २०वीं शती के प्रारम्भ तक बना रहा, केवल इस काल में उसे अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक रूप मिल सका है। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध की कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी साहित्यिक कृतियों में इन आन्दोलनों का प्रभाव परिलक्षित होता है। साथ ही इस साहित्य के भावों, विचारों तथा भाषा-शैली पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था। इस काल के साहित्य को इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए डा० वार्ष्णेय लिखते हैं—"उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में नवभारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ प्रकट करके अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इंगित किया है।"

२०वीं शताब्दी के आरम्भ होने के साथ ही आधुनिक साहित्य ने एक नया मोड़ लिया

है। इस काल को साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-काल का नाम दिया गया है; वैसे यह आधुनिक साहित्य का मध्य-काल भी माना जा सकता है। प्रारम्भिक काल (१६वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) जन-जागरण का समय था; पर उस समय तक जनता के सामने राष्ट्रीय भावना स्पष्ट नहीं हो सकी थी। परन्तु इस काल तक राष्ट्रीय भावना और आदर्श की रूप-रेखा साफ प्रकट होने लगी थी। शिक्षित मध्यम-वर्ग का यह साहित्य है, तथा इस वर्ग के सामने स्वामी दयानन्द ने धार्मिक दृष्टि से, स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से और बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक दृष्टि से भारतीय गौरव की स्थापना की थी। संस्कृत-साहित्य के अध्ययन, पुरातत्त्व के खोजों से भारत का सम्मान विदेशों में बढ़ रहा था। जापान की रूस पर विजय होने से भारतीयों को एशियावासी होने के नाते गौरव का अनुभव हुआ। कहा गया है कि पहले भी शिक्षित वर्ग अपने प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट होने लगा था। पर अब सभी क्षेत्रों में आन्दोलन की दिशा स्पष्ट हो गई थी। पहले सामाजिक सुधार आन्दोलनों को अधिक महत्त्व मिलता था, पर अब उन सबको राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के अङ्ग के रूप में ग्रहण किया गया। फलस्वरूप इस काल में प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ। प्राचीन संगीत, चित्रकला, वास्तु तथा स्थापत्य-कला को फिर से नवीन रूप में स्थापित करने का प्रयास होने लगा। भातखण्डे ने संगीत के क्षेत्र में तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्र-कला के क्षेत्र में इस जागरण में भाग लिया। कुमारस्वामी ने भारतीय प्राचीन कलाओं का मूल्यांकन संसार के सामने नवीन दृष्टिकोण से रखना इसी काल से प्रारम्भ किया। इस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी का महत्त्व अधिक बढ़ता गया। लोगों के मन में भारतीय कह-लाना अब गौरव की बात थी, और इसी भावना को इस काल के साहित्य में अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति मिली है। इस दृष्टि से यह काल विकास की नई सीमा-रेखा माना जा सकता है। पिछले काल तक रूढ़ियों का विरोध सुधार के स्वर तक सीमित था, पर अब साहित्य में आदर्शों की दृष्टि से स्वच्छन्द-भावना विकसित हो रही थी। परम्परा को छोड़कर साहित्य में पौराणिक तथा ऐति-हासिक घटनाओं तथा चरित्रों को राष्ट्रीय आदर्श-भावना की दृष्टि से नया रूप मिल रहा था। ऐसे पात्रों को महत्त्व मिला जिनकी पहले उपेक्षा हुई थी। समाज से भी साधारण देश-प्रेमी नायकों को चुना गया। इस आन्दोलन का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ रहा था, इस कारण इस साहित्य में मानसिक हलचल और जागरूकता का रूप तो है, पर साहित्यिक प्रौढ़ता उतनी नहीं मिलती।

× × ×

१६वीं शताब्दी तक साहित्य में कविता की भाषा व्यापक रूप से ब्रज-भाषा थी और उसकी परम्परा भक्ति तथा रीतिकाल से ग्रहीत थी। वह काव्य जन-रुचि के निकट नहीं था, क्योंकि देश का ध्यान धीरे-धीरे अपनी दशा की ओर जा रहा था। सेवक, द्विजदेव तथा भारतेन्दु के काव्य में साहित्यिक श्रेष्ठता मिलती है, पर सभी कवियों में पुरानी रूढ़ि को ढोने की भावना प्रधान है। कुछ पुरानी रुचि के लोग कवि-समाज तथा रसिक-समाज जैसी संस्थाओं तथा कवि-सम्मेलनों द्वारा ब्रज-भाषा के इस काव्य का अनुशीलन अभी तक करते रहे हैं। मध्य आधुनिक काल में भारतेन्दु के समान 'रत्नाकर' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे प्रतिभावान और मधुर ब्रज-भाषा के कवि हुए हैं। इस कविता में विषय, भाषा तथा छन्द-विधान सभी कुछ एक प्रकार से प्राचीन है, इसकारण इसको आधुनिक न मानकर प्राचीन परम्परा का अवशेष-मात्र मानना चाहिए। प्रमुख कवियों ने

कुछ आधुनिकता लाने का प्रयास किया है। प्राचीन छन्दों के स्थान पर लोक-प्रचलित छन्दों—जैसे कजली, बिरहा, रेखता तथा मलार आदि—का प्रयोग किया गया। कुछ कवियों ने भाषा को अधिक सजीव रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया; इनमें सत्यनारायण तथा जगन्नाथदास जी प्रमुख हैं। कुछ कवियों के काव्य में आधुनिक आन्दोलनों का प्रभाव तथा नवीन आदर्शों की स्थापना भी मिलती है। देश-भक्ति की भावना भी यत्र-तत्र मिल जाती है। परन्तु सब मिलाकर ब्रज-भाषा की कविता आधुनिक युग की माँग को पूरी न कर सकी और क्रमशः साहित्य से बहिष्कृत होती गई।

इसके विपरीत हिन्दी खड़ी बोली काव्य की आधुनिक धारा पुरानी परम्पराओं को छोड़कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नये विषयों तथा नये क्षेत्रों की ओर मुड़ रही थी। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जागरण के इस युग में कविता में विभिन्न सुधार आन्दोलनों की उत्साह-पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। पर जब तक हम इस युग के राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप पर तत्का-लीन परिस्थिति के साथ विचार नहीं करेंगे, तब तक हम भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बाल-मुकुन्द गुप्त तथा बद्रीनारायण चौधरी आदि की कविता की भावना का सच्चा मूल्यांकन नहीं कर सकते। इन कवियों में राज्य-भक्ति की भावना भी पाई जाती है। वास्तव में इस समय जनता के मन में यह विश्वास था कि अँगरेजी राज्य से देश की उन्नति हो सकेगी। अपनी सामाजिक परि-स्थिति के कारण भी इन कवियों का दृष्टिकोण बाद की राष्ट्रीय भावना से भिन्न था। प्रारम्भ में जिन परिस्थितियों में काँग्रेस ने जन्म लिया था, उसमें भी यही भावना प्रधान थी कि भारतीयों का ब्रिटिश साम्राज्य में समता का अधिकार मिलना चाहिए और उनको अपनी उन्नति करने के लिए पूरी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस काल के कवि और लेखकों के आदर्शों को समझ सकते हैं। वे जनता की माँगों को एक ओर सरकार के सामने रखते दिखाई पड़ते हैं और दूसरी ओर विभिन्न सुधारों द्वारा जनता को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए प्रयत्नशील हैं। साथ ही देश के आर्थिक शोषण और उसकी निर्धनता के प्रति कवि जागरूक तथा संवेदनशील हुए हैं। उन्होंने इस विदेशी नीति का विरोध किया है, और कठोर-से-कठोर शब्दों तथा व्यंग्यों में अपनी भावना को व्यक्त किया है।

उन समस्त भावनाओं का मूल इस साहित्य में मिलता है, जिनका आगे चलकर विकास हुआ। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द आदि कवि अँगरेजों की आर्थिक नीति से परिचित थे; वे विदेश जाते हुए धन तथा देश के नष्ट होते हुए उद्योग-धन्धों को देखकर क्षुब्ध थे। वे जनता की दीन-हीन स्थिति को देखकर दुःखी थे। इस स्थिति के प्रति अपने ढंग से इन कवियों ने विद्रोह का स्वर भी ऊँचा किया है। ये कवि साधारणतः उदार नीति के कहे जा सकते हैं—उन नेताओं के समान जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सविनय अधिकारों को प्राप्त करने के पक्ष में थे। फिर भी जिस प्रकार इन कवियों ने सामाजिक-धार्मिक बुराइयों की आलोचना निर्ममता के साथ की है और विश्वास प्रकट किया है कि भारतय आदर्शों के माध्यम से देश की उन्नति हो सकती है, उसी प्रकार इन्होंने राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों से उत्पन्न दुःख-दैन्य का वर्णन भी मार्मिकता से किया है। इस काल की कविता में भाषा के प्रश्न पर भी बहुत-कुछ कहा गया है। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त राधाकृष्णदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने हिन्दी-भाषा को राष्ट्रीय दृष्टि से देखने का प्रयास किया है तथा उसकी स्थिति पर खेद प्रकट करते

हुए संघर्ष का स्वर भी उठाया है। इन कवियों ने भाषा को राष्ट्रीय उन्नति के मूल में देखने का प्रयास किया है। इस काल में अँगरेजी कविता के अनुवाद की ओर भी लोगों का ध्यान गया। श्रीधर पाठक का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है। वैसे अपनी कविता की दृष्टि से पाठक अगली स्वच्छन्दवादी भाव-धारा के कवि हैं। वास्तव में जैसा कहा गया है इस काल में साहित्य के सभी क्षेत्रों के साथ कविता में भी नवीन शैली तथा नवीन भावना का विकास हो रहा था। प्रारम्भिक युग की इस कविता में काव्य के विशेष गुण नहीं हैं, पर आगे के साहित्य की भूमिका के रूप में इस साहित्य का कम महत्त्व नहीं है।

इसके बाद द्विवेदी-काल में जिसको यहाँ आधुनिक युग का मध्यकाल कहा गया है, अँगरेजो के प्रभाव से कविता में स्वच्छन्दवादी भावना का विकास हुआ। प्रारम्भ के सुधारवादी आन्दोलनों से प्रेरणा ग्रहण करने के बाद काव्य जीवन के अधिक व्यापक स्तर पर उतरने लगा। यह भाव-धारा केवल पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से विकसित हो रही थी, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इस काल का साहित्य जिस मध्य-वर्ग से सम्बन्धित है, वह अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों को इस साहित्य में अभिव्यक्त कर रहा था। इसमें प्राचीन परम्पराओं तथा रूढ़ियों के प्रति विरोध की भावना पाई जाती है। कवि और साहित्यकार का ध्यान जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों की ओर आकर्षित हो रहा था, जिनकी अब तक अवहेलना की गई थी। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय तथा सियारामशरण गुप्त आदि कवियों ने प्राचीन, पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से की है। जिन चरित्रों को सामाजिक आधार पर लिया गया है, वे भी नवीन आदर्शों के अनुरूप हैं। इस काल का अधिकांश काव्य वर्णनात्मक तथा प्रबन्धात्मक है, परन्तु जीवन तथा प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण बदल चुका था। इस कारण इस काल के काव्य में स्वच्छन्दवादी भावना के दर्शन होते हैं यद्यपि जैसा डॉ० श्रीकृष्णलाल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के विकास' में स्वीकार किया है कि यह स्वच्छन्दवादी काव्य की सैद्धान्तिक भूमिका-मात्र तैयार हुई थी। इसका कलात्मक पक्ष आगे के छायावादी काव्य के युग में विकसित हुआ। १९१८ ई० के बाद छायावादी व्यक्तिपरक गीतियों का काल प्रारम्भ होता है जिसमें कला की दृष्टि से स्वच्छन्दवाद के अनेक तत्त्व पाये जाते हैं। इस काव्य के साथ स्वतन्त्र स्वच्छन्द-वादी भाव-धारा के विशेषकर प्रेम तथा प्रकृति के काव्य भी आधुनिक युग के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। परन्तु भाषा, छन्द तथा अन्य साहित्यिक परम्पराओं तथा रूढ़ियों से मुक्त होकर उन्मुक्त स्वच्छन्दवाद का जो रूप हमको आधुनिक युग के मध्य-काल (द्विवेदी-काल) में श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों में मिलने लगा वह स्वतन्त्र रूप से आगे विकसित नहीं हो सका।

१९वीं शताब्दी तक गद्य का समुचित विकास हुआ। इस काल के गद्य-लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है पर व्यक्तित्व अवश्य है। इस साहित्य में गोष्ठी-साहित्य की सीमाओं के साथ उसकी विशेषताएँ भी हैं। इस गोष्ठी-साहित्य में जीवन का व्यापक आधार नहीं है, साथ ही उसका उतना स्वाभाविक रूप भी नहीं आ सका है। परन्तु इस साहित्य में मुक्त वातावरण तथा स्वच्छन्द मनोवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है, जिसकी हिन्दी के भक्ति तथा रीति-साहित्य में विशेष कमी रही है। इस काल का गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज-सशक्त है। इस समय तक व्रजभाषा के गद्य की परम्परा नष्टप्राय हो चुकी थी। टीकाओं में व्यवहृत गद्य में अर्थ तथा भाव

व्यक्त करने की शक्ति नहीं रह गई थी। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से गद्य को निश्चित रूप मिल सका। इस शती के प्रारम्भिक सात-आठ वर्षों तक गद्य में भाषा-सम्बन्धी बहुत अव्यवस्था थी, पर बाद में द्विवेदीजी के सतर्क निरीक्षण में भाषा का रूप निश्चित तथा व्यवस्थित हो चला। प्रारम्भिक काल में जिन शैलियों का जन्म हुआ था, उनको इस काल में विकास का पूरा अवसर मिल गया। इस काल में विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क में आने से हिन्दी-साहित्य में विभिन्न गद्य-शैलियों का विकास हुआ जिनमें संस्कृत, बंगला, महाराष्ट्री, अँगरेजी तथा उर्दू आदि की विभिन्न शैलियों के रूप पाये जाते हैं। डॉ० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में "हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँगरेजी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया।" इस प्रकार विभिन्न प्रभावों के साथ हिन्दी भाषा अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर रही थी।

सशक्त गद्य के अभाव में नाटकों की कल्पना नहीं की जा सकती। पिछले हिन्दी-साहित्य में नाटकों के अभाव के कारणों में एक कारण यह भी रहा है। इस काल में गद्य का विकास हुआ, साथ ही नाटकों का प्रारम्भ भी हुआ। वास्तव में भारतेन्दु को ही हिन्दी-नाटकों का जन्मदाता मानना चाहिए। वे प्रतिभा तथा अन्तर्दृष्टि के व्यक्ति थे। उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों के साथ नाटक की विशेष शक्ति पहचान ली थी। उन्होंने पारसी नाटक-कम्पनियों के जनता पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव को देखा था; वह उससे हिन्दी-साहित्य तथा जनता को बचाना चाहते थे। इस कारण एक ओर उन्होंने 'नाटक' के अन्तर्गत नाटकीय सिद्धान्तों का परिचय दिया तथा अपने मत को भी स्पष्ट किया, और दूसरी ओर अनेक नाटकों की रचना करके हिन्दी-साहित्य में नाटकों की परम्परा चलाई। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में प्राचीन नाटकीय सिद्धान्तों के साथ नवीन आवश्यकताओं तथा प्रभावों को भी ग्रहण किया है। यह उनकी तथा उनके अनुवर्ती नाटककारों लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल, केशवराम भट्ट, बद्रीनाथ भट्ट आदि की रचनाओं से स्पष्ट है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में आदर्शों की मर्यादा है तथा रस प्रधान है, पर इस काल के नाटकों में सामाजिक जीवन को प्रस्तुत किया गया; देश, समाज तथा धर्म की विभिन्न समस्याओं को उठाया गया; रस के स्थान पर व्यंग, कौतुक तथा हास्य का माध्यम स्वीकार किया गया। कथा-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों से चुनाव किया जाने लगा। हरिश्चन्द्र तथा उनके साथियों ने नाटक, नाटिका, भाण, नाट्य-रासक, गीति-नाट्य आदि अनेक प्रयोग किये; पर संस्कृत से प्रेरणा ग्रहण करके लिखे जाने पर भी इनका रूप नवीन है।

नाटकों का विकास उचित रंगमंच के अभाव में जैसा होना चाहिए था, आगे नहीं हो सका। आधुनिक साहित्य में नाटकों का स्थान २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी विशेष महत्त्व नहीं पा सका। पारसी कम्पनियों के प्रभाव से जनता को बचाने के लिए नाटकों का प्रारम्भ किया गया था, परन्तु वे अपने को पारसी रंगमंच तथा नाटकों के प्रभाव से बचा नहीं सके। साहित्यिक नाटककार कथा-वस्तु के आदर्श की रक्षा तो कर सके, पर कलात्मक रचना की दृष्टि से विशेष सफल नहीं हो सके। राधाकृष्ण दास, माधव शुक्ल, मिश्रबन्धु आदि में समान रूप से नाटकीय कला तथा निर्देशन-कला की दृष्टि से दोष पाये जाते हैं। इनके नाटकों के कथानक अव्यवस्थित तथा अस्वाभाविक और संलाप असंगत हैं। समानुपात तथा निर्देशन का ज्ञान इनमें नहीं है। इसका कारण यह है कि इन नाटककारों को रंगमंच का समुचित अनुभव नहीं था। इनमें प्रयुक्त हास्य

पारसी कम्पनियों द्वारा प्रयुक्त हास्य से अधिक श्रेष्ठ नहीं है। बद्रीनाथ भट्ट ने इस दृष्टि से कुछ सफलता पाई है। उन्होंने कथावस्तु का विकास अपेक्षाकृत समुचित ढंग से किया है। वह चरित्र-चित्रण अधिक सफलता से कर सके हैं। निर्देशन का ज्ञान तथा कलात्मक सौन्दर्य भी उनमें विशेष है। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पारसी कम्पनियों में नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा तथा राधेश्याम कथावाचक आदि नाटक लिख रहे थे। इनमें साहित्यिक रुचि पाई जाती है, पर ये पारसी कम्पनियों के नाटकों के स्तर को बहुत कम सुधार सके हैं, वरन् इस काल में चमत्कार तथा उत्तेजक दृश्यों तथा परिस्थितियों का समावेश चित्रपट के प्रभाव से अधिक ही हुआ है। भाषा और संलाप की दृष्टि से कुछ विकास माना जा सकता है।

इस नवीन युग में गद्य-शैली के साथ साहित्य के अनेक नये रूपों का भी विकास हो रहा था। इन शैलियों और रूपों पर यूरोप के साहित्य तथा विचार-धाराओं का स्पष्ट प्रभाव था। इसी काल में पहले-पहल निबन्धों का रूप मिलने लगता है। गोष्ठी-साहित्य का वातावरण इस साहित्यिक रूप तथा शैली के अनुरूप था। गोष्ठी-साहित्य का उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण तथा उसकी आत्मीय भावशीलता निबन्ध-शैली की प्रारम्भिक विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग के प्रारम्भिक लेखक प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि प्रमुख निबन्धकार भी थे। भाषा का रूप निश्चित न होते हुए इनकी शैली में व्यक्तित्व की छाप पाई जाती है। इनका उन्मुक्त स्वभाव तथा इनकी व्यंग और हास्यप्रियता इनके निबन्धों में भी परिलक्षित होती है। इनके निबन्धों के विषय सभी क्षेत्रों से चुने गए हैं। भट्टजी की भाषा शिष्ट तथा परिमार्जित है पर मिश्रजी में ग्रामीणता की पुट विशेष है। गुप्तजी की भाषा गति तथा प्रवाहपूर्ण है। भट्टजी का व्यंग्य तथा हास्य मार्मिक तथा अवैयक्तिक है, पर मिश्रजी में परिमार्जन की कमी के साथ वैयक्तिकता अधिक है। गुप्तजी का व्यंग्य तीखा अधिक है। नई-नई पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से विभिन्न साहित्यिक रूपों के साथ निबन्धों को भी विकास का अधिक अवसर मिला।

आगे चलकर २०वीं शताब्दी में निबन्धों के स्थान पर लेख तथा प्रबन्धों का विकास अधिक हुआ। इस काल में व्यक्ति-प्रधान तथा आत्मीय भावना से पूर्ण शैली में लिखने वाले चन्द्रधर गुलेरी तथा पूर्णसिंह आदि कुछ ही निबन्धकार रह गए। फिर भी निबन्ध-शैली का पर्याप्त विकास हुआ। कुछ निबन्धों में स्वप्नों तथा चिन्तनों को साहित्यिक व्यंजना का रूप दिया गया और कुछ में कवित्व के भावोद्रेक का आश्रय ग्रहण किया गया। क्रमशः गद्य-शैली के विकास के साथ कहानी, वार्तालाप, भाषण आदि का प्रभाव निबन्धों पर पड़ा। परन्तु क्रमशः विचार और तर्क की प्रधानता से निबन्ध के स्थान पर लेख का प्रचार बढ़ गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास के निबन्धों में विवेचना का क्रम अधिक निश्चित है तथा विषय-प्रतिपादन की चेष्टा है; इस कारण वे शुद्ध निबन्ध की कोटि में नहीं आते। आगे चलकर निबन्ध-शैली की विभिन्न विशेषताओं ने कहानी, भाषण, स्केच तथा संस्मरण आदि का रूप धारण किया। इसी समय से विवेचनात्मक लेखकों का युग प्रारम्भ होता है, पर समालोचना का आदर्श अभी तक स्थापित नहीं हो सका था। इस समय तक समालोचना तुलनात्मक तथा प्रशंसात्मक ही अधिक है। इस क्षेत्र में आगे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास ने विशेष कार्य किया है। आचार्य शुक्ल ने बाद में भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा

पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का समन्वय किया।

नाटकों के साथ आधुनिक युग में उपन्यासों का भी विकास हुआ। इसके पहले कुछ पौराणिक तथा लौकिक प्रेम-कथाएँ अवश्य मिलती हैं, परन्तु आधुनिक उपन्यासों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस युग के प्रारम्भ में कौतूहल तथा वैचित्र्यमूलक तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों का प्रचलन हुआ। देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी इस प्रकार के प्रधान लेखक थे। किशोरीलाल गोस्वामी तथा कार्तिकप्रसाद खत्री के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का आधार साधारण है; उनमें प्रेम और रोमान्स को विशेष महत्त्व दिया गया। इनके अतिरिक्त सामाजिक उपन्यासों का प्रचलन हो चला था। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, गोपालराम गहमरी, राधाकृष्ण गोस्वामी तथा हनुमन्तसिंह आदि के उपन्यासों में उस समय के समाज का रूप है। पर इनमें सुधार का दृष्टिकोण प्रधान है। इस प्रारम्भिक काल के उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य, लोक-प्रेम-कथा-साहित्य तथा अँग्रेजी के साधारण कोटि के उपन्यासों का प्रभाव था। अनेक भाषाओं से अनुवाद भी हुए। परन्तु यह उपन्यासों की प्रारम्भिक स्थिति थी, जिसमें कौतूहल, प्रेम तथा सुधार की भावना प्रधान थी। अभी तक उपन्यासों में यथार्थवादी कथावस्तु तथा स्वाभाविक चरित्र-चित्रण का रूप भी सामने नहीं आ सका था। हमारे आलोच्य युग के समाप्त होने के समय साहित्य में प्रेमचन्द के प्रवेश से ही उपन्यासों में विशेष परिवर्तन की स्थिति दिखाई देती है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२१) तथा 'रंगभूमि' (१९२२) में वास्तविक चरित्र-चित्रण का रूप मिलना प्रारम्भ होता है। उसके पहले अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता, मन्नन द्विवेदी आदि के सामाजिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है, पर इनमें वर्गगत (type) चरित्रों के रूप ही सामने आ सके हैं। उपन्यासों में व्यक्तिकरण का युग बाद में प्रेमचन्द तथा कौशिकजी के साथ प्रारम्भ होता है। ऊपर के लेखकों के उपन्यासों में कलात्मक गठन का अभाव भी है। उनमें केवल सामाजिक तथा घरेलू जीवन के चित्र यत्र-तत्र स्वाभाविक बन पड़े हैं। साथ ही इस समय तक उपन्यासों में नैतिक आदर्शों का विशेष प्रभाव रहा है, और इस कारण भी कला की दृष्टि से विशेष उन्नति नहीं हो सकी। ब्रजनन्दनसहाय तथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के उपन्यास भाव-प्रधान हैं, परन्तु इनमें कवित्वपूर्ण व्यंजना के अतिरिक्त कथानक या चरित्र-चित्रण की कोई विशेषता नहीं है। बाद में 'प्रसाद' जी ने इस शैली को अधिक कलात्मक रूप दिया है।

१९वीं शताब्दी के अन्त तक कहानी-शैली का विकास नहीं हो सका था। कहानी का इतिहास केवल २०वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में अंग्रेजी तथा संस्कृत के नाटकों की कथावस्तु को कहानियों के रूप में प्रस्तुत किया गया। वैसे कहानी बहुत लोक-प्रचलित शैली है, पर उसका आधुनिक रूप अपने नाटकीय गठन के कारण सम्भवतः इन्हीं अनुवादों के माध्यम से हमारे साहित्य में आया। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी (१९०० जून) पर डॉ० श्रीकृष्णलाल 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव मानते हैं। पार्वतीनन्दन तथा बंग महिला ने अनेक अनुवादित तथा रूपान्तरित कहानियाँ इस बीच में 'सरस्वती' में प्रकाशित कराईं। यह आश्चर्य की बात है कि कहानियों में उपन्यासों से पूर्व यथार्थवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ। बंग महिला (दुलाई वाली—सरस्वती १९०७) तथा जयशंकरप्रसाद (ग्राम-इन्दु, १९११) से कहानियों का युग प्रारम्भ हो जाता है। बंग महिला की सामाजिक यथार्थवादी कहानियों का विकास आगे चल-

कर प्रेमचन्द, सुदर्शन तथा कौशिक आदि की कहानियों में हुआ। प्रसादजी के साथ भावात्मक तथा वातावरण-प्रधान कहानीकारों में राधिकारमणसिंह, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा गोविन्दवल्लभ पन्त का नाम लिया जा सकता है। आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध तक कहानी के क्षेत्र में साहित्य काफी आगे बढ़ चुका था, और भविष्य की सम्भावनाएँ भी थीं। कथावस्तु का नाटकीय विकास, भावशील वातावरण, यथार्थवादी चरित्र-चित्रण, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व आदि की दृष्टि से कहानी-कला इतने थोड़े समय में काफ़ी विकसित हो चुकी थी। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से कहानियों के विकास को अधिक गति तथा प्रेरणा मिली है।

× × ×

प्रथम महायुद्ध के समाप्त (१९१८) होते-होते आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पूर्वार्द्ध का अन्त हो जाता है। इस काल तक मध्यम वर्ग की स्थिति अधिक निश्चित हो गई थी। वह देश में सबसे अधिक शिक्षित तथा सचेत वर्ग था। उसमें स्वाभिमान की भावना भी इसी कारण विशेष थी। इस वर्ग ने पाश्चात्य दृष्टिकोण को अपनाया था, परन्तु देश की प्राचीन रूढ़ियों से उसे लड़ना पड़ रहा था। वह अपने देश के प्राचीन गौरव के प्रति सचेष्ट था, परन्तु देश की वर्तमान स्थिति के प्रति उसके मन में बहुत बड़ा क्षोभ था। महायुद्ध के विनाश का प्रभाव भी उसके मन पर पड़ा था। अभी तक साहित्य में समाज का दृष्टिकोण प्रधान था; साहित्यकार की समस्या देश तथा समाज की समस्या थी। परन्तु इस आने वाले युग में व्यक्ति अपनी ओर मुड़ा, उसने समस्याओं को अपने को केन्द्र में रखकर सोचने का प्रयास किया। इस कारण आगे का युग व्यक्तिवादी साहित्य का युग है। ऐसा नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्या के प्रति कवि और लेखक जागरूक नहीं हैं, वरन् वह अपने को प्रधान मानकर सभी समस्याओं पर विचार करने लगता है। साथ ही इस युग के साहित्यिक के मन में साहित्य की समस्त प्राचीन परम्परा के प्रति विद्रोह जाग्रत होता है, जिसमें साहित्यिक के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिला था। इस प्रकार इस आने वाले युग का साहित्यिक अधिक व्यक्तिवादी तथा अन्तर्मुखी हो उठा; उसने कला को अधिक प्रधानता दी; युगों के साहित्य के मूर्त आधार को अमूर्त लाक्षणिक कल्पनाओं से सजाना प्रारम्भ किया। और यह छायावादी युग है जिसके लिए आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में काफी विस्तृत भूमिका तैयार हो चुकी थी।

नरेन्द्र शर्मा

दो महायुद्धों के बीच हिन्दी कविता

भारतेन्दु-युग में प्रगतिशील हिन्दी-काव्य ने देश-काल के अनुरूप ही देश-प्रेम और समाज-सुधार को अपना विषय बनाया। इस दिशा में बढ़ती हुई काव्य-धारा द्विवेदी-युग में पहुँचकर परिणति को प्राप्त हुई और देश-काल के अनुरूप विषय-वस्तु के साथ-साथ वैसी ही भाषा भी उसे मिली। द्विवेदी-युग ने विषय-वस्तु और भाषा के बीच के व्यवधान को हर लिया। देखते-देखते १९१४-१८ का महायुद्ध भी छिड़ गया, और भारतीय समाज एक नये मोड़ पर आ पहुँचा।

यह प्रश्न मन में सहज ही उठ खड़ा होता है कि आखिर उस युद्ध से भारतीय समाज का सम्बन्ध क्योंकर जुड़ सका। इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है कि १७५७ में पलासी के युद्ध में कम्पनी सरकार की विजय से लेकर १८५७ में, भारतीय सामन्तशाही के नेतृत्व में भारतीय विद्रोह की पराजय तक, उन सौ वर्षों में अँगरेजी पूँजी ने भारत को कच्चे माल की खरीद और यन्त्रों द्वारा बड़ी संख्या और मात्रा में निकलने वाले मशीनी सामान की बिक्री की मण्डी बना दिया था। आमदरफ्त के नये साधन इसी दृष्टि से बनाए जा रहे थे कि विदेशी सामान यहाँ बिना चुंगी-महसूल चुकाए बड़ी तादाद में आ सकें और यहाँ से जो सामान जाय, उसकी निकासी मँहगी पड़े। १८५७ में भारतीय पराजय और अँगरेजी शासन की विजय के बाद तो इस व्यावसायिक व्यवस्था पर सील-मोहर लगा दी गई। कम्पनी सरकार का स्थान मलिका विक्टोरिया की सरकार ने ले लिया और रेलों के लौह-जाल-जैसा ही सुदृढ़ शासन इस दृष्टि से स्थापित कर दिया गया कि भारत अँगरेजी पूँजी के लिए उपयोगी मण्डी बना रहे, जहाँ से कच्चा माल सस्ते दामों पर खरीदा जा सके और अँगरेजी मशीनों द्वारा बनाया हुआ पक्का माल मँहगे दामों पर बेचा जा सके। इस काम में योग देने वाले भारतीय सौदागर नये युग के दलाल बने और अपने देश को दिनों-दिन अधिक-से-अधिक निर्धन बनाकर वे अपना घर धन से भरने लगे। दलाली की इस अर्थनीति से शासित भारत की आर्थिक व्यवस्था केवल परछाईं थी, जिसका आधार बना अँगरेजी पूँजीवाद। 'सोने की चिड़िया' विदेशी पूँजीवाद के पिंजरे में जा बैठी।

ब्रिटेन ही इस विदेशी पूँजीवाद का अगुआ था, फ्रांस उसका साथी और जर्मन पूँजीवाद उसका प्रतिस्पर्धी था। इस प्रकार एशिया और अफ्रीका के भाग्य-विधाता यूरोप में मण्डियों के बटवारे के लिए जो आपसी संघर्ष शुरू हुआ, उसकी परिणति का दूसरा नाम ही १९१४--१८ का महायुद्ध है। अँगरेजी दलालों के इस देश में खलबली मच गई।

अर्थ-जगत् के दलालों-जैसे ही वे भारतीय थे, जो संस्कृति, साहित्य, शिक्षण और शासन के क्षेत्रों में भी दलाली करते थे। वह भारत की हर चीज को प्रत्येक दृष्टि से केवल कच्चा माल समझते थे और समझते थे कि यहाँ खपत होनी चाहिए सिर्फ उस चीज की जो अँगरेजी

मशीन की तरह ही अँगरेजी दिमाग की उपज है। ऐसी स्थिति में देश-भाषा में लिखने वाले भारतीय लेखक सच्चे अर्थ में प्रगतिशील देश-भक्त थे।

इन प्रगतिशील देशभक्त कवियों के पहले उत्थान में हिन्दी काव्य को दिशा और गति भारतेन्दु ने दी और दूसरे उत्थान, द्विवेदी-युग में श्री मैथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध' ने। किन्तु १९१४–१८ के महायुद्ध से पहले के इन कवियों में से कोई भी इस कार्य में सफल न हुआ कि वह भारतीय समाज के उस विशाल अण्डे को तोड़ सके, जिस अण्डे को समय सदियों से जैसे से रहा था और जिसके भीतर एक ऐसा नया परिन्दा अकुला रहा था, जिसका नाम व्यक्तिवादी व्यक्ति होगा। १९१४–१८ के महायुद्ध के धमाकों ने उस अण्डे को तोड़ दिया। भारतीय समाज ने व्यक्ति को जन्म दिया और उस व्यक्ति ने व्यक्तिवाद को। १९१४-१८ का हिन्दी-काव्य भी व्यक्तिवादी काव्य कहलाए तो स्वाभाविक ही है। केवल इसी दृष्टि से वह अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं से स्पष्टतः अलग है।

गोचर में अगोचर की खोज, पार्थिव में दिव्य का अवतरण और प्रतिष्ठा, मानवी भावनाओं के प्रति निसर्ग का योग-दान और मानवी सीमाओं में असीम का दर्शन—इस दृष्टि से आलोकित रवीन्द्र-काव्य और संगीत की छाया नये हिन्दी-काव्य पर अवश्य पड़ी, किन्तु उस छाया के कारण ही छायावाद छायावाद बना हो, ऐसी बात नहीं है।

छायावाद के आध्यात्मिक पक्ष के दर्शन तो हमें पं० श्रीधर पाठक की 'स्वर्गीय वीणा' और श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार', 'मंगल-घट', तथा वैतालिक के कई गीतों से हो चुके थे। किन्तु वह आध्यात्मिक पक्ष ही छायावाद नहीं है। छायावादी कविता मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है, जिसमें मध्ययुगीन अवशेषों से युक्त भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली है। प्रथम महायुद्धोत्तर हिन्दी-कविता जाति, महाजाति अथवा महत्त्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख-दुख की नहीं वरन् व्यक्ति के सुख-दुख की कहानी है। विषय-वस्तु की खोज में कवि बाहर नहीं अपने मन के भीतर ही झाँकता है। इसीलिए पन्तजी के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' तथा स्वर्गीय प्रसाद जी के 'आँसू' छायावाद के प्रतिनिधि-काव्य कहलाए।

इस दृष्टि से देखा जाय तो कहना होगा कि व्यक्तिवादी काव्य के समारम्भ से बहुत पहले ही हमें उसकी ध्वनि 'प्यारे हरिचन्द जू की कहानी' में ही मिल जाती है। हरिचन्द जू के समान ही व्रजभाषा के भाव-प्रवण कवि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी छायावाद से पहले ही व्यक्तिवाद का रोना रो दिया था। अतीत और अधुना के बीच कहीं किसी मध्ययुगीन शिलीखण्ड पर सिर धुनते हुए व्यक्ति के दुख को कैसी सार्थक वाणी मिली है—"भयो क्यों अनचाहत को संग !"

यह सत्य है कि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस गीत में अन्ततः रहस्यवाद की शरण ली, किन्तु व्यक्तिवाद की रुदन-वीणा के रहस्य उद्घाटन करने में भी वह समर्थ हुए।

इस व्यक्तिवादी रुदन का अपना छोटा-सा इतिहास है। पहले महायुद्ध के धमाके से जो अण्डा फूटा था, उस अण्डे से व्यक्ति नाम का परिन्दा निकला, यह हम पहले ही कह चुके हैं। महायुद्ध के बाद भारतीय मध्यवर्ग की तात्कालिक आर्थिक खुशहाली के फलस्वरूप इस परिन्दे को छोटे-छोटे पर भी आने लगे। पर आये तो उसने सैर करने की ठानी—धरातल से दूर कल्पना

के किसी नये अनजाने लोक में। पद्य में 'पल्लव' और गद्य में 'स्वर्ग के खण्डहर' और 'आकाश-दीप' छायावाद की ऐसी ही अनेक प्रारम्भिक उड़ानें थीं।

किन्तु इन उड़ानों के लिए जो खुला आकाश चाहिए, वह आकाश भारत में अप्राप्य था। १८५७ में सामन्तवाद को पराजित करके अँगरेजी पूँजीवाद ने उसे अपना शरणागत स्वीकार किया था। इतना ही नहीं, सामन्तवादी अवशेष जबरदस्ती जीवित रखे गए, इसलिए कि जनता उनकी मार से मरी रहे और व्यक्ति उनके भार से दबा पड़ा रहे। व्यक्तिवाद व्यक्ति को जिस विकास का न्यौता दे रहा था,वह विकास नैसर्गिक सम्भावना होकर भी दुर्लभ रहा। परिन्दा उस घुटे हुए घिरे आकाश की सीमाओं से टकराने लगा। १९१९ से १९२९ तक जो उल्लास छाया-वादी काव्य को उल्लसित करता रहा, वह गहन निराशा में परिणत होने लगा। १९३१ में 'प्रसाद' जी का 'आँसू' आया। सूक्ष्म भाव-पक्ष वाला छायावाद धीरे-धीरे कायावाद बन गया। नियतिवाद, जिसका प्रतिनिधित्व 'परिवर्तन' में पन्तजी को प्राप्त हो चुका था, उसे श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री भगवतीचरण वर्मा और पं० बालकृष्णशर्मा 'नवीन' जैसे व्यक्तिवादी कवि मार्मिक और प्रखर वाणी देने लगे। १९१९ में जिस भाव-भीने रोमानी काव्य का उदय हुआ था, वह रोमाण्टिक से पतनोन्मुख अथवा डिकेडेण्ट रूप ग्रहण करने लगा।

१९२८ में विदेशी पूँजीवाद का एक विशाल गढ़ (अमरीकी वॉलस्ट्रीट) ढहने लगा। उसके बाद तो संसार-भर में मन्दी का बाजार हो गया। नतीजा यह हुआ कि बेकारी ने भीषण रूप धारण किया। भारत में किसानों की हालत जो बराबर बिगड़ती रही थी, अब बहुत नाजुक हो गई। ऐसा लगता था जैसे यह चरमराता हुआ ढाँचा चूर-चूर हो जायगा। किसान-आन्दोलन जड़ पकड़ने लगा था, जिसे शिक्षित वर्ग की बढ़ती हुई बेकारी योग देने लगी थी। इस सामाजिक वस्तु-स्थिति की प्रतिक्रिया ने नये कवियों के मन में दो रूप लिये—(१) वह जो खालिस व्यक्ति-वादी कवि थे, वह अधिक निराश किन्तु अधिक अहम्मन्य बन गए और इसलिए पलायन के नये मार्ग खोजने लगे; न सही कल्पना का आकाश, भोगवादी पाताल ही सही। (२) दूसरे वर्ग के कवि अपने व्यक्तिवाद को थोथा चना समझने लगे और मानने लगे कि एक चना भाड़ को कभी नहीं फोड़ सकता, फिर एक थोथे चने की तो बिसात ही क्या है। अहंकार की जगह नई आत्म-चेतना और लोक-चेतना ने ले ली। इनमें से कुछ ने अपने पूर्वाग्रह, रोमाण्टिक दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रूप को अपनाया। 'जुही की कली' से 'कुकुरमुत्ता' तक आधुनिक काव्य के इस निराले आगामी विकास का यही रहस्य है।

नये कवियों में 'निराला' जी सदा निराले ही रहे। वह आधुनिक कवियों में शैलीगत अपनी आधुनिकता के कारण आधुनिकतम, किन्तु अपने वेदान्त-दर्शन तथा वीर-पूजा-सम्बन्धी भावना के कारण पुरातन बने रहे। एक ओर वह घोर अहंवादी हैं और दूसरी ओर अपनी उदारमना संवेदना के कारण वह पददलितों के हिमायती हैं। 'वह तोड़ती पत्थर, इलाहाबाद के पथ पर!'—ऐसी भी है उनकी कविता! वह कविता एक ओर तो मार्गी है और दूसरी ओर वह पत्थर तोड़-तोड़कर नये युग का मार्ग भी बनाती है। जहाँ पन्तजी की लोक-चेतना 'भारत-माता ग्रामवासिनी!' इस टेक पर गाती है, वहाँ निराला जी की दृष्टि नये भारत के नये नगरों और उन नये नगरों के नये मार्गों के निर्माण-कार्य को देखने से भी नहीं चूकती। इसलिए दोनों के योग से सिद्ध हो जाता है कि भारतमाता केवल ग्रामवासिनी ही नहीं, वरन् वह इलाहाबाद के पथ-पथ पर पत्थर भी

तोड़ती है; वह कृषक-वधू है और एक मेहनतकश सामान्य मजदूर नारी भी। निराला जी दार्शनिक हैं, किन्तु वह यथार्थ को जानने वाले भी हैं, इसलिए तो उन्होंने सूत्र-रूप में कह दिया था कि आज 'मयूर-व्याल पूँछ से जुड़े' हुए हैं। स्वरूप और विद्रूप उन्हें समान रूप से प्रिय है।

यदि 'प्रसाद' हमारे छायावादी काव्य-युग के ब्रह्मा और पंतजी विष्णु, तो निराला जी ही उसके शिवशंकर हैं। प्रसाद, पंत, निराला, यही छायावाद की बृहत्त्रयी है। इन तीनों कवियों ने जिस काव्य-धारा को प्रवाहित किया, उसे कई एक नदी-नद योग-दान देने लगे, जिन्हें प्रवाहित करने वाले कवियों में प्रमुख हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री रामकुमार वर्मा, श्री 'मिलिन्द', जो लोक को लोकोत्तर दृष्टि से देखते रहे। किन्तु काव्य के लोक-पक्ष को पुष्ट करने वाले पुराने कवियों के अतिरिक्त श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री भगवतीचरण वर्मा, स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान तथा उन्हें प्रेरणा देने वाले श्री माखनलाल चतुर्वेदी और सर्वथा अनूठे श्री सियारामशरण गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। नये और पुराने के बीच प्रमुख थे श्री रामनरेश त्रिपाठी, जो राष्ट्र-भारती के प्रति अर्पित अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के कारण राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के बाद सर्वाधिक महत्त्व के कवि हैं। इनकी कविता 'अन्वेषण'—'मैं खोजता तुझे था जब कुञ्ज और वन में, तब खोजता मुझे था, तू दीन के सदन में'; 'हे प्रभो, आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए!' उनकी यह लोकप्रिय प्रार्थना; और 'पथिक' और 'स्वप्न' उनके खण्ड-काव्य, उन्हें राष्ट्रीय कविता का प्रमुख कवि कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। इनके अतिरिक्त सर्वश्री सनेही और हितैषी भी इस धारा के कवि थे।

राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार, लोक-रंजन की भावना, राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीवादी मनोयोग-दान, नारी के प्रति संवेदनपूर्ण न्याय, पुरातन का मानवतावादी नया मूल्यांकन, भारत के हृदय भारतीय ग्राम के प्रति कभी विश्वासघात न करना और उदारमना सर्व-धर्म-प्रेम इन सात सुरों से भारत-भारती की वाणी का निर्माण करने वाले हमारे राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, यद्यपि दो महा-युद्धों के बीच के २० वर्षों में भी निरन्तर कविता लिखते रहे, किन्तु वह इस निबन्ध के अन्तर्गत नहीं समाते। इतना ही कहना अलम् है कि भारतीय राष्ट्र-चेतना के वे पूर्ण प्रतीक हैं। कितना अर्थ-संगत है कि उनका निवास-स्थान सदा चिरगाँव रहा है।

किन्तु ग्राम्य-जीवन के प्रति उन्होंने मोहजन्य पक्षपात ही किया है—'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहे? थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है?' दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने से पहले ही यह भरम कवियों के मन से जाता रहा। 'निराला' जी ने अपने उपन्यास 'बिल्लेसुर' और अपूर्ण कथा 'चमेली' में गाँव का यथार्थ, किन्तु कुरूप रूप भी चित्रित किया। पन्त जी ने 'ग्राम्या' में भारतीय ग्राम का वह युगल पक्षीय रूप दिग्दर्शित किया, जिसमें ग्राम का नैसर्गिक सौन्दर्य तो था ही, किन्तु उसका काल-कवलित जर्जर यथार्थ भी अपनी सड़न और घुटन को लिये हुए साक्षात् अरूप कुरूप रूप धारण किये हुए सम्मुख खड़ा हो जाता है। यथार्थ के प्रति यह निर्मम न्याय-दृष्टि ही प्रगतिशील काव्य की पहली सीढ़ी थी।

गाँव, महाद्वीप-जैसे भारत के भीतर एक द्वीप-जैसा लगता है 'ग्राम्या' में। माना कि आधुनिक और आधुनिका के हाथों गाँव में लगाये हुए फूलबाग के भी दर्शन हो जाते हैं 'ग्राम्या' में, किंतु गाँव और शहर की मंडी का आर्थिक सम्बन्ध तो अपनी हृदय-विदारक कुरूपता को लिये हुए चित्रित हुआ है श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' में। ऐसा लगता है कि जब गाँव की

विभीषिका को सहन न कर सकने के कारण गऊ के जाये बैल मर-खिर गए, तब भैंसे ही रह गए ग्राम-व्यवस्था के छकड़े को खींचने के लिए—'चरमर-चरमर, चूँ चरर-मरर, जा रही चली भैंसा-गाड़ी !' वह भैंसागाड़ी अनाज ढोकर शहर की मंडी को जाती है और आती है, तो लाती है मुर्दनी का बोझ ढोकर !

गाँवों को उजाड़ करके जो उद्योग-धन्धों के नए केन्द्र, कानपुर-जैसे कुरूप नगर बसे हैं, वहाँ भी दो महायुद्धों के बीच के इस बीसवर्षीय काल-खण्ड के अन्तिम चतुर्थ चरण में मजदूर-आन्दोलन उठ खड़े होते हैं और पं० बालकृष्ण शर्मा-जैसे संवेदनशील भाव-प्रवेश कवि, जूठी पत्तल से जूठन खाते हुए इन्सान की दुर्दशा देखकर कोप करते और कराह उठते हैं। समाज में वर्ग-संघर्ष उग्र से उग्रतर होने लगा है और इन अन्तिम पाँच वर्षों में अनेक संवेदनशील मध्य-वर्गीय कवि शोषितों के हिमायती और पोषितों के विरोधी बन जाते हैं। संवेदनशील लोक-चेता कवि और लेखक सम्मिलित रूप से आवाज बुलन्द करने लगे थे। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ ने नई दिशा दिखाई और इसके पक्ष में स्पेन के गृह-युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील सम्मिलित मोर्चे ने जीवित जाग्रत प्रमाण प्रस्तुत किया।

ऐसे भी कई महत्त्वपूर्ण कवि थे, जिन्होंने इस समवेत स्वर को ऊँचा उठाने में योग नहीं दिया। मधुशाला के कवि, श्री 'बच्चन' मधुशाला का नशा उतरने के बाद 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' का पीड़न-भरा राग अलापते रहे। समाजगत और वर्गगत उत्पीड़न की ओर उनका ध्यान गया भी हो, तो भी उन्होंने 'आकुल अन्तर' के साथ 'विकल विश्व' की रचना नहीं की (यद्यपि 'बच्चन' जी ने एक बार ऐसी योजना बनाई अवश्य थी। किन्तु यथार्थ तो यह है कि व्यक्तिगत सुख-दुख के गीतों को ही वह 'युग-युग की वाणी' समझते रहे और पन्त जी की युग-वाणी की ओर कटाक्ष करते हुए, उन्होंने 'युग की वाणी' को हीन कोटि की कविता समझा था।

व्यक्तिगत पीड़ा को अपना विषय बनाए रखने वाले कवि 'बच्चन' के चरण धरती पर थे, उनका काव्य पार्थिव था। लोकोत्तर दृष्टिगत आध्यात्मिक पीड़ा को वाणी देने वाली श्रीमती महादेवी वर्मा व्यक्तिवादी कविता के दूसरे ध्रुव पर रहीं। दो ध्रुवों वाली इस धुरी को 'युग-युग की कविता की धुरी भी कहा जा सकता है।

प्रगतिशील लेखक संघ को योग न देकर भी श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' युग की कविता का शंख फूँकते रहे। उनके काव्य से राष्ट्रवादी कवियों की वाणी में एक और सशक्त सबल स्वर का समावेश हुआ। 'रेणुका' में 'मेरे नगपति ! मेरे विशाल !'—हिमालय, से लेकर प्राचीन भारत के (बिहार प्रान्त स्थित) भूलुण्ठित भग्नावशेषों की रेणुका तक, सब-कुछ इस उदयाचल-वासी कवि की प्रखर दृष्टि में समा गया। पुरातन की गाथा गाने वाली गंडकी से आधुनिक रसवन्ती तक, बहुत कुछ उनके काव्य का विषय बना। 'चाँदी का शंख' फूँककर उन्होंने 'विपथगा क्रान्ति' का आह्वान किया। 'लीक छाँड़ि' कर चलने वाले 'सायर, सिंह, सपूत' के समान ही बिहार का यह सपूत 'विपथगा क्रान्ति' का आह्वान करता हुआ लीक छाँड़िकर चलता गया और आगे-आगे बढ़ता गया।

'पल्लव' और 'परिमल' के रूप में, जो नई कविता पहले महायुद्ध के बाद, पहले पाँच वर्षों में खुली चुनौती देती आई थी, वह दूसरे महायुद्ध के शुरू होते-होते परिपक्व बन गई उसकी उत्तेजना चली गई और वह इस सत्य को भी मान्य बना गई कि कविता युग-विशेष के समाज

और व्यक्ति की सहगामिनी और सहचरी है। व्यक्तिवादी कविता के पहले पाँच वर्ष (१९२०-२५) बहुत ही विवादग्रस्त रहे। कविता नया दर्प और नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुई थी। नई विषय-वस्तु और नई शैली, नए छन्द और नई-उक्तियाँ, शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास, बंधन-हीन स्वच्छन्द प्रवाह, बँगला, अँगरेजी और संस्कृत से प्रभावित नया स्वरूप और सर्वोपरि यह सत्य कि कला व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है; इन सब कारणों से नई कविता क्या आई, बावले गाँव में ऊँट आ गया!

१९२५-३० की हिन्दी-कविता पकने लगी और सधने लगी। इसे देखकर स्वर्गीय श्री रामचन्द्र शुक्ल-जैसे कठोर आलोचक को भी मानना पड़ा कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" १९२७ में प्रसाद जी का नया 'झरना' भी छप गया, जिसमें छायावादी रहस्यवाद का पुट स्पष्टतः मिलता है। इस पृष्ठभूमि में 'नीहार' साथ लिये श्रीमती महादेवी वर्मा का उदय हुआ। 'नीहार' में धीरे-धीरे 'रश्मि' फूटी, फिर 'नीरजा' विकसी और हँसी और फिर 'दीपशिखा' ज्योतित हुई। इस प्रकार इन चार काल-खण्डों द्वारा मण्डित कविता का चयन करके 'यामा' आई। श्रीमती महादेवी के काव्य में वह सभी काव्य-गुण एकत्रित हो सके हैं, जिनका जिक्र शुक्ल जी ने ऊपर किया है। 'बच्चन' के समान इनके काव्य में भी आकुल अन्तर को ही वाणी मिली है, विकल विश्व को नहीं। किन्तु वह तो एकान्तिक एकान्त साधना को अपनाती रही हैं। जन-आन्दोलनों की अनुगूँज भर उनके काव्य में यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है।

१९३०-३५ में हिन्दी-कविता 'गुञ्जन', 'गीतिका' और 'लहर' को लेकर उपस्थित हुई। यह एक नया पंचवर्षीय उत्थान था।

'गुञ्जन' के कवि ने पहले ही ('पल्लव' में) घोषित कर दिया था—"मेरा मधुकर का-सा जीवन; कठिन कर्म है, कोमल है मन!" सौन्दर्य-चयन का अभिलाषी विरागी-अनुरागी उनका मन 'गुञ्जन' में जैसे गुनगुनाने लगता है—'देखूँ सबके उर की डाली!' किसने क्या चुना है? कलि, किसलय, कुसुम-शूल वह सब पर संवेदनशील अपनी कवि-दृष्टि डालते हैं और सशंकित जन को समझाते बहलाते हैं—'कवि से रे किसका क्या दुराव!' 'गुञ्जन' का कवि मानव-प्रेमी है, मानवता-प्रेमी है, वह सुख-दुख के बीच सन्तुलन का प्रेमी है और अब उसे जीवन की गति में भी लय मिल गई है। सान्ध्य-तारा से लेकर रज-कन तक सकल पदार्थों को उनकी संवेदनशील आत्मीयता प्राप्त है।

'लहर' में 'प्रसाद' जी एक नई अनुभूति को लेकर नई काव्य-भूमि पर उतरे हैं। शुक्लजी का मत है कि "स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद जी अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधु-गान ही करते रहे, पर इधर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की शैली को चित्रमयी विस्तृत अर्थभूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्तमान दुःख-द्वेष-पूर्ण मानव-जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृन्दावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया।

'निराला' की गीतिका की क्लिष्ट-श्लिष्ट पदावली, यद्यपि प्रसाद-गुण-युक्त नहीं थी, किन्तु लोक-कल्याण-कामना उसमें पद-पद पर छलकती है। वह जहाँ अन्यत्र "किसान की नई बहू की आँखें" देखकर सहज, सरल, सूक्ष्म चित्र बनाते हैं, वहाँ वह 'गीतिका' की गूढ़ शैली में भारती की जय-विजय के गीत भी गाते हैं। वास्तव में, जैसे 'गुञ्जन' और 'युगान्त' को साथ पढ़ना चाहिए, वैसे ही 'गीतिका' और नई 'अनामिका' को!

'प्रसाद' जी का 'आँसू' काव्य १९३१ में छपा था। आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्टतः कह दिया है कि " 'आँसू' वास्तव में तो हैं शृङ्गारी विप्रलम्भ के, जिनमें अतीत संयोग-सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह-रहकर झलक मारती हैं, पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर आते और संज्ञा की दशा में चले जाते हैं, जहाँ हृदय की तरंगें 'उस अनन्त कोने' को नहलाने लगती हैं, वहाँ वे आँसू उस 'अज्ञात प्रियतम' के लिए बहते जान पड़ते हैं।" किन्तु पार्थिव और दिव्य के संयोग वाले 'आँसू' ने व्यवधानों से भरे समाज में पलने और पल-पल जलने वाले व्यक्तिवादी 'देवदासों' के बीच बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। और वास्तव में 'प्रसाद' जी के 'आँसू' को ही १९३५-४० के नियतिवाद, निराशावाद, दुःखवाद, चिरन्तन पीड़ावाद अथवा कायावाद की उद्गम-धारा मानना चाहिए।

देवदास और हाला-प्याला का घनिष्ठ सम्बन्ध सहज में जुड़ जाता है और इसलिए 'बच्चन' का हालावाद और 'अंचल' का हड़कम्पी कायावाद 'प्रसाद' जी के 'आँसू' से ही निकासी पाता है। छायावादी सूक्ष्म शैली का परदा हटते ही स्थूल कायावाद के दर्शन हो जाना सहज स्वाभाविक है। वास्तव में देखिए तो छायावादी रहस्य व्यक्तिवादी काव्य पर झीने परदे के समान है। रहस्यवाद छायावाद का अनिवार्य गुण हो सो बात नहीं। रहस्यवाद का सूत्रपात सर्वश्री श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण जी गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, और मुकुटधर पांडे-जैसे कवि १९१८ से पहले ही कर चुके थे। दो महायुद्धों के बीच की हिन्दी-कविता का अनिवार्य गुण तो व्यक्तिवादी अनुभूति और अभिव्यक्ति ही है।

व्यक्तिवादी प्रसार की कामना जब पूर्ण न हुई तो कहीं आहत अहंकार की हुंकार उठी और कहीं विश्लेषणात्मक आत्मचेतना जगी तथा लोक-चेतना का उदय हुआ। इस दूसरे विकास-क्रम को पन्त जी के काव्य में, "वह आत्म और यह जग-दर्शन" कहा गया है!

व्यक्तिवादी काव्य की चरम परिणति कदाचित् 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' में हुई है। मनु महाराज के मानसिक विकास और बाह्य संघर्ष के रूप में आज के व्यक्ति के विकासोन्मुख व्यक्तित्व की ही अन्तर्मुख कथा है। जिस 'आनन्द' की ओर 'प्रसाद' जी ने 'लहर' में संकेत किया था, उसी आनन्द के कैलास-शिखर पर अन्ततः मनु महाराज प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार आधुनिक युग का यह एक-मात्र प्रतिनिधि महाकाव्य, व्यक्तिवाद के निकास, विकास और पूर्ण परिणतियुक्त प्रकाश की कहानी है। किन्तु यह भी एक सोपान है। पन्त जी की काव्य-धारा 'पल्लव' से 'ग्राम्या' तक; यह दूसरा महत्त्वपूर्ण विकास-क्रम है। इस विकास-क्रम के अनुसार मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद वर्ग-सीमा से ऊपर उठकर उदात्त यथार्थवाद के शिखर पर प्रतिष्ठित हो जाता है। 'युगान्त' में एक ओर मध्ययुगीन मान्यताओं से विदा ली गई है और दूसरी ओर आधुनिक व्यक्तिवादी सौन्दर्यबोध और कलावाद से।

अन्तिम पंचवर्षीय विकास-क्रम में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यदि हम व्यक्तिवादी कवियों को एक ओर पन्त जी की बहुत पहले लिखी हुई पंक्तियों को नाना रूपों में दुहराते हुए सुनें कि "हाय, ये अपलक चार नयन, आठ आँसू रोते निरुपाय।" तो पन्त जी के इन दो काव्य-संग्रहों का महत्त्व हम सहज में समझ लेंगे। व्यक्ति और समाज, समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों तथा समाज को गति देने वाली शक्तियों का ऐसा यथातथ्य और तटस्थ अध्ययन और कहाँ देखने को मिलेगा, जैसा 'युग-वाणी' में पन्त जी ने प्रस्तुत किया है?

आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या यही है कि कैसे मध्ययुग की काया में आधुनिक प्राणों की प्रतिष्ठा हो। भाव और रूप, प्राण और काया, आदर्श और व्यवहार के बीच जो व्यवधान उपस्थित रहा है, वह कैसे हटे? इस समस्या पर पन्त जी की 'युग-वाणी' द्वारा एक नया प्रकाश पड़ा।

लोगों ने 'युग-वाणी' को कविता का कोरा ढाँचा कहा था; किन्तु उस ढाँचे के बिना 'ग्राम्या' का मांसल सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप अलभ्य रहता, इस दिशा में आलोचकों का ध्यान नहीं गया। "खुल गए छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश; अब गीत मुक्त औ' युग-वाणी बहती अयास!" काव्य की यह स्थिति 'ग्राम्या' की पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्य थी। इसी पीठिका पर वाणी की वह सहज सरल मूर्ति प्रतिष्ठित हो सकती थी जिसका चित्र पन्त जी ने दिया है— "तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार! वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!"

'प्रसाद' जी का जीवन-दीप निर्वाण प्राप्त कर चुका था, श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य निर्वाण प्राप्त करने के लिए साधना-संलग्न था और 'निराला' जी अपने ही पुराने सौन्दर्यबोध का जैसे मखौल करने लगे थे।[1] ऐसे समय में पन्तजी ही एक नई काव्य-धारा को जन्म दे रहे थे।

रूप ही जिसकी आभा है, ऐसे 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का श्रीगणेश करके पन्त जी ने इस नई काव्य-धारा को नई प्रेरणा दी। पत्र का काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण उदार था और इसलिए वह नए प्रगतिशील काव्य को प्रोत्साहन देने लगा। "मानापमान हो इष्ट तुम्हें, मैं तो जीवन को देख रहा!" समाजगत भीषण वैषम्य का सबल सजीव चित्रण करने वाली यह कविता श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'रूपाभ' में ही प्रकाशित कराई थी। पुराने कवियों में श्री शिवाधार पांडे ने 'पहरुए जागते ही रहना!' गीत लिखकर नए युग के गायकों को चेताया था। रामविलास शर्मा की नई कविताएँ 'रूपाभ' में ही प्रकाशित हुई थीं। 'रूपाभ' द्वारा प्रत्याक्रमण के कारण ही 'विशाल-भारत' ने घासलेट-सम्बन्धी अपना आन्दोलन बन्द किया था। 'निराला' जी का 'चमेली' नामक जो उपन्यास आंशिक रूप से 'रूपाभ' में प्रकाशित हुआ था, उसी को लेकर वह वाद-विवाद आरम्भ हुआ था। 'रूपाभ' के प्रत्युत्तर के कारण वह निषेधात्मक (घासलेट-साहित्य-सम्बन्धी) आन्दोलन समाप्त हुआ जिसने 'उग्र'-जैसे साहित्यिक के पीछे पड़कर उसके उग्र भाव को जगाया और उसे विकृत बना दिया। चैतन्यमना प्रगतिशील काव्य-साहित्य के पोषण में 'रूपाभ' ने थोड़ा बहुत योग अवश्य दिया था और इसका श्रेय भी श्री सुमित्रानन्दन पन्त को है।

इस प्रकार १६१६ से १६३६ तक, बीस वर्ष के इस काल-खण्ड में जिस काव्य की रचना हुई, उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों ने योग दिया और हिन्दी-काव्य को उन्होंने बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि १६४०-५२ के बीच के १२ वर्षों

---

१. देखिए 'कुकुरमुत्ता'

में काव्य उस स्तर से ऊपर नहीं उठ सका है; कदाचित् नीचे ही आया है। प्रगतिशील लेखन का प्रारम्भिक रचनात्मक दौर जैसे समाप्त ही हो गया है। क्या फिर ऐसा दौर न आयगा कि व्यक्तिवाद की विभिन्न विच्छिन्न धाराओं में पुनः बह चलने वाला हमारा आधुनिक हिन्दी-काव्य नए समवेत स्वर के सहारे नए शिखरों को छू सके ?

(१) नया सौन्दर्य-बोध और नई अभिव्यक्ति (२) नई काव्य-भूमि और संवेदनशील नया व्यक्तित्व (३) मानव और मानवता के प्रति नई आत्मीयता और प्रीति और (४) नए समाज की रचना, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को पूर्ण विकास प्राप्त हो सके, जहाँ विषमता न रहे और न्याय और समता जिसकी साँस हो; इन चार चरणों पर स्थित प्रगतिशील हिन्दी-काव्य १६४० तक अपने प्रारम्भिक विकास-क्रम को पार कर चुका था। नई हिन्दी-कविता के ये बीस साल कदाचित् सबसे अधिक महत्त्व के बीस साल हैं।

नया महायुद्ध छिड़ गया। कुछ दिनों युद्ध ठण्डा रहा और फिर ऐसा गरमाया कि सकल विश्व उसकी लपटों से घिर गया। वर्ग-संघर्ष ने उग्रतम रूप धारण किया और राष्ट्रीय आन्दोलन ने 'करो या मरो' के सिद्धान्त को अपनाकर आखिरी बाजी लगा दी और वह उस बाजी को हार कर हतोत्साह भी हो गया। भारतीय पूँजी ने नई इजारेदारी शुरू की। नौकरशाही का बोलबाला हो गया। व्यक्ति संघबद्ध स्वार्थों से क्षुब्ध और निराधार हो गया। आर्थिक कठिनाइयों और नैतिक पतन की सीमा न रही। हिन्दी-कविता का स्वर मौन धारण करने लगा, किन्तु जनता और जन-वाणी से नया बल लेकर नए कवि सामने आने लगे। लेकिन यह तो बाद की बातें हैं। हमें तो १६१६ से ३६ तक की कहानी ही कहनी है और हम उस कहानी को अपनी अटपटी भाषा में कह चुके हैं। कहानी सूत्रबद्ध है, किन्तु वह सांगोपांग नहीं है।

नलिनविलोचन शर्मा

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी-भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है; जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। हिन्दी-उपन्यास के लिए जैसे-जैसे कच्चा माल तैयार होता गया वैसे-वैसे पश्चिम की तथाकथित भौतिक सभ्यता हमारी वाणी और वेश-भूषा को ही नहीं, प्रत्युत हमारी दृष्टि और चेतना को भी आक्रान्त करने में सफल होती गई। हमारे उपन्यास यदि आज पश्चिमी उपन्यासों के समकक्ष सिद्ध नहीं होते तो मुख्यतः इसलिए कि हमारी वर्तमान सभ्यता अपेक्षया आज भी कम जटिल, कम उलझी हुई और कहीं ज्यादा सीधी-सादी है।

उपन्यास सर्वत्र ही साहित्य का उपेक्षित अंग रहा है। उद्देश्य की दृष्टि से वह मात्र मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता था। साहित्यिक उत्कर्ष के लिए उसे 'गद्य-काव्य' बनकर उन गुणों से मण्डित होना पड़ता था जो वस्तुतः काव्य के हैं। 'कथा सरित्सागर', 'अलिफ लैला', 'डिकामेरन' मनोरंजन के साधन-मात्र थे; 'हर्षचरित' या 'कादम्बरी' की विशेषता यह है कि उनमें वे गुण हैं जो संस्कृत-काव्य के लिए शोभाकर होते हैं। शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य का यह अन्त्यज अपनी छिपी सम्भावनाओं को लेकर अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सका है और अब तो आभिजात्य का भी दावा कर सकता है। देवकीनन्दन खत्री से लेकर अज्ञेय तक के हिन्दी-उपन्यास का इतिहास इस सामान्य तथ्य का दृष्टान्त है।

उपन्यास आज भी गल्प (Fiction) की व्यापक श्रेणी में रखा जाता है, किन्तु आज वह नाम को ही गल्प रह गया है। जब तक उपन्यास गल्प-मात्र था तब तक उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और गौण उपदेश रहता था। आज गल्प, गल्प नाम के बावजूद, सत्य और केवल सत्य की, नाना दृष्टियों से गृहीत और अनेकानेक पद्धतियों से अंकित चित्र-शृङ्खला बन चुकी है। आज भी गल्प की एक शाखा गल्प बनी हुई है और मनोरंजन का लोकप्रिय साधन है, उदाहरण के लिए जासूसी उपन्यास, किन्तु इस विवेचन में उसे ध्यान में नहीं रखा गया है। हिन्दी-उपन्यास की छोटी अवधि में भी अंग्रेजी या फ्रेंच भाषा के उपन्यास के विस्तीर्ण इतिहास की विकास-प्रक्रियाओं की संक्षिप्त परन्तु पूर्ण रूप-रेखा वर्तमान है। गल्प किस तरह सत्य बन गया यह हिन्दी में थोड़े में ही देखने को मिल जाता है।

हिन्दी-उपन्यास के स्वल्प-परिसर इतिहास के अध्ययन के लिए काल-विभाजनों को, जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारों ने 'उत्थान'[1] की संज्ञा दी है, मैं निष्प्रयोजन पाता हूँ। इसी प्रकार

---

१. शुक्ल जी

उपन्यासकारों के नामानुसार विभिन्न 'स्कूलों' और साहित्यिक व्यक्तित्व के आधार पर पुकारे जाने वाले युगों को भी, अपने उद्देश्य के लिए, मैं महत्त्व-रहित विभाजक चिह्न-मात्र मानता हूँ। हिन्दी-उपन्यास के विकास की सीमा-रेखाएँ उसके भीतर ही मिलती हैं, हालाँकि उन्हें सावधानी के साथ पहचानने और साफ करने की चेष्टा नहीं हुई है।

ये सीमा-रेखाएँ अधिक नहीं हैं, मुख्यतया केवल दो ही हैं, और दोनों ही केवल एक ही उपन्यासकार में निहित हैं। अवश्य वह उपन्यासकार प्रेमचन्द हैं।

'गोदान' के पहले तक के प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथ-चिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं। हमें पर्वत के दोनों भागों और उसके शिखर को, दूर से और समीप से, अवलोकन का प्रयास करना है।

हिन्दी में उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्बन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से नाम-मात्र का भी नहीं था। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की स्थिति हिन्दी-काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातन हिन्दी-काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है; किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पच्छिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा होने के पहले घुटनों के बल भी काफी दिनों तक चलता रहा था। अपने इन आरम्भिक दिनों में उपन्यास मुख्यतः मनोरंजन का साधन था, यद्यपि वह नीति और उपदेश का स्वाँग भी भरता था। जिस जमाने में हिन्दी का उपन्यास ही नहीं, हिन्दी का पाठक भी, शैशवावस्था में था तो देवकीनन्दन खत्री के औपन्यासिक खिलौने मनोरंजन के परम लोकप्रिय साधन थे, किन्तु उन्हें उनके निर्माता ने नीतिवादी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए, उपदेशप्रद भी सिद्ध कर दिखाया था।[१] उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का वास्तविक रूप कुछ बाद के एक उपन्यास के विज्ञापन की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है......"इसमें मनोरंजन के अलावा उत्तम शिक्षा की भी पूर्ण मात्रा है। कोई परिच्छेद ऐसा नहीं जिसके पढ़ने से कोई-न-कोई उत्तम शिक्षा न मिलती हो...।"[२] समासतः देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी या तिलिस्म वाले उपन्यास[३] हों या किशोरीलाल गोस्वामी के एतादृश अथवा ऐतिहासिक-रूमानी उपन्यास[४] या गोपालराम गहमरी

---

१. देवकीनन्दन खत्री के पत्र का एक लम्बा अंश डॉ० वार्ष्णेय की पुस्तक में उद्धृत है।

२. गया से प्रकाशित होनेवाली 'लक्ष्मी' नामक मासिक पत्रिका के जनवरी १९१७ के अंक में लाला भगवानदीन के उपन्यास 'अघट घटना' के विज्ञापन से। 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में इस उपन्यास का उल्लेख नहीं है।

३. उपन्यासों के नाम 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में देखे जा सकते हैं। वार्ष्णेय की पुस्तक में तथा उपन्यास-सम्बन्धी दूसरी पुस्तकों में, कुछ ब्यौरे मिलते हैं, आलोचना नगण्य है।

४. उपरिवत्।

के जासूसी उपन्यास,[1] सभी उपन्यास का गल्प नाम सार्थक करते थे।

किन्तु साहित्य का यह रूप जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकांक्षी था, यह इसी से पता चलता है कि जब वह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णतः कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक प्रेमचन्द ने उसका अछूतोद्धार नहीं कर दिया। प्रेमचन्द के पूर्व श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किन्तु उन्होंने प्रेमचन्द को प्रत्याशित या प्रभावित किया था,[2] यह उद्भावन निराधार है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में हिन्दी-उपन्यास की ये दोनों धाराएँ सहसा एक होकर अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है—वह मात्र सत्य का वाहक है।

प्रेमचन्द में हिन्दी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनीं और उनके जीवन-काल में ही वे अनेक मन्द-तीव्र धाराओं में विभक्त भी हो गईं। मुख्य धारा से हटकर स्वयं प्रेमचन्द भी एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे। यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण, मौलिक और महान् प्रयास था, लेकिन इसके लिए ऐसे व्यापक अनुभव, मानवीयता और स्थापत्य-कौशल की जरूरत थी कि इसमें प्रेमचन्द अकेले ही रह गए; उनके इस प्रयोग का अनुकरण उस तरह अनगिनत उपन्यासकारों ने नहीं किया जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था। 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं स्वयं प्रेमचन्द की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके उच्चावच, विराट् विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर अत्यन्त विशिष्ट बन गई शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।

हिन्दी के आलोचकों ने एक स्वर से[3] 'गोदान' की यह आलोचना की है कि उसकी

१. उपरिवत्।

२. रामविलास शर्मा, 'भारतेन्दु-युग' में।

३. (क) "केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द सेवा सदन को फिर न पा सके।"
—रामविलास शर्मा

(ख) " 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन-संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चरित्र की पूर्णता के लिए है।" —वही

(ग) " 'गोदान' ग्रामीण जीवन का चित्र है।"
—प्रकाशचन्द्र गुप्त

(घ) "इस उपन्यास का बृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग 'क्षेपक' से लगते हैं; इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है।"
—शान्तिप्रिय द्विवेदी

(ङ) ' "गोदान' में गाँव के चित्र अधिकारी (आधिकारिक) रूप से तथा शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आए हैं।" —गुलाबराय

कथा-वस्तु असम्बद्ध है। वस्तुतः यही 'गोदान' के स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं पर वे वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते—उन्हीं के बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध-सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जन-जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलने वाली, अतः अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं की व्यस्तता का चित्रागार नहीं बन पाता। बहुत पहले 'प्रेमाश्रम' में, फिर 'रंगभूमि' में, प्रेमचन्द ने इन प्रक्रियाओं को पकड़ने की कोशिश की थी किन्तु तब वे पात्रों के विलक्षण व्यक्तित्व के चित्रण और स्थापत्य के कृत्रिम बन्धन के अतिक्रमण की सामर्थ्य अपने में विकसित नहीं कर सके थे। 'गोदान' में अपने 'प्रौढ़ि-प्रकर्ष' के कारण प्रेमचन्द ने 'पुराण-रीति' का 'व्यतिक्रम' किया और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि हिन्दी के रूढ़िवादी विद्वान् इसे उनकी असफलता मान बैठे।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिए ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्द के लिए भी, भाषा दुर्लंघ्य विघ्न-पाषाण सिद्ध होती रही। इस सम्पूर्ण अवधि के हिन्दी-उपन्यासकार अंग्रेजी गद्य की बारीकियों को समझ सकने में असमर्थ थे, क्योंकि उनका अंग्रेजी का ज्ञान अत्यन्त और अधिकतर नहीं के बराबर था। जिस प्रतिवेशी भाषा, बँगला, के उपन्यासों से हिन्दी के लेखक उपन्यास-रचना की प्रत्यक्ष प्रेरणा पाते रहे, और ज्यादा तो उसके उपन्यासों के अनुवाद ही कर जाते थे, स्वयं उसका गद्य भी अनुकरणीय आदर्श नहीं उपस्थित करता था। उस पर भी संस्कृत गद्य का वह प्रभाव था जिसका मोह हिन्दी के लेखकों को छोड़ देना आवश्यक भी था, पर जिसकी ओर उनकी ललचाई आँखें दौड़ ही पड़ती थीं। श्रीनिवासदास प्रभृति, लेखक, जो उपन्यास को साहित्य के सार्थक और गम्भीर रूप की की दृष्टि से ग्रहण करते थे, नाटक के कल्याणकर प्रभाव के परिणामस्वरूप उपन्यासों में भी स्वाभाविक भाषा में कथोपकथन प्रस्तुत करते थे, किन्तु अपनी ओर से वर्णन करने का अवसर मिला नहीं कि उनका गद्य संस्कृत के गद्य-काव्य की विडम्बना करने लग जाता था। किशोरीलाल गोस्वामी-जैसे पाटकों के मनोरंजनार्थ लिखने वाले उपन्यासकार में भी हम भाषा-सम्बन्धी यह भ्रान्त दृष्टिकोण पाते हैं।[1] यदि अपवाद हैं तो देवकीनन्दन खत्री, जो निष्प्राण पर निराडम्बर गद्य लिखते थे और निस्सन्देह इसीलिए हर-दिल-अजीज बन सके थे। बाद के बहुतेरे ऐयारी और तिलस्म वाले उपन्यासों में भी लच्छेदार भाषा मिलती है। देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखने वाले लेखक यह नहीं समझते थे कि खत्री जी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचन्द ने, जिन्होंने अपने समय के असंख्य युवकों की तरह देवकीनन्दन खत्री की

1. बाद तक हिन्दी-उपन्यास में गद्य का यह रूप देखने को मिलता रहता है—'प्रसाद' और 'निराला' में अपने प्रकृष्ट रूप में और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' एवं नन्दकिशोर तिवारी में अन्तिम साँस लेता हुआ।

पुस्तकें चाव से पढ़ी थीं, भाषा की इसी सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया था। यह प्रेमचन्द के लिए तब सम्भव हुआ जब उन्होंने उर्दू-गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर कठोरतापूर्वक, धीरे-धीरे बिलकुल छोड़ दिया। 'गोदान' में प्रेमचन्द की शैली उर्दू-गद्य की आलंकारिकता के निर्मोक से सर्वथा मुक्त हो गई है। 'गोदान' की महानता का, स्थापत्य-कौशल के अतिरिक्त, शैली मुख्य कारण है—वह शैली जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है, यों भाषा की सादगी के नाम पर चलते-चलाते प्रशंसा के कुछ शब्द भले कह दिए हों।

प्रेमचन्द के समसामयिक सुदर्शन भी प्रेमचन्द की तरह उर्दू से हिन्दी में आये थे। उन्हें और 'कौशिक' को निरपवाद रूप से 'प्रेमचन्द-स्कूल' के लेखकों के रूप में स्मरण किया जाता है।[1] ये वस्तुतः प्रेमचन्द की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा लिखते थे, पर इनकी भाषा के ये गुण विशिष्ट शैली स्तर पर कभी नहीं पहुँच सके। फलतः प्रेमचन्द के साथ इन गल्पकारों की तुलना ऊपर से दीख पड़ने वाली समानता के आधार पर ही की जा सकती है।

प्रेमचन्द के समकालीनों में इनसे कहीं अधिक उल्लेखनीय हैं जयशंकर 'प्रसाद'[2] और बेचन शर्मा 'उग्र', जिनके 'स्कूलों' की भी चर्चा हिन्दी के साहित्यिक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में अवश्य कर दी जाती है। ये दोनों ही उपन्यासकार विरोधाभास के विलक्षण दृष्टान्त हैं: काव्य और नाटक में परम आदर्शवादी बने रहने वाले 'प्रसाद' 'कंकाल' में घोर प्रकृतवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले 'उग्र' वर्जित विषयों पर लिख-कर 'घासलेटी',[3] अर्थात् तथाकथित अश्लील साहित्य के रचयिता के रूप में पाठकों के प्रिय और सम्पादकों के कोप-भाजन बनते हैं। इन दोनों उपन्यासकारों ने जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने का निर्भीक साहस दिखाया था—प्रथम ने सत्य का श्वासावरोध करने वाली फीलपाँवी भाषा में और दूसरे ने पर्चेबाज के 'जोश'[4] के साथ। इनके विषय की यथार्थता इनकी भाषा की

---

१. सुदर्शन ने केवल कहानियाँ लिखी थीं; कौशिक भी कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध थे यद्यपि 'माँ' तथा 'भिखारिणी' नामक उनके दो उपन्यास भी हैं। 'भिखारिणी' 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में कहानी के अन्तर्गत निर्दिष्ट है किन्तु यह गलत है, वह उपन्यास है न कि कहानी-संग्रह।

२. 'प्रसाद' के 'तितली' और 'इरावती' नामक उपन्यास सर्वथा महत्त्व-रहित हैं। उन्हें केवल 'कंकाल' के कारण ही उपन्यासकार के रूप में स्मरण किया जा सकता है।

३. 'घासलेटी साहित्य' का प्रयोग अश्लील साहित्य के अर्थ में, कदाचित् 'उग्र' के बारे में ही सर्वप्रथम किया गया था। इस शब्द के निर्माण का श्रेय, जहाँ तक मेरा अनुमान है, बनारसीदास चतुर्वेदी को है। शब्द भोंडा और ग्राम्य है पर थोड़े दिनों तक इसने सनसनी खूब फैलाई थी। प्रस्तुत लेखक के निबन्ध-संग्रह 'दृष्टिकोण' में साहित्य में अश्लीलता और ग्राम्यता पर सामान्य रूप से और 'उग्र' पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

४. 'उग्र' ने अपने बहुत बाद के एक निबन्ध में, जो प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'कर्म योगी' में छपा था, 'जोश' को साहित्य का बहुत बड़ा गुण सिद्ध किया था। 'जोश' इस प्रसंग में उन्हीं का शब्द है, उसकी महिमा अवश्य नहीं मानी गई है।

अयथार्थता के कारण मारी जाती है और उपन्यासकार के रूप में ये उस महत्त्व के अधिकारी नहीं बन सके जिसके आसानी से बन सकते थे।

'प्रसाद' अपनी अलंकृत शैली के कारण बाद की पीढ़ी के उपन्यासकारों के द्वारा अनुकृत नहीं हुए, यद्यपि यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साम्यवादी यथार्थवाद की द्विविध धाराओं में, विकसित हुआ। 'उग्र' की नाटकीय शैली का असफल अनुकरण कोक-साहित्य के कुछ लेखकों ने किया, किन्तु उनमें न तो उनके आदर्श लेखक की सोद्देश्यता थी, न मर्मभेदी दृष्टि, जिनसे शैली की कृत्रिमता या विषय की तथाकथित अश्लीलता अंशतः क्षम्य हो जाती हैं।

प्रेमचन्द के 'गोदान' का अनुकरण असम्भव प्राय कार्य था और वह हुआ भी नहीं। किन्तु उसके पूर्व के प्रेमचन्द का खूब ही अनुकरण हुआ। हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण और अधिकतर साधारण उपन्यासकारों के लिए प्रेमचन्द ने एक सुगम मार्ग उद्घाटित कर दिया था। 'देहाती दुनिया' के लेखक शिवपूजनसहाय ऐसे उपान्यासकारों में। श्रेष्ठ हैं राधिकारमणप्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', अनूपलाल मण्डल और भगवतीचरण वर्मा भी इस श्रेणी में परिगणनीय हैं।

हमने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को चढ़ाव के पार कर लिया है और उसके शिखर 'गोदान' को तनिक ठहरकर, ध्यान के साथ, देखने में समय लगाया है। शिखर के इस पार का देश हमारे लिए इतना परिचित, इतना समीप है कि हम उसकी बहुत-सी बातों को देख भी लेते हैं तो सम्यक् पर्यवस्थिति के अभाव में समझ नहीं पाते। पर इतना तो है ही कि यहाँ रेत है तो हरियाली की भी कमी नहीं है, गड्ढ और दलदल हैं तो छोटी-मोटी चोटियाँ भी जरूर हैं।

१६३६ में प्रेमचन्द का 'गोदान' प्रकाशित हुआ था;[१] १६३६ में ही जैनेन्द्र की 'सुनीता' प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द ने अपने दशाधिक उपन्यासों की उपलब्धि को एक ओर रखकर 'गोदान' में व्यापक से व्यापकतम भारतीय जीवन को विषय के रूप में आकलित किया। जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की, और अगर प्रेमचन्द की नहीं तो समस्त हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की, उपलब्धि का प्रत्याख्यान करने का मौलिकतापूर्ण साहस दिखाया और 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द से उन्हें सबसे अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। जैनेन्द्र ने गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी की सम्यता को व्यक्ति के आभ्यन्तर जीवन की गुत्थियों और गहराइयों को, और भी पहले से अपने उपन्यासों का विषय बनाना शुरू कर दिया था। 'सुनीता' में उपन्यासकार मरजीवा ने सबसे गहरी डुबकी लगाई थी। पश्चिम के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की किंवदन्ती सुन रखने वाले हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रायड का प्रभाव घोषित कर अपनी पण्डितम्मन्यता को सन्तुष्ट किया; स्वयं जैनेन्द्र ने ईमानदारी का परिचय देते हुए सदैव इस आरोपित प्रभाव को अस्वीकार किया। सत्य भी यही है कि व्यक्ति-केन्द्रित होने पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रणाली की छाया भी नहीं है। जैनेन्द्र में, वस्तुतः, हिन्दी ने एक शरच्चन्द्र के अभाव की पूर्ति पा ली। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के पिपठिषु पाठक

---

१. प्रकाशन-काल-सम्बन्धी ऐसी समस्त सूचनाओं के लिए मेरे पास सुलभ आकर-ग्रंथ है 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य'। यदि उसमें छोटी-मोटी भूलें भी हों तो उनसे वैसी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि मैं अपने इस प्रबन्ध में प्रवृत्तियों के निरूपण के लिए ही प्रयास कर रहा हूँ, विवरण तो बहुत कम ही दे पाया हूँ।

उन दिनों राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण और अपनी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक वयःसन्धि के फलस्वरूप, अपरिणत, कुण्ठाग्रस्त और भावुकता के शिकार थे। प्रेमचन्द ने शरच्चन्द्र की तरह स्त्रैण भाव को अपनाने में अपनी अरुचि कबूल की थी।[1] कुछ छायावादियों ने, विशेष रूप से गौण छायावादियों ने, काव्य के माध्यम से शरच्चन्द्र की अश्रु-पंकिल भावुकता का समावेश हिन्दी में किया था, पर वह अपर्याप्त सिद्ध हुआ था। उनकी अव्याख्येय पीड़ा की तुलना में जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न सुख के लोभी पात्रों की कारुणिकता खूब ही लोकप्रिय हुई। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि इस फन के उस्ताद शरच्चन्द्र की अनूदित पुस्तकें इस जमाने में जितनी संख्या में बिकीं उसकी तुलना में जैनेन्द्र की भी लोकप्रियता नगण्य थी।

यदि जैनेन्द्र ने 'परख' या 'त्याग पत्र' आदि उपन्यास ही लिखे होते, और 'सुनीता' नहीं लिखी होती, तो वे शरच्चन्द्र की छाया-मात्र बनकर रह जाते। किन्तु जिस तरह 'गोदान' लिखकर प्रेमचन्द अपने दूसरे उपन्यासों की औसत से अच्छी साधारणता से बहुत ऊपर उठ सके थे, उसी तरह जैनेन्द्र 'सुनीता' के लेखक के रूप में शरच्चन्द्र की छाया से अधिक महत्त्व के अधिकारी बन जाते हैं। सुनीता की नग्नता को कम मानकर यशपाल ने 'दादा कामरेड' लिखा था और शायद उसे ही चुनौती मानकर द्वारिकाप्रसाद ने, हाल में, 'घेरे के बाहर' लिख डाला है, किन्तु नग्न सुनीता की प्रतिमा गढ़ने में जैनेन्द्र ने जैसा तरुण-कौशल प्रदर्शित किया है वह महान् उपन्यासों में भी क्वचित् कुत्रचित् ही देखने को मिल पाता है।

जैनेन्द्र की भाषा की भी बहुत बड़ी विशेषता है उसकी सादगी, किन्तु वह न तो देवकीनन्दन खत्री, सुदर्शन और कौशिक की भाषा की सादगी है, न प्रेमचन्द की ही। पहले वर्ग के उपन्यासकारों की तुलना में जैनेन्द्र की भाषा की सादगी में प्रत्यभिज्ञेय वैशिष्ट्य है; प्रेमचन्द की सहज सरलता के विपरीत जैनेन्द्र में सचेष्ट असचेष्टता है। जैनेन्द्र के गद्य की शैली उनकी भाषा के इसी गुण से रूप ग्रहण करती है, किन्तु असचेष्टता की अतिशयता के कारण बार-बार पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है और लेखक के गुर, ढंग के रूप में पहचान में आ जाती है। जैनेन्द्र सत्य को स्वयं बोलने के लिए छोड़कर सन्तुष्ट नहीं रह जाते, जैसा प्रेमचन्द अपनी बाद की रचनाओं में सहज भाव से करते थे, बल्कि सत्य पर अपनी धार चढ़ाकर सामने रखते हैं। फलतः विषय के सत्य की तीक्ष्णता शैली की तीक्ष्णता के कारण गौण पड़ जाती है और समूची कृति क्षति-ग्रस्त हो जाती है।

१९१६ में 'सौन्दर्योपासक' लिखकर ब्रजनन्दनसहाय ने उल्लेखनीय व्यक्तिपरक उपन्यास प्रस्तुत किया था। १९२३ में अवधनारायण का भावुकता-प्रधान उपन्यास विमाता प्रकाशित हुआ था। जैनेन्द्र के भावुकता-प्रधान व्यक्तिपरक उपन्यासों में ये धाराएँ समन्वित हो गई हैं। बाद के कुछ उपन्यासकारों ने जैनेन्द्र की भावुकता और शैली का अनुकरण किया पर वे हिन्दी के अत्यन्त गौण उपन्यासकार हैं।[2]

जैनेन्द्र पर न तो फ्रायड का ही प्रभाव था, न अन्य पाश्चात्य साहित्यिक धाराओं का ही। जैनेन्द्र के साथ और बाद में ऐसे प्रभावों का आधिक्य दीख पड़ता है।

---

१. प्रेमचन्द ने अपने एक निबन्ध में इसका स्पष्टता के साथ निर्देश किया है। द्रष्टव्य—प्रेमचन्द : कुछ विचार।

२. उदाहरणार्थ, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त आदि।

१६३२ में कृष्णनाथ मिश्र का 'प्यास' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, जिसमें आधुनिक अँग्रेजी उपन्यासकारों और अँग्रेजी गद्य की प्रमुख विशेषताएँ सफलतापूर्वक सन्निविष्ट थीं। जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ के युगान्तरकारी प्रयोगों का इस उपन्यास में बड़े अधिकार के साथ समावेश किया गया था। फिर 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ्ट-एबिंग, हैवेलाक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया। 'अज्ञेय' इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं, न उपन्यास के मुख्य पात्र के प्रति-निर्लिप्तता का। उनके सद्यःप्रकाशित उपन्यास का नाम, 'नदी के द्वीप', 'चेतना के प्रवाह' का रूपान्तर है। 'नदी के द्वीप' हिन्दी का एक उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिस डी० एच० लारेंस की कविताएँ कण्ठस्थ और समय-असमय उद्धृत करते 'नदी के द्वीप' के पात्र थकते नहीं, यदि उसकी स्पष्टवादिता का शतांश भी 'अज्ञेय' में होता तो वे हिन्दी के लारेंस कहलाने के अधिकारी होते—और यह कम गौरव की बात न होती।[1] इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषण-विज्ञान के कुछ प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का चर्वित-चर्वण किया है किन्तु इस विज्ञान की प्रणाली का लाभ उपन्यास के लिए वे उठा नहीं पाए हैं। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की तुलना में द्वारिकाप्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनाई है और 'रोगी का इतिहास' (Casebook) ही तैयार कर दिया है। द्वारिकाप्रसाद ने 'अज्ञेय' की तरह मौन जीवन के तथ्यों पर कवित्वपूर्ण शैली और वर्णनों का रेशमी आवरण नहीं रखा है, न ताली की सूराख से शयनागार की झाँकी-भर दिखाकर निर्भीकता का श्रेय लेने की कोशिश की है। किन्तु, दूसरी ओर, खल्वाट् शैली के कारण उनका उपन्यास अधिकतर 'रोगी का इतिहास'-मात्र बनकर रह जाता है। यह निःसंदिग्ध है कि इन सभी कृतियों में केवल 'नदी के द्वीप' में ही यत्र-तत्र हिन्दी का ऐसा दृढ़बन्ध, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है जिसमें अँग्रेजी गद्य का उत्कर्ष आत्मसात् हो गया है।

विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा ने भी हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकारों को प्रभावित किया है। साम्यवादी विचार-धारा को यशपाल ने अपने बहुसंख्यक उपन्यासों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु वे घूम-फिरकर व्यक्ति की उस वर्जित परिधि में बँध जाते हैं, जिससे बचकर सामूहिक जीवन का चित्रण करने का सिद्धान्त साम्यवादी लेखक दुहराते रहते हैं। साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कम और नवीन दृष्टि से पुनर्निर्मित इतिहास अधिक हो गए हैं। हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक किसान-मजदूर के लेखक रूप में प्रेमचन्द की वीर-पूजा करते हैं। इस वर्ग के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सचमुच ही आश्चर्यजनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी उपन्यासकार ने किसान-मजदूर-वर्ग से सम्बद्ध उल्लेख्य उपन्यास नहीं लिखा है—घोर साम्यवादी उपन्यासकारों ने भी नहीं।

हिन्दी-उपन्यास की एक ही अन्य ऐसी धारा है जो क्षीण होने पर भी विचार के योग्य है। वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी

---

1. 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' पर मैंने तनिक विस्तार से त्रैमासिक 'साहित्य', जनवरी १६५२, में विचार किया है।

ने ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हिन्दी में स्काट, राखालदास वंद्योपाध्याय या मुन्शी के अभाव की पूर्णतः पूर्ति हो जाती है। किन्तु उपन्यास के लिए इतिहास का एकमात्र महत्त्व यह है कि वह विषय को बहुत दूर पर रखकर अवलोकनीय बना सकता है। अब जब तक इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे जाते तब तक उनका विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

शिवचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामचन्द्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर, देवराज—और ऐसे तो अनेक दूसरे नाम हैं—हिन्दी-उपन्यास को बना-बिगाड़ रहे हैं। यह नव-निर्माण की अनिवार्य प्रक्रिया है।

प्रभाकर माचवे

ऐतिहासिक उपन्यास

आरम्भिक

इतिहास का अर्थ है इति-ह-आस यानी 'यह ऐसा हुआ।' उपन्यास का अर्थ ही है 'नवलिका' (नौवेले > नाविल) या कादम्बरी। पहला घटना का यथार्थ वर्णन है। दूसरा कल्पना का रोचक रम्य विलास है। तो क्या दोनों में कोई मौलिक विरोध है ? क्या यथार्थ की गौर-मिट्टी से ही हमारी कल्पना नहीं बनती ? और हमारे सपनों का कुछ असर हमारे यथार्थ के निर्माण पर पड़े बिना रहता है ? और फिर ऐतिहासिक उपन्यास एक कला-कृति भी है। यानी कलाकार व्यक्ति की मेधा और मार्मिक भावना से छनकर नया रूप और रंग दिखलाने वाला समाज-दर्शन ! कलाकार व्यक्ति समाज-निरपेक्ष नहीं और न ही समाज व्यक्तियों से अप्रभावित रहा है।

मेरा विचार ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन-समस्या के इस मौलिक अन्तर्द्वन्द्व पर कुछ कहना है; जिसमें मेरे पढ़े हुए इतिहास-वृत्तान्त और उन पर लिखे गए आख्यानों की बात भी आ जायगी। साथ ही अँग्रेजी, हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती और अन्यान्य देश विदेशी ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा भी होगी। ऐतिहासिक उपन्यास की समस्याएँ भी इसी में आयँगी।

इतिहास का दर्शन

हेगेल की एक पुस्तक इस नाम से मैंने पढ़ी थी। बाद में मार्क्सवादियों की ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्याएँ विशेषतः लेनिन-एंगेल्स की, और नव्य आदर्शवादी क्रोचे और तर्कवादी रसेल की भी इस विषय में गवेषणाएँ और मंतव्य मैंने पढ़े हैं। एंगेल्स ने हेगेल के आदर्शवादी इतिहास दर्शन के विरोध में 'एण्टी-ड्यूहरिंग' में लिखा है—'The Hegelian system as such was a colossal miscarriage. It suffered from an internal and insoluble contradiction.' हेगेल एक ओर इतिहास को निरा विकास मानता है और दूसरी ओर इसी को चरम सत्य भी कहता है। यह परस्पर-विरोधी विधान हैं। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जैसे मैंने अपनी एक कविता में लिखा था—

> मानव, क्या तेरा इतिहास ?
> ज्यादह आँसू, थोड़ा हास
> रक्तपात साम्राज्य-विनाश,
> चक्र-नेमि-क्रम पुनर्विकास !

इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक निश्चित है। परन्तु इसके विषय में तीन तरह के मत-विश्वास बहुप्रचलित हैं। एक मत को हम आवर्तवादी कहें। इनके अनुसार इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। हम पुनः लौटकर वहीं पहुँचेंगे जहाँ पहले थे। और इस तरह से मनुष्य से कृतित्व का सारा दायित्व और सारी महत्ता छीनकर किसी अज्ञात, रहस्यवादी शक्ति (ईश्वर, कर्म, नियति,

प्रकृति या जो कुछ भी उसे कहें) के हाथों उसे सौंप देना है। इस मत के लोग पुनरुज्जीवनवादी होते हैं। उनके अनुसार फिर से हिन्दू या आर्य 'पद-पादशाही' का साम्राज्य हो सकेगा, या राम के राज्य की पुनरावृत्ति हो सकेगी। इन संकीर्ण पुनरुत्थानवादियों के तर्क से यदि कोई यह कहे कि पुनः 'कृण्वन्तो विश्वम् बौद्धम्' हो जायगा या कि फिर से मुग़लों की सल्तनत या गोरों की कम्पनीशाही भारत में आ जायगी, तो लोग हँसने लगेंगे। परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार जीव की यह पुनः मूल की ओर जाने की वृत्ति (एटैविज़्म) एक प्रबल स्फूर्तिदायक प्रवृत्ति है। कहना नहीं होगा कि यह इतिहास-दर्शन चाहे कितना ही आदर्शवादी हो, कितना अवैज्ञानिक और अयथार्थ है। कलियुग के बाद फिर से प्रलय होगी और हजरत नूह की किश्ती में सिर्फ आदम और हौआ मौज करेंगे, यह मानना अणु-युग में एक मजाक-मात्र है।

इसी आदर्शवादी पुनरुज्जीवनवादी वृत्ति को घटनाओं की तर्क-प्रतिष्ठा देकर और वैज्ञानिकता का बुर्का पहनाकर टायनबी-जैसे इतिहास-वेत्ता भी एक दूसरी दृष्टि इतिहास के बारे में देते हैं। वह है उत्थान-पतन की आवृत्ति, प्रतीत्य-समुत्पाद की तरह लहरियों का कार्य-कारण-परम्परा की तरह एक के बाद दूसरी का आना, यही इतिहास का सत्य है। इसमें भी मनुष्य केवल तरंगों पर के फेन-बुद्बुद की भाँति उठकर फूट जाते हैं। 'वे केवल महा मिलन के चिह्न की तरह बचे हैं!' यह वैसे तो बहुत-कुछ तर्क-संगत इतिहास-दर्शन जान पड़ता है, परन्तु यह पहले दर्शन की भाँति निराशावादी न होने पर भी स्थिति-स्थापकवादी दर्शन अवश्य है। इसमें मानवी प्रगति के लिए कोई प्रयोजन, संस्कृति की निरन्तर ऊर्ध्व गति का कोई अभिप्राय नहीं दिखाई देता। हमारे कई साहित्यिकों ने जैसे पहली शैली अपनाई थी, दूसरी शैली भी कम प्रमाण में नहीं अपनाई गई है। इस विचार-सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि महापुरुषों या स्फोटक घटनाओं की संगति कैसे लगाई जाय?

इतिहास का एक तीसरा दर्शन भी है जो ऊपर के दोनों दर्शनों के ग्राह्यांश को ग्रहण करके, इतिहास और व्यक्ति-मानव या मानव-समूह के सम्बन्धों को अधिक वैज्ञानिक ढंग से देखने का यत्न करता है। अब इतिहास कोई महाकाल की तरह हौआ नहीं है, और न ही एक महासागर की तरह सदा हिलोरें मारने वाला, पर उसी सीमा की मर्यादा में रहने वाला पंचतत्त्व में से एक महाभूत-मात्र है। अब इतिहास मनुष्य-निर्मित, सुनिर्दिष्ट, दिशा-युक्त गति-विधि है। काल मनुष्य की चेतना की मर्यादा ही नहीं, चेतना-सापेक्ष तत्त्व है—बुद्धिगम्य और परिवर्तनक्षम। अँग्रेजी कवि आडेन ने जैसे कहा था :

'दि सैंड्स आफ टाइम
आर प्लास्टिसीन इन माइ हैंड !'

यानी काल-घटिका की रेती के कण क्षण-क्षण पर चुपचाप खिसकने वाले मनुष्य के बस के बाहर के निमिष-मात्र नहीं। परन्तु वह मेरे (मनुष्य के) हाथों से निरन्तर रूपाकार ग्रहण करने वाले 'प्लास्टिसीन' (मूर्ति बनाने की गीली मिट्टी की भाँति एक अर्द्ध-घन पदार्थ) की तरह हैं। यानी मनुष्य इतिहास का निर्माता भी है। यह नई भावना उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामने आई। और यह इतिहास बनाने वाले कोई गिने-चुने महापुरुष-मात्र ही नहीं, जमात-की-जमात, वर्ग-के-वर्ग, यूथ-के-यूथ भी इतिहास बना सकते हैं—यह नया तथ्य फ्रांसीसी, रूसी, चीनी और अन्य क्रान्तियों से उपलब्ध हुआ है। यह नया इतिहास-दर्शन इतिहास की गति को

द्वन्द्वात्मक मानता है, यानी यह प्राचीन के सर्वोत्तम का समाहार कर नित-नवीन की सृष्टि करता है। यह गति केवल चक्राकार या सर्पिल नहीं पर शंखाकार (स्पाइरल) है।

भारतीय इतिहास से उदाहरण

पहली इतिहास-दृष्टि के अनुसार भारत में वैदिक आर्यों का राज्य फिर से होगा, या जैसे सावरकर ने ११ मई १९५२ को पूना की एक सभा में 'अभिनव भारत-समाज' के उत्सव में कहा—"हमारे पूर्वजों ने जिस सिन्धु नदी के किनारे स्नान-सन्ध्या की, वह फिर से 'गंगे चैव गोदे चैव' हमारे अखण्ड भारत में मिलेगी और महाराष्ट्रवासियों ने भीमा नदी में जिन घोड़ों को पानी पिलाया उन्हें सिन्धु नदी में जाकर पानी पिलाया—वही यह कार्य फिर से करेंगे।" कोई भी विवेकी व्यक्ति सहज कहेगा कि यह कोरी कल्पना-मात्र है।

दूसरी इतिहास-दृष्टि के अनुसार गुप्त-मौर्य साम्राज्य उठे, गिरे; पठान-मुगल, रजपूत-मराठे-सिख-राज्य उठे, गिरे; अँग्रेजों का राज्य हुआ और वह भी नहीं रहा—यों हर साम्राज्य जो उठेगा अवश्य गिरेगा और इसलिए यह गर्व व्यर्थ है कि 'यूनानो-मिस्र-रूमा सब उठ गए जहाँ से !' और अब हम ही शेष हैं। इस तरह का चिन्तन हमें कहीं भी प्रगति में आस्था और विश्वास नहीं जगाता, उलटे हममें एक प्रकार से 'ततः किम्' वाली अकर्मण्यता जगाता है।

इसलिए तीसरी आकृति बहुत-कुछ सही है, यानी आज जो हम हैं, यानी भारतीय संस्कृति है, वह इतिहास के प्रभाव से कटी हुई नहीं है। इतिहास हमारे लिए केवल 'भूमियों' से भरा या खण्डित पाषाणों से भरा अजायबघर नहीं है। उससे हमें स्फूर्ति ग्रहण करनी है। मानव के बल-साहस और विक्रम तथा जीवन के प्रति दृढ़ निष्ठा का पाठ सीखना है, पर उसी में रम नहीं जाना है। उतना ही काफी नहीं है। पीछे देखना है इसलिए कि आगे भी बढ़ना है, वरना वह केवल पीछे देखना ही हो जायगा। प्रगति परा गति हो जायगी। वर्तमान को भूत से तोलना बेकार है। होंगे हमारे पुरखे बड़े शेरदिल, पीते होंगे वे मन-भर घी, पर उससे हमें क्या ? सारा इतिहास निरी गपबाजी नहीं है, परन्तु वह आज के यथार्थ की तुलना में बहुत-कुछ कपोलकल्पित अवश्य लगता है। मनुष्य को इतिहास ने बनाया, उसी तरह मनुष्य भी इतिहास बनाता है और हर क्षण यह क्रिया चल रही है। यह नहीं कि स्वातन्त्र्य-युद्ध का जो कुछ इतिहास था वह १८५७ या १९०४ या १९१९-२० या '३० या '४२ में बनकर '४७ में आकर समाप्त हो गया। आगे कुछ होने ही वाला नहीं है, यह मानना भूल है। वह निरन्तर-विकसनशील, चिरन्तन गतिमान, सततोर्ध्वगामी प्रक्रिया है। इतिहास, यों किसी एक विभूति-विशेष या सन् संवत्-विशेष की जागीर नहीं, उनकी तालिका-मात्र भी नहीं। विभूति-पूजकों को यह भी उदाहरण इतिहास में मिलेंगे कि कल की विभूतियाँ आज की 'विभूति' (राख)-मात्र हैं, तो कल के रज-कण आज के रत्न-कण बनते जा रहे हैं। रेडियम घूरे पर ही तो पाया था मदाम क्यूरी ने।

प्रा० गं० ब० ग्रामोपाध्ये ने अपने मराठी लेख 'ऐतिहासिक कादम्बरी : कांही विचार' (नवभारत, फरवरी १९४९) में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। उनके अनुसार—(१) ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ऐसे काल में होती है जब समाज में गत इतिहास के लिए आदर और श्रद्धा होती है। (२) इतिहास में कल्पना और भावना का रंग मिला हुआ नहीं होता। उसका सत्य-दर्शन यथासम्भव वस्तुनिष्ठ होता है। परन्तु उपन्यास में सत्याभास-मात्र होता है।

(३) अतः ललित कृति में ऐतिहासिक सत्याभास का क्या अर्थ है ? उपन्यासकार उस समय की दन्तकथाएँ, जन-विश्वास आदि जानता है और उस काल के रम्याद्भुत वातावरण में डूब जाता है। इतिहास की घटनाओं के रूखे विवरण में वह नहीं पड़ता। (४) ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र काल्पनिक होते हैं परन्तु प्रतिनिधि-रूप होते हैं। लेखक की कल्पना को भी इतिहास के बन्धन रहते हैं। (५) इस प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थता एक भिन्न प्रकार की यथार्थता है। उसे यथार्थवादी रचनाओं की आलोचना की कसौटी से हम नहीं जाँच सकते। उसमें यथार्थवाद से अधिक अद्भुत रम्यतावाद ही होता है। इतिहास का यथार्थ आज के यथार्थ से अधिक रम्याद्भुत होता है। (६) इतिहास की मर्यादा कुछ दशकों तक या शतियों तक सीमित नहीं है। भारत का विभाजन और महात्माजी का निर्वाण आदि घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। उन पर आधारित ललित कृति भी ऐतिहासिक कहलायगी।

अब इस विचारधारा में दो-चार बातें बहुत विवाद्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना केवल ऐसे समय में नहीं होती कि जब समाज-मन में प्राचीन के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा-भाव हो। इससे उल्टे कई बार यह एक सामाजिक ह्रासोन्मुखता का भी लक्षण माना गया है कि वर्तमान हत-बल और हत-वीर्य अवस्था में केवल प्राचीन की पूजा की जाय, अतीत की ओर मुड़ा जाय और पुनरुज्जीवन का नारा दिया जाय।

दूसरी विवाद्य बात यह है कि मानव की यथार्थता क्या एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है, क्या वह एक प्रगतिशील तत्त्व नहीं है? इतिहास की यथार्थता भिन्न है, और सामाजिक यथार्थता भिन्न है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जो आज की यथार्थता है वह आगामी कल का इतिहास बनेगा। हमारी सामाजिक वास्तविकता के निर्माण में इस ऐतिहासिक तथ्य का बहुत बड़ा हाथ है। हमारा चिन्तन-मात्र देश-काल के इन निरन्तर बदलते हुए साँचों से बँधा है और इसी कारण वह स्वतन्त्र इस अर्थ में नहीं है कि वह एकदम समाज-विमुख या समाज-निरपेक्ष हो जाय।

तीसरी विचारणीय बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक का दृष्टिकोण क्या हो? क्या वह पुनरुज्जीवनवादी की भाँति केवल इतिहास में रम जाय, या वह वर्तमान और भविष्यत् का भी ध्यान रखे? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (इस युग के हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास) की आलोचना में मैंने 'प्रतीक' में लिखा था, जिसका भाव यह था कि इस उपन्यास में यह डर है कि उस सामन्तकालीन मुमूर्षु संस्कृति के प्रति पाठक के मन में मोह न उत्पन्न हो जाय।

यह देखने के लिए कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालखण्डों पर हमारे उपन्यासकारों ने कहाँ तक क्या और कैसे लिखा है उनकी एक तालिका देना आवश्यक है। यहाँ मैं उन्हीं उपन्यासों की सूची दे रहा हूँ जो मैंने पढ़े हैं और जिनका नाम इस समय स्मृति से मुझे याद है। भारतीय इतिहास के कालखण्डों पर हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती उपन्यासकारों की रचनाओं के नाम देकर बाद में उन भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास के ऐतिहासिक क्रम-विकास का उल्लेख है :

प्राग् ऐतिहासिक युग तथा आदिम वैदिक युग—'संघर्ष', 'सबेरा, गर्जन' (भगवतशरण उपाध्याय) 'वोल्गा से गंगा' की आरम्भिक कहानियाँ (राहुल सांकृत्यायन), मुर्दों का टीला (रांगेय राघव); लोपामुद्रा (क० मा० मुन्शी)।

रामायण-महाभारत-पुराण-काल—महाकाव्य-खण्डकाव्य-जैसे आख्यान-काव्य और

चरित-प्रधान पद्य-रचनाएँ बहुत हैं, उपन्यास कम। कुछ नाटक भी मिलते हैं परन्तु उपन्यास प्रायः नहीं हैं। परशुराम (क० मा० मुन्शी), उत्तरा (एक पुराना मराठी उपन्यास) अपवाद हैं। वैसे महाभारत को 'उग्र' जी ने 'साहित्य-संदेश' के उपन्यास-अंक से पूर्व के अंक में विश्व का एक श्रेष्ठ उपन्यास कहा है। रांगेय राघव कृष्ण पर शायद लिख रहे हैं।

जैन-बौद्ध-प्रभाव के गुप्त-मौर्यादि युग—सम्राट् अशोक (वा० ना० शाह, मराठी से हिन्दी में अनूदित); शशांक, करुणा (राखालदास बन्द्योपाध्याय); बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी); दिव्या (यशपाल); जय यौधेय, सिंह सेनापति (राहुल सांकृत्यायन); समुद्रगुप्त (मिश्रबन्धु); चित्रलेखा (भगवतीचरण वर्मा); वैशाली की नगर वधू (चतुरसेन शास्त्री); अम्बपाली (भटनागर) (अन्तिम तीन उपन्यास इतिहास से अधिक उस काल के वातावरण पर आश्रित हैं।)

मध्य-युग और मुस्लिम राज्यकाल—पाटणनी प्रभुता, गुजरातनो नाथ, कालवाघेरना, पृथ्वीवल्लभ (क० मा० मुन्शी); कलंकविष, गड आला पण सिंह गेला (ह० ना० आप्टे); देवी चौधुरानी, आनन्द मठ, दुर्गेशनन्दिनी (बंकिमचन्द्र); नाथ माधव की कादम्बरीमय शिवशाही और पेशवाई की बीस नाविलें (वि० वा० हड़प); अकबराने वेद साधन (मराठी); प्रभावती (निराला); जेबुन्निसा; बेगमात के आँसू ; मुगल-दरबार-रहस्य; वीर छत्रसाल; रानी सारन्धा और हरदौल (दीर्घ कथाएँ); चित्तौड़ की पद्मिनी; महाराणा प्रताप; शिवाजी आदि। (इनमें से अधिकांश ड्यूमा, स्काट रेनाल्ड्स से प्रभावित उपन्यास रहस्य और रोमांच के प्रेमियों की रुचि के ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यासों की कोटि के, या विभूतिपूजक उपदेशपूर्ण उपन्यासों के ढंग पर हैं)। वृन्दावनलाल जी के उपन्यास गढ़-कुण्ढार, मृगनयनी, अचल मेरा कोई, कचनार इसी युग के सम्बन्ध में हैं।

अंग्रेज़ी राज्यकाल और वर्तमान काल—झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई (वृन्दावन-लाल वर्मा); चन्द्रशेखर, (बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय); पथ के दावेदार (शरत्-चन्द्र); 'दि कन्फेशन्स आफ ए ठग'; शृङ्गेरी-मठ (गोआ में पुर्तगाली अत्याचारों पर मराठी उपन्यास); काला पानी (सावरकर); कंठपुर (राजाराव का गांधीजी के असहयोग आन्दोलन पर अंग्रेजी उपन्यास); मुल्कराज आनन्द के तीन अंग्रेजी उपन्यास स्वाधीनता-आन्दोलन के विषय में; जीने के लिए (राहुल जी का महायुद्ध पर जाकर लौटने वाले सिपाही पर उपन्यास); इन्दुमती (सेठ गोविन्ददास का कांग्रेस के इतिहास पर उपन्यास); वैसे चार अध्याय, सुनीता, शेखर, टेढ़े-मेढ़े रास्ते में भी आतंकवादी आंदोलन का एक चित्र है, पर वह एकांगी है; राष्ट्रीय आन्दोलन पर साने गुरूजी के दो उपन्यास; सन् '४२ के आन्दोलन पर मराठी में ४ (प्रभद्दरा, शाकुन्तल; अमावस्या, क्रान्तिकाल); हिन्दी में देशद्रोही (यशपाल); पैरोल पर (ब्रजेन्द्रनाथ गौड़) आदि और बंगाल

के अकाल पर मन्वन्तर (ताराशंकर वन्द्योपाध्याय), महाकाल (अमृतलाल नागर) और नोआखाली के दंगे पर खुद वहाँ घूमकर लिखा हुआ मराठी उपन्यास 'सुनीता' (बिवलकर) बहुत अच्छे हैं। 'पूर्वेकडीक कालोख' (हड्डप की जापान-विरोधी युद्धकालीन कथा मराठी में है) और भारतीय भाषाओं में शायद विदेशों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर बहुत कम मौलिक लिखा गया है। वैसे राहुल जी का 'मधुर स्वप्न' अपवाद है।

ऊपर दी हुई तालिका किसी भी प्रकार से सम्पूर्ण या यथाक्रम नहीं है। जैसे नाम याद आते गए, मैं लिखता गया हूँ। इसमें बहुत से लेखक या उनके ग्रन्थों के नाम छूट गए हों, यह हो सकता है।

अब मैं एक-एक करके भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास का क्या क्रम रहा है उसकी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त इतिहास देता हूँ।

अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ—

अंग्रेजी में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए। उनसे पहले गद्य में निबन्ध विकसित थे। स्वाभाविक था कि आरम्भिक उपन्यासों पर भी निबन्ध की छाया गहरी हो। फिर भी फ्रांसीसी उपन्यासों के प्रभाव में घटना-बहुल ऐतिहासिक उपन्यास अधिक लिखे जाते थे, जैसे वाल्टर स्काट के उपन्यास या फ्रान्स में ड्यूमा के उपन्यास। इन उपन्यासों का अच्छा मखौल ई० एम० फार्स्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ दि नावेल' में उड़ाया है। ह्यू वालपोल ने भी 'इंग्लिश नावल्स एण्ड नावलिस्ट्स' में इन्हें उच्च कोटि के उपन्यास नहीं कहा है। बल्कि बाद के बहुत से भीत्योत्पादक वीभत्स-रौद्र रस वाले उपन्यासों का जनक इन्हीं उपन्यासों को माना है। माना कि कुतूहल-वृद्धि इन उपन्यासों में बराबर होती रहती है, परन्तु वह आधुनिक जासूसी उपन्यासों की भाँति क्षणिक प्रभाव मन पर डालती है।

इनसे अधिक स्थायी प्रभाव डालने वाले ऐतिहासिक उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं जैसे ताल्स्ताय का 'वार एण्ड पीस' या डिकेन्स या विक्टर ह्यूगो या अत्याधुनिक अलेक्सी ताल्स्त्वा के उपन्यास। इनमें इतिहास के जिस कालखण्ड का चित्रण है वह बहुत ईमानदारी और बारीकी के साथ किया गया है। आधुनिक अँग्रेजी लेखक राफाएल साबाटानी ने भी इसी प्रकार के ऐतिहासिक रोमान्स पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया है। परन्तु इन उपन्यासों में सोवियत उपन्यास-लेखकों-जैसा दिशा-विशेष का आग्रह (टैंडेन्शसनेस) नहीं दिखाई देता। अलेक्सी ताल्स्त्वा का उद्देश्य यद्यपि आयवन दी टेरीबल के काल पर लिखना रहा है फिर भी उसमें युद्धकालीन सोवियत उपन्यासों की भाँति, घृणा का संगठित प्रचार, नहीं, यद्यपि विभूति-पूजा अधिक मात्रा में है। शोलोखोव के 'दौन्' नदी-विषयक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

चाहे इस कारण से हो कि यूरोप-निवासी विशेष पुराण-पूजक नहीं या अन्य किसी कारण से, उन्होंने अपने देश के प्राचीन गौरव पर कम उपन्यास लिखे हैं—'पाम्पुआई के अंतिम दिन' या 'नार्मन-विजय' या डिजरायली के दो-तीन उपन्यासों की भाँति वे किसी घटना-विशेष से प्रभावित अधिक हैं। अधिकांश पश्चिमी उपन्यास सामाजिक अधिक हैं, ऐतिहासिक कम।

बंगाली—

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राखालदास वन्द्योपाध्याय और अन्य उपन्यासकारों के जो अनुवाद

पढ़े हैं उनसे जान पड़ता है कि बंगाली स्वभाव की भावुकता और काव्यात्मकता इन उपन्यासों को अत्यन्त रोचक बनाने में सहायक रही हैं। उनमें रोमान्स का भाग अधिक है, यथार्थ का कम, फिर भी उनकी कल्पना और इतिहास के यथार्थ में सहज सम्मिलन जान पड़ता है। जैसे दूध और मिसरी। मुझे याद आता है कि रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' निबन्ध-संग्रह में 'ऐतिहासिक उपन्यास' पर एक परिच्छेद है, जिसमें इस प्रकार के लेखन में काव्यमयता का समर्थन करते हुए कवि-गुरु ने लिखा है कि इस प्रकार के लेखन में लेखक को अपने-आपको भुलाकर उस काल में प्रक्षेपित करना होता है, और उस काल के भग्न प्राचीर-खण्डों और पाषाण-स्तम्भों को लेकर पुनः नव्य-स्थापत्य निर्माण करना होता है। वाल्टर बैगेहोट नामक अँग्रेज समालोचक ने ऐतिहासिक उपन्यास की तुलना बहते हुए जल-प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन दुर्ग-मीनार की छाया से की है। पानी नया है, नित्य परिवर्तनशील है, परन्तु मीनार पुरानी है, अपने स्थान पर स्थित है। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस जमीन पर हैं। वह साँस इस युग और निमिष में ले रहा है, परन्तु उसका स्वप्न पुरातन है, और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार से लिखेंगे। रवीन्द्र-शरत्चन्द्र-ताराशंकर-माणिक बन्द्योपाध्याय की परम्परा में बहुत कम लोगों ने ऐतिहासिक कथानक चुने। वैसे डी०-एल० राय, मन्मथ राय आदि ने ऐतिहासिक नाटक अवश्य बहुत से लिखे हैं। वह भिन्न विषय है।

मराठी—

मैंने सर्वाधिक ऐतिहासिक उपन्यास अपनी मातृभाषा में पढ़े हैं। हरिनारायण आप्टे, नाथमाधव, वि०वा०हड़प, चिं०वि० वैद्य, वि०वा० भिड़े और अन्य कई लेखकों के सैकड़ों उपन्यास मुझे याद आ रहे हैं। उनमें अधिकांश शिवकाल-सम्बन्धी हैं। वैसे कोरसईचा किल्लेदार और 'रूपनगरच राजकन्या' और 'लाल वैरागीण' और 'अल्ला हो अकबर' और 'काला पहाड़' और 'पित्रका वागुलछोवा' और 'नीरूदेवी' और न जाने कौन-कौन से बचपन में पढ़े हुए आख्यान याद आ रहे हैं। परन्तु अधिकतर उपन्यास रोमान्स और ऐयारी-तिलिस्मी प्रभाव वाले ही अधिक थे। किसी ने सचेतन रूप से इतिहास का अध्ययन उपन्यास में ढाला हो ऐसा नहीं जान पड़ता। इतिहास-संशोधकों की एक गौरवशाली पीढ़ी महाराष्ट्र में हो गई—राजवाड़े, खरे, पारसनीस, भांडारकर आदि। और उसी परम्परा में रियासतकार सरदेसाई, दत्तोवामन पोतदार, न० र० फाटक, बेन्द्रे, भ० ग० देशपांडे और अन्य कई व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। परन्तु इनके परिश्रम और अध्यवसाय को उपन्यास का आवरण बहुत कम लोगों ने पहनाया। उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं से ही उलझते रहे। खांडेकर, माडखोल्कर, पु० भ० देशपांडे, बोकील, करेरकर, शिखाडकर, वारेकर, बिबलकर, मालतीबाई बेडेकर गीता सारे आदि की सब कृतियाँ सामाजिक हैं। परन्तु ना०सी० फड़के ने एक-दो ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में लिखे थे। और सब तो केवल हरिनारायण आप्टे का नाम लेते हैं और उसके बाद वह सोता भी उसी तरह सूख गया जैसे बंगाल में राखाल बन्द्योपाध्याय के बाद। इसका प्रधान कारण हमारे उपन्यास पर पश्चिम के उपन्यास का पड़ा हुआ प्रभाव है। आधुनिक उपन्यासकार इतिहास की अपेक्षा अनतिदूर वर्तमान से प्रेरणा अधिक लेता है, ऐसा जान पड़ता है। वह अध्ययन से भी कतराता जान पड़ता है और उसकी बहुप्रसवा लेखनी त्वरा से अधिक काम लेती है।

गुजराती—

'सरस्वतीचन्द्र' को वैसे ऐतिहासिक उपन्यास एक दृष्टि से कह सकते हैं, परन्तु प्रधान नाम इस दिशा में कन्हैयालाल मुन्शी का है। उन्होंने अपने आत्मचरित में स्पष्ट लिखा ही है कि वे ड्यूमा के उपन्यासों से बचपन में बहुत प्रभावित रहे हैं। अतः उनके सभी उपन्यासों में पात्रों की, घटनाओं की, चरित्रों की पुनरावृत्ति-सी जान पड़ती है। इतिहास की पृष्ठभूमि मानो एक परदा है जो पीछे से हटा लिया जाता है और वही प्रणय, वीरता, आदि भावनाओं का संग्राम बराबर चलता रहता है। फिर भी मुझे उनकी काल'वाघेली' कृति अनन्य लगती है। 'पृथ्वी-वल्लभ' भी भली प्रकार से एक श्रेष्ठ उपन्यास है, जिसमें नाटकीय गुण प्रधान हैं। परन्तु 'राजाधिराज' 'जय सोमनाथ' आदि उनकी इधर की कृतियों में स्पष्ट पुनरुज्जीवनवादी (रिवाइवलिस्ट) स्वर है। उन्होंने सोमनाथ की भूमिका में स्वयं लिखा है—"यह शैली का अन्तर २५ और ५२ वर्ष के पुरुष के विचारों का अन्तर है।" वह उपन्यास-रस की उतनी ही हानि करता है जितना राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में साम्यवादी प्रचार का अप्रच्छन्न आरोपित यत्न। यह बात मैंने 'सिंह सेनापति' की 'विशाल भारत' में आलोचना करते हुए लिखी थी। स्व० मेघाणी के 'सोरट तारा वहेता पाणी'-जैसे उपन्यास अधिक बलवान् और कलापूर्ण जान पड़ते हैं।

हिन्दी—

हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए और संख्या में भी कम हैं। उनमें भी सामाजिक अधिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में तो अनूदित ही अधिक मिलते हैं। बंगाली से बंकिम के, राखाल बन्द्योपाध्याय के, मराठी से हरिनारायण आप्टे या वालचंद नेमचंद शाह के। मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का यत्न न प्रेमचंद ने किया न 'प्रसाद' ने, न उनके पूर्ववर्ती देवकीनन्दन खत्री या गोपालराम गहमरी ने। 'निराला' जी की 'प्रभावती' वैसे एक अपवाद है। पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ने भी गुप्त काल पर एक उपन्यास लिखा है, परन्तु उसे सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। साहित्य के इतिहास में संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक केवल चार-पाँच ही हैं और वे हैं: राहुल सांकृत्यायन; भगवतशरण उपाध्याय (जिनकी उपन्यास से अधिक बड़ी कहानियाँ हैं); हजारीप्रसाद द्विवेदी; यशपाल; रांगेय राघव; चतुरसेन शास्त्री; और इन सबमें गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से सर्वाधिक और अच्छा लिखने वाले श्री वृन्दावनलाल वर्मा। 'कचनार' की आलोचना दिल्ली रेडियो से मार्च १९४८ में करते हुए कहा गया था कि वर्माजी जनतंत्र के युग के उपन्यासकार हैं। उनकी भाषा-शैली जैसी सादी और प्रवहमान है उनकी विषय-वस्तु का आदर्श भी वैसा ही सहज और प्राकृत है। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है; यही उनकी कृति की भी विशेषता है। उनकी रचनाओं में हजारीप्रसाद जी का वाग्वैदग्ध्य या यशपाल या राहुलजी का सोद्देश्य मत-प्रचार नहीं मिलता, इतिहास के प्रति निर्भय प्रामाणिकता का भगवतशरण या रांगेय राघव का सा आग्रह भी नहीं मिलता, तो भी उनकी सबसे अच्छी विशेषता यह है कि वे अपनी भूमि के निकट का ही विषय चुनते हैं, उससे बाहर नहीं जाते। बहुत कम लेखकों में अपनी मर्यादा का इतना अच्छा भान होगा। हिन्दी के लिए विशाल ऐतिहासिक क्षेत्र खुला पड़ा है—मध्यभारत-राजस्थान की गाथाएँ, बिहार, मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश के प्राचीन आख्यान कोई नये लेखक छूते ही नहीं, इसका आश्चर्य है। प्रेम के सस्ते त्रिकोण से त्राण मिले तब न? अब हिन्दी के एक ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक वृन्दावन-

लाल वर्मा को उदाहरण के तौर पर ले लें और गुण-दोष-विवेचना करें तो मेरी अल्प मति में वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के निम्न गुण हैं—

(१) अपनी विषय-वस्तु का गहरा और सन्निकट परिचय, अध्ययन और गवेषणा।

(२) जनतांत्रिक दृष्टि। पात्रों को कहीं भी अतिमानुष नहीं होने दिया जाता, न सर्वसाधारण पाठकों का ध्यान ही भुलाया जाता है।

(३) उपन्यास की रोचकता के लिए आवश्यक कुतूहल बनाए रखने वाली घटनाओं का गुम्फन।

(४) भाषा-शैली में प्रादेशिक रंग।

(५) चरित्र-चित्रण में पात्रों के परस्पर-सम्बन्धों का ध्यान और निर्वाह।

(६) प्राकृतिक वर्णनों तथा युद्धादि घटनाओं के वर्णनों में कहीं भी अनावश्यक विस्तार की कमी।

(७) देश की उठती हुई स्वाधीनता की चेतना का ध्यान। यानी परम्परा को पीटने या प्राचीन को उत्तम कहने का मोह टालते हुए भविष्य की ओर भी स्फूर्तिदायिक इंगित।

(८) किसी भी रस के चित्रण में (उदाहरणार्थ शृङ्गार, करुणा या वीर) अतिरेक की ओर झुकाव नहीं। भड़कीले रंगों की अपेक्षा सौम्य रंगों का अधिक उपयोग।

(९) चरित्रों की रेखाएँ दृढ़ और स्पष्ट, कभी-कभी बहुत स्थूल भी। जिससे प्रत्येक पात्र की विशेषता, दूसरे से भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। 'मृगनयनी' में यही विशेषता है।

(१०) पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद उस काल के वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण सफल जान पड़ता है जैसे 'गढ़कुण्डार' या 'लक्ष्मीबाई' में।

इनके कुछ सामान्य दोष यह हैं :

१. काव्यात्मकता की कमी। वर्णन-शैली के अधिक 'इतिवृत्तात्मक' होने से रस-भंग।

२. संवाद में नाटकीयता अधिक होने से कहीं-कहीं कृत्रिमता।

३. पात्रों के मन के अन्दर स्वयं उपन्यास-लेखक पैठता जान पड़ता है। उन पात्रों के व्यवहार या आचार से उनके मनोविकार अधिक व्यक्त नहीं होते।

४. तीन-चार उपन्यास पढ़ लेने पर जान पड़ता है कि काफी जल्दी में वे लिखे गए हैं। कुछ पुनर्संपादन से वे अधिक सँवरे-से जान पड़ते।

५. इतिहास के साथ कहाँ तक स्वतन्त्रता ली जानी चाहिए यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि वह ली गई है और उपन्यास में सहज रोचकता लाने मात्र के लिए।

इस कारण से वृन्दावनलाल जी की रचनाओं से जो आशाएँ हमारे मन में जगती हैं वे इस प्रकार से हैं—किसी भी उपन्यासकार के लिए कोई दण्डक (या नियम) बना देना उचित नहीं। वह अपने संस्कार, शिक्षण, आदर्श और विचारों के अनुसार ही इतिहास को देखेगा और उसका कलात्मक पुनर्मूल्यांकन करेगा। फिर भी चूँकि वृन्दावनलालजी बुन्देलखण्ड की माटी की सौंधी पौध पहचानते हैं, हमारा आग्रह है कि 'मुसाहिबजू' की भाँति पिछले ३० वर्षों में बुन्देलखण्ड में जो सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं उन्हें बेतवा के मुँह से सुनवाएँ। 'झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई' की भाँति वे एक दूसरा बड़ा उपन्यास इन गए तीस वर्षों के गाँव-

शहरों में बुन्देलों की दो-तीन पीढ़ियों में हुए परिवर्तनों पर लिखेंगे तो हिन्दी को ही नहीं विश्व-साहित्य को एक अमर यथार्थवादी कृति की भेंट मिलेगी। उसमें वे जितनी प्रादेशिकता ला सकें लायें। मराठी में दो-तीन कोंकन के किसान जीवन पर लिखे उपन्यासों के पीछे नोट दिये गए हैं, शब्दों-मुहावरों के अर्थों और स्थान-नाम, रीति-रिवाजों पर वैसी ही चीज इसमें हो।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की शैली

ऐतिहासिक उपन्यास की विषय वस्तु का विचार ऊपर बहुत किया जा चुका। अब उसके कलेवर यानी शैली को ध्यान में लें तो यह पता चलेगा कि विषय-वस्तु से शैली अवश्य निर्णीत होगी। कहीं-कहीं उपन्यास-लेखक को छूट है कि वह आचार-शास्त्रीय या दार्शनिक चर्चा में उलझे, परन्तु वह इस सीमा तक नहीं जैसे आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने उपन्यास 'वैशाली की नगर-वधू' में अन्त में 'भूमि' में पृष्ठ ७६३ पर कहा है—"वास्तव में ऐतिहासिक काव्यों, उपन्यासों और कहानियों का इतिहास की सीमा तक उल्लंघन करने के कारण इतिहास-कुल से विच्छेद कर दिया गया है। यह केवल भारतीय साहित्य की ही बात नहीं है, पाश्चात्य साहित्य में भी ऐसा हुआ है। इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के भी 'चिर सत्य' के सिद्धान्तों पर हम थोड़ा विचार करेंगे। 'चिर सत्य' ऐसे साहित्य का प्राण है।······ इतिहास की विशिष्ट सत्य घटनाओं का उसे पूरा ज्ञान नहीं होता। होने पर भी वह जान-बूझकर उनकी उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।" यह कथन कितना भ्रांतिपूर्ण है यह कहना आवश्यक नहीं है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री एक 'इतिहास-रस' की सृष्टि करके वेश्याओं का इतिहास पृ० ८५३ से ८५६ तक देते हैं और अपने उपन्यास की भाषा-शैली के बारे में पृ० ८६३-६४ पर कहते हैं—"उपन्यास में लगभग दो सहस्र नये पारिभाषिक शब्द आए हैं। जिनका प्रचलन चिर-काल से भाषा-प्रवाह में समाप्त हो गया है।···भाषा और भाव, सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास सर्वसाधारण के पढ़ने योग्य नहीं है। परन्तु हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति से परिचित होने के लिए यह उपन्यास प्रत्येक शिक्षित भारतीय को दस-बीस बार पढ़ना चाहिए। खासकर उच्च सरकारी अफसर, जो अंग्रेजी, भाषा के पण्डित और अंग्रेजी सभ्यता के अधीन हैं···, अपनी टेबुल पर इस उपन्यास को अनिवार्य रूप में डाल रखें और निरन्तर इसे पढ़ते रहें तो उन्हें मौलिक भारतीय विचारधारा अपने रक्त में प्रवाहित करने में बहुत सहायता मिलेगी। उचित तो यह है कि भारतीय सरकार ही यह आदेश जारी कर दे और उपन्यास की एक-एक प्रति अपने अफसरों की टेबुल पर रख देने की व्यवस्था कर दे।" संक्षेप में, ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों का 'बुद्ध-कालीन इतिहास-रस का मौलिक उपन्यास' (जो सन् १६४६ में छपा है) है। १६२२ के 'शशांक' से अभी तक हम क्या आगे नहीं बढ़ पाये हैं?

बौद्धकाल पर और गुप्त मौर्यकाल पर कितने उत्तम उपन्यास लिखे गए हैं इनका उदाहरण देखना हो तो राखालदास वन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास को देखिए, जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने अनूदित किया था, १६२२ में। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने मूल लेखक की कृति को अन्त में बदल दिया है, फिर भी मूल का आनन्द इस उपन्यास में सुरक्षित है। उदाहरण कहाँ तक दें। पृ० २१४-२१५ पर ऋतु-वर्णन देखिए:

"वर्षा के अन्त में गंगा चढ़कर करारों से जा लगी है। नावों का बेड़ा तैयार हो चुका है। नौसेना सुशिक्षित हो चुकी है। हेमन्त लगते ही बंग देश पर चढ़ाई होगी। सामान्य सैनिक से लेकर यशोधवल तक उत्सुक होकर जाड़े का आसरा देख रहे थे। वर्षाकाल में तो सारा बंग-देश जल में डूबकर महा समुद्र हो जाता था, शरद् ऋतु में जल के हट जाने पर सारी भूमि कीचड़ और दलदल से ढकी रहती थी। इससे हेमन्त के पहले युद्ध के लिए उस ओर की यात्रा नहीं हो सकती थी।"

और पृ० ३६७ पर जन साधारण की उत्सवप्रियता का यह सरल संक्षिप्त वर्णन— "पाटलीपुत्र में आज बड़ी चहल-पहल है। तोरण-तोरण पर मंगलवाद्य बज रहे हैं। राजपथ रंग-बिरंग की पताकाओं और फूल-पत्तों से सजाया गया है। दल-के-दल नागरिक रंग-बिरंगे और विचित्र-विचित्र वस्त्र पहने ढोल, झाँझ आदि बजाते और गाते निकल रहे हैं। पहर-पहर-भर पर नगर में तुमुल शंखध्वनि हो रही है। धूप के सुगन्धित धुएँ से छाए हुए मन्दिरों में से नगाड़ों और घण्टों की ध्वनि आ रही है। आज सम्राट् माधवगुप्त का विवाह है।"

'शंशाक' या 'करुणा में लेखक अवान्तर वादविवाद या उपदेशों में नहीं उलझता।

'निराला' की प्रभावती में पृ० ६३ पर लेखक बीच में ही अपने स्वाभाविक आवेश से कह उठता है—"हाय रे देश! कितने फूल इस प्रकार सामयिक प्रवाह में चढ़कर दृष्टि से दूर अँधेरे में बहते हुए अदृश्य हो गए, पर किसी ने तत्त्व-रूप को न देखा; सब बाहरी चहल-पहल में भूले रहे—इतिहासवेत्ताओं के सत्य के भुलावे में आश्वस्त। यह अँधेरा चिरन्तन है।···देश अँधेरे में है, प्रकाश नहीं दीख पाता···" इत्यादि। इसे आरम्भिक 'निवेदन' में निरालाजी ने 'रोमाण्टिक उपन्यास' कहा है और "अभी उस रोज भी डाक्टर रामविलास के लेख में इसके उद्धरण आये हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से पुस्तक मध्यम या उच्च कक्षाओं में रखने योग्य है। यदि अधिकारी ध्यान दें तो हिन्दी के साथ सहयोग और सराहनीय···" लिखा है। यह सफल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

राहुलजी की रचनाओं में भी 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' अधिक सफल ऐतिहासिक कृतियाँ थीं। 'मधुर स्वप्न' में तो कई स्थल अवान्तर चर्चा से भर गए हैं। यथा पृ० ५१ पर का यह उद्धरण देखिए :

> "अबकी सियावख्श ने हठात् पूछ दिया—अर्थात् जिस प्रकार हमारे यहाँ एक पुरुष की बहुत सी पत्नियाँ होती हैं, वहाँ इससे उलटा होता है।
>
> मज्दक—इसमें क्या आश्चर्य है? देश-काल-भेद से हर जगह के सदाचारों में भेद होता है। एक जगह जो बात निषिद्ध है, वही दूसरी जगह विहित।
>
> कवात्—क्या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में यह शिक्षा हिन्दी-ऋषि बुद्ध ने भी दी थी।
>
> मित्रवर्मा—नहीं, बुद्ध ने तो उच्च श्रेणी के शिष्यों के लिए स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया था। इसलिए उनके उच्च श्रेणी के अनुयायी स्त्री-पुरुष अविवाहित रहते हैं।
>
> मज्दक—मानी ने भी अपने उच्च अनुयायियों को परिवार और पत्नी से असंग रहने का उपदेश दिया था। यवन-विचारक प्लातोन ने बतलाया कि महान्

उद्देश्य को लेकर चलने वाले नर-नारियों को सम्पत्ति से ही मेरा-तेरा का सम्बन्ध नहीं हटाना होगा, बल्कि उनके लिए स्त्री में मेरा-तेरा का भाव होना भी हानिकारक है, क्योंकि स्त्री में केन्द्रित वह मेरा-तेरा का भाव फिर पुत्र-पुत्रियों में केन्द्रित हो जायगा, फिर उनकी सन्तानों में। मेरा-तेरा के लिए संसार में लोग क्या नहीं करते ? जगत्-कल्याण के लिए आदमी अपनी शक्ति को तभी पूरी तरह लगा सकता है, जबकि उसके पास अपनी सन्तान न हो।

कवात्—तो क्या प्लातोन ने भी साधु-साधुनी बन जाने का उपदेश दिया था ?

मज्दक—नहीं, प्लातोन व्यावहारिक विचारक था। उसने सोचा कि इन्द्रियों पर पूरी तरह से संयम विरले ही कर सकते हैं, इसलिए उसने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का विरोध नहीं किया, किन्तु उसने यह अवश्य बतलाया कि उच्च जीवन और आदर्श के अनुयायियों को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है, कि उनका स्त्री-पुरुष के तौर पर पारस्परिक सम्बन्ध भी मेरा-तेरा के भाव से मुक्त हो।

मित्रवर्मा—है यह बड़ा ही लोक-विद्रोहकारी आचार-विचार, किन्तु जनता के पथ-प्रदर्शकों के लिए जन-मंगल की भावना से प्रेरित परम त्यागियों के लिए यही एक व्यवहार-पथ दिखलाई पड़ता है। मैं समझता हूँ, लोकरूढ़ि से विरुद्ध मार्ग पर चलने के लिए अयरान में इस पर जोर न दिया जाता, यदि वहाँ पहले से ही भगिनी-विवाह, पुत्री-विवाह, मातृ-विवाह-जैसी प्रथाएँ प्रचलित न होतीं। लेकिन यह तो ऐसी चीज है, जिस पर अन्दर्जगर का बहुत जोर नहीं है। वह इसको अप्रतिषिद्ध-भर मानते हैं, जीवन का लक्ष्य नहीं मानते।

मज्दक—मानव की प्रवृत्तियों को नीचे जाने से बचाना और उसकी सारी शक्ति को नवीन संसार के निर्माण में लगाना, यही हमारा उद्देश्य है। अकामेनू की पराजय के बाद अब समय आ गया है कि हम नये संसार की दृढ़ नींव रखें। भीषण अकाल के बाद आज जनता सारे अयरान में भूख के कष्ट से मुक्त हो जल्दी-जल्दी अपने दोषों को छोड़ती जा रही है। आज उसकी भावना में जो भारी परिवर्तन देखा जा रहा है, क्या वह इसका प्रमाण नहीं है कि नये युग का आरम्भ हो गया है ? आज मनुष्य से पूछा जा रहा है कि विजयी अहुर्मज्द के पथ पर कौन आना चाहता है।"

इस प्रकार से ऐतिहासिक उपन्यास की शैली में हिन्दी ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। इस विषय में अभी बहुत-सा कार्य करने को शेष है—संशोधकों को, औपन्यासिकों को और समीक्षकों को भी। ऐतिहासिक उपन्यास की समीक्षा में कौन से मानदण्ड हों, यह भी एक विचारणीय विषय है, जिसके संकेत ऊपर आरम्भिक चर्चा में हमने दिये हैं।

ठाकुरप्रसाद सिंह

हिन्दी कहानी

: १ :

हिन्दी-कहानी यद्यपि प्राचीन कहानियों तथा पाश्चात्य शैली के निकट समान भाव से आभारी है, किन्तु इतना सब लौटा देने के पश्चात् भी उसके पास जो बच रहता है उससे उसकी मौलिक विकास-परम्परा का पूर्ण आभास पाने में सम्भवतः कठिनाई नहीं पड़ेगी। हिन्दी-कहानी एक ओर भारतीय चिन्तन की एक नई मनःस्थिति का प्रतिफलन होकर भी पिछले सम्पूर्ण वर्णन, मनोविश्लेषण, उद्देश्य तथा वस्तु-योजना की शृङ्खला में एक बिलकुल नई कड़ी है; उसी तरह जैसे भारतेन्दु-युग तथा परवर्ती साहित्य अपने नवीन विश्वासों के साथ साहित्य का एक नवीन विकास है। 'आदम' की एक अस्थि लेकर 'ईव' का निर्माण सम्भव हो सकता है, पर आधुनिक कहानी इस दिशा में इतनी विशाल परम्परा की उत्तराधिकारी होकर भी अपने पैरों पर खड़ी होने का दावा कर सकती है। उसमें कहीं भी प्राचीन बृहत्कथाओं की अस्थियाँ नहीं लगी हैं और न तो रुके हुए इतिहास की छाया में पली छुईमुई का मादक संकोच तक आलंकारिक बिलमाव ही उसे मिला है। उपदेश के निष्कर्ष का आग्रह भी उसे वहाँ से नहीं मिला है। भव्यता के लिए भी वह नरवाहनदत्त की ड्योढ़ी पर नहीं गई है। दूसरी ओर पाश्चात्य परम्परा से एक सीमा तक रूपविधान की छाया पाकर भी वह अनूदित ही नहीं रही है। व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों तथा कहानियों को अपनी अभिव्यंजना का माध्यम बनाने वाले भारतेन्दु-युग के कलाकार अपनी शक्ति से अधिक सजग थे; उनके पास निज का कहने को इतना था कि पश्चिम की वस्तु की ओर देखने की फुरसत ही उनको नहीं थी।

प्रारम्भिक रचनाओं में यद्यपि विजातीय प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं, किन्तु शीघ्र ही एक सर्वथा नई पद्धति का विकास हो जाता है। शुरू में एक साथ ही संस्कृत महाकाव्यों की वर्णन-परम्परा, उर्दू का चुलबुलापन तथा बृहत् कथानकों की ढीली विलम्बित शैली देखने को मिलती है—ठीक वैसे ही जैसे उस पीढ़ी का आदमी अपने रहन-सहन, वेशभूषा तथा मानसिक रुझान में एक अजीब सम्मिश्रण था—मन उसका अभी भी पीछे दौड़ता था; समस्याएँ सामने थीं, पर इतनी उग्र नहीं थीं कि उसे लाचार कर दें। नये आदमी का तब तक जन्म ही नहीं हो सका था, इसलिए नई कहानी की स्पष्ट रूप-रेखाएँ देख सकना असम्भव था। इतना कम नहीं था कि पुरानी लकीर तोड़ी जा रही थी और इसकी पहचान होने लगी थी। हिन्दी के संस्थापकों की रचनाएँ यद्यपि एक नई भूमि का संकेत दे रही थीं किन्तु किसी भी प्रकार वे मूल से विच्छिन्न नहीं थीं। नासिकेतोपाख्यान या प्रेम सागर की कृष्ण-सम्बन्धिनी कहानियाँ अपनी वस्तु (content) तथा अभिव्यंजना में परम्परा-प्राप्त थीं; किसी भी प्रकार की मौलिकता का दावा इनके लेखकों ने पेश ही नहीं किया। बाइबिल, कैण्टरबरी टेल्स या 'आर्थर' की कहानियों का जो प्रभाव इंगलिश साहित्य पर पड़ा हो पर ईसाई-पादरियों द्वारा हिन्दी में प्रकाशित कहानियों या सुसमाचारों की

शैली पर हमारे इन प्रथम लेखकों का प्रभाव कम नहीं था। फलतः एक विचित्र तरह का सौष्ठव उस समय की सभी रचनाओं पर छाया हुआ था। दूसरी ओर इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' पर पौराणिक शैली की जगह मध्यकालीन किस्सागोई की छाप थी; कहानी का प्रवाह यहाँ भी क्षीण ही रहा। इन सभी कहानियों में एक विचित्र बात थी उनकी सामाजिक तटस्थता—एक अजीब-सा विरस विलगाव तत्कालीन स्थितियों से। ऐसा स्पष्ट हो चला था कि बाद में भले ही कला और सौष्ठव का विकास चाहे जैसे हो सके, पर इस शैलीविहीन-गतिहीन कहानी का अन्त करने के लिए पहले इस तटस्थता का अन्त ही होना आवश्यक होगा। गदर के आसपास पैदा हुए इस नवीन वर्ग के उदासीन हाथों से यह कलम हटाने की आवश्यकता तब एकदम स्पष्ट हो गई थी।

यह कार्य शीघ्र ही हो भी गया। भारतेन्दु-युग में यद्यपि 'कहानी-कला'-जैसी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव भले न हुआ हो किन्तु लघु कथानकों की वस्तु में आश्चर्यजनक परिवर्तन उभर अवश्य आए। राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु का 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को दिया गया जवाब, 'मूसा पैगम्बर', आदि रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं; जिनकी कथा वस्तु एकदम नवीन आधारों पर गठित हुई थी। यहाँ हम आधुनिक कथा को एक साथ ही महाकाव्यों तथा पुराणों की परम्परा से अलग नवीन दिशा में बढ़ते देखते हैं। कलाकार की तटस्थता भंग हो गई है और वह मुखर भी हो गया है। पुरानी उपदेशात्मकता तथा गम्भीरतम आकृति की जगह स्वच्छ व्यंग का जन्म हुआ है जो इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्योक्ति पद्धति में कही गई कथा यद्यपि थी यमलोक की या स्वप्नलोक की, किन्तु सचाई यह थी कि लेखक एक क्षण के लिए भी दुनिया के कटु यथार्थ से तटस्थ नहीं हुआ था।

किन्तु जिस अर्थ में बाद में कहानी को लिया गया उसमें ये कथाएँ अब भी आती नहीं थीं। शैली की दृष्टि से अब भी हिन्दी-कहानी आधुनिक अर्थ में काफी पीछे थी। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग का सन्धि-काल हिन्दी के सभी क्षेत्रों में बाह्य प्रभाव-काल था। बँगला के माध्यम से नई-नई शैलियाँ सभी क्षेत्रों में व्यवहृत हो रही थीं; हिन्दी-गल्प इसी प्रभाव में विकसित हुई और एक हद तक इस रास्ते पर चली भी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही रवीन्द्रनाथ की गल्पों का अधिकांश लिखा जा चुका था; उनकी भावुकता, रहस्यात्मक कौतूहल-वृत्ति तथा सरल पिच्छल कथन-शैली ने आरम्भिक हिन्दी-कहानी पर कम प्रभाव नहीं डाला, और लेखक भी पत्र-पत्रिकाओं में अनूदित होकर आते रहे। इस काल में हिन्दी की भाव-व्यंजना तथा शैली दोनों ही एक झटके से बदल गए पर वस्तु की दिशा में एक विचित्र दुविधा दिखलाई पड़ी। लेखक निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि कौन सी राह पकड़ी जाय, कहानी का प्रारम्भ तो हो गया। गिनाने के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी की कहानियों की सूची भी दे दी किन्तु उस सूची में ऐसा एक भी लेखक न था, जिसने बाद में भी इस दिशा में जमकर कार्य किया हो। इन कहानियों के कहने में भी एक झिझक का भाव दीखता है और यदि कहानी की कसौटी पर कसें तो सम्भवतः अपनी बोझिल (मोनोटनस) शैली के कारण ये काफी पीछे रह जायँगी। इनमें से एक लेखक का भी विश्वास इस शैली पर जमता नहीं दीखता। इन सबके अलावा यहाँ वह भारतेन्दुयुगीन चेतना जो खो गई, उसकी तो चर्चा ही चलानी व्यर्थ है।

इतना होते हुए भी यह स्पष्ट था कि शीघ्र ही इस दिशा में नये प्रयोग होने जा रहे हैं; चिनगारियाँ बता रही थीं कि गर्भ में कुछ गम्भीर निष्कर्ष छिपा हुआ है। द्विवेदीकालीन एक-रसता का अन्त होने वाला था, इसका आभास 'इन्दु' के प्रकाशन ने दे दिया। रचनात्मक साहित्य के लिए यह पत्रिका अधिक उर्वर प्रमाणित हुई। 'सरस्वती' तथा 'इन्दु' ने मिलकर नये लेखकों का जो मण्डल निर्मित किया, वह एक झलक में बुझने वाला नहीं था। जयशंकर 'प्रसाद' की 'चित्राधार' और छायाकाल की रचनाएँ तभी प्रकाश में आईं। यद्यपि उन पर संस्कृत और बँगला का सम्मिलित प्रभाव था, पर इन सीमाओं को तोड़कर ऊपर उठने की शक्ति भी साथ ही लक्षित हो रही थी। प्रसाद अपने कालवर्ती सभी रचनाकारों से अधिक पुराने, अतिभावुक तथा छायानुवर्ती होते हुए जो शीघ्र ही मुक्त और सशक्त होकर अगली पंक्ति में आ गए वह अपनी इसी सीमा लाँघने वाली प्रवृत्ति के कारण। यद्यपि इनकी पहली कहानी 'ग्राम' कहानी से अधिक स्केच ही लगती है किन्तु सन् १९११ तक विकसित हिन्दी-कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी सम्भावनाएँ काफी आशाप्रद थीं। बाद की इस काल की उनकी कहानियों पर बँगला प्रभाव स्पष्ट लगता है। 'तानसेन', 'रसिया बालम' इसी प्रभाव में रचित हुई थीं। एक अतीन्द्रिय भावुकता से उस समय का उनका साहित्य पूर्णतः प्रभावित है। अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं या सामाजिक होते हुए भी ऐतिहासिक झंकार में डूबी हुई हैं। तत्कालीन अन्य लेखकों में इस भावुकता का प्राबल्य उतना नहीं है, पर हैं वे भी एक सीमा तक इसी वर्ग को। एक विशेष प्रकार के बलिदानी 'दर्द' की खुनक सभी कहानियों में झलकती है। श्री राधिकारमणप्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा, कौशिक तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की श्रेष्ठ रचनाएँ तब सामने आ चुकी थीं। 'कानों में कँगना' का स्मृत्याभास, 'परदेसी' की विधवा की आकुलता तथा 'उसने कहा था' के लहना-सिंह की आत्मार्पण की करुणा हिन्दी-कहानी के नये बिरवे के लिए दी गई वह जल-धारा है जिसके बिना वह सौ छायाओं में पलकर भी जीवित नहीं रह सकती थी। इन लेखकों ने प्रभाव चाहे जहाँ से लिया हो, शैली चाहे जिनकी पाई हो, पर अपने सहज पुलकित रसोद्रेक को लिये ये पूर्ण मौलिक दीखते हैं। 'उसने कहा था' हिन्दी-कथा का जो एक माइल स्टोन बन सकी वह अपनी इसी विशेषता के कारण। यों अपनी समग्रता (टोटल इफेक्ट) में वह कहानी की सीमाएँ लाँघकर आगे बढ़ी दीखती है; किन्तु महज मानव-समवेदना का जो युग बाद में भारतीय कथा-साहित्य का प्राण बना उसकी पहचान यहीं हुई। 'उसने कहा था' के साथ हिन्दी-कहानी ने अपने विकास की नई मंजिल शुरू की। प्रसाद, कौशिक आदि की सब रचनाएँ तथा प्रेमचन्द की 'नवनिधि' काल तथा सामाजिक यथार्थ की स्पष्ट स्वीकृति के अलावा तब तक की सब रचनाएँ इसी मंजिल की प्राप्य हैं। बाद में आने वाली स्पष्ट सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना से प्रभावित साहित्य की पृष्ठभूमि में रखने पर इनका ऐतिहासिक स्वरूप और निखरता है। मानवीय संवेदना का जितना भार आधुनिक कहानी को वहन करना पड़ रहा है वह उसकी शैलीगत विशेषता के कारण ही; इसलिए यहाँ तक आते-आते वह काफी निखर चुकी थी। अब यत्र-तत्र उसकी रूप-रेखा तथा शक्ति-सतुलन की बातें भी सुन पड़ने लगी थीं। काफी सम्भावना थी कि कहानी अपने सामने फैले रास्तों में से कोई हल्का रास्ता चुनकर आगे बढ़ गई होती—भावुकता, रहस्य-रोमांच, दर्शन, या इस तरह के और भी बहुत से विकल्प सामने आ चुके थे। हृदयेश की अपार भावुकता से लेकर गोपालराम गहमरी की जासूसी कहानियों तक कोई भी राह चुनी जा सकती थी।

कहानी कला के पारखी उसे एक ओर विशुद्ध कलात्मक अभिव्यंजना का प्रकार बनाने को उत्सुक थे; कुछ थे जो उससे पुराने उपदेश सुनने को कान लगाये बैठे थे; कुछ केवल कथा सुनने के आदी थे। बहुत कम ऐसे थे जो उसकी सम्भावनाओं के बारे में काफी दूर तक सोचते थे। ऐसी हालत में ऐसी सुन्दर शैली का भविष्य एक सीमा तक अस्पष्ट ही लगता था। इसी समय एक नये विश्वास के साथ प्रेमचन्द ने इस शैली को अपनी विचारधारा के प्रकटीकरण का माध्यम बनाया और कहानी की सम्भावनाएँ शतगुण कर दीं; उसे एक साधारण-सी शैली की सीमा से उठाकर जीवन के संघर्षों का एक प्रभावशाली अस्त्र बनाया। कहानी की सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य उभरकर सामने आने से सभी विकल्प मिट गए।

: २ :

प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हिन्दी-कथा-साहित्य की सबसे बड़ी घटना थी। इस घटना का महत्त्व आँकने के पहले कहानी-सम्बन्धी मुख्य धारणाओं पर विचार कर लेने से इस नवीन विकास के प्रति न्याय हो सकेगा। शैली की दृष्टि से पाश्चात्य कहानी काफी आगे थी; चरित्र-विकास की जगह वहाँ जीवन के खण्डों पर प्रकाश डालने की बात जोर पकड़ रही थी। वस्तुतः कहानी के छोटे कलेवर का ध्यान रखते हुए उसे उपन्यासों या प्रबन्ध-काव्यों की कथात्मक पूर्णता के विशाल कार्य से पृथक् रखना ही था। शैलियों की अपनी हैसियत के अनुसार अपने प्रकटीकरण के तरीके होने चाहिएँ; यह बात विश्वास के साथ वहाँ मानी जाने लगी थी : इसलिए एच० जी० वेल्स ने जब कहा कि कहानी भयंकर, रोमांचक चाहे जो-कुछ भी हो पर उसे यह सब बीस मिनट में ही होना है तब उसका तात्पर्य कथा से अधिक उसमें निहित धक्के (shocks & flashes) से ही था। ऐसी हालत में कथा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रहती जितनी कही जाने की बात। पश्चिम में चरम की यह प्रतिक्रिया कहानी के उन निर्माताओं के विरुद्ध थी जिन्होंने उपन्यासकार की आँख से इसे देखा था। स्काट, डिकेन्स आदि कहानी-लेखक पहले उपन्यासकार थे कथाकार बाद में; कहानीकार तो वे एकदम अन्त में थे; इसलिए कहानी से अनपेक्षित आशाएँ उन्होंने कर ली थीं। इन्हीं में एक आशा चरित्र-चित्रण की भी थी। यही गलती बाद के मनोवैज्ञानिक तथा 'चेतना का प्रवाह' लेकर आने वाले लेखकों ने भी की। विरजीनिया वूल्फ तक यह बात दुहराई गई थी। इसकी प्रतिक्रिया में चेखव ने एक जगह कहा कि "लेखक को मामूली चीजों के बारे में ही लिखना चाहिए। किस तरह पीटर सेमिओनोविश ने शादी की; बस।" कहना यदि है तो उसे कहीं भी कहा जा सकता है। प्राचीन रोमांचक कथानकों तथा उच्चवंश प्रभव नायकों के मुकाबिले यह बहुत बड़ा कदम नई पीढ़ी ने उठाया था। व्यक्ति की जगह वस्तु की यह स्थापना एकदम नई चीज थी; शैली की दृष्टि से यह उपन्यासों से भी आगे एक कदम था। 'जीवन-मर्म' (vision) के उद्घाटन की जितनी सुविधा कहानी में थी उतनी सम्भवतः अन्य स्थानों पर नहीं थी; कविता तब कितनी ही यथार्थोन्मुखी होकर भी सब्जेक्टिव बनी हुई थी; नाटक की अपनी सीमाएँ थीं, वह बीच में रुक नहीं सकता था; उपन्यास का एक अलग कर्तव्य था; उसे वह अपनी मन्थर (convincing) शैली में पूरा करता था; ऐसी हालत में शीघ्रता से भागती इस दुनिया की झलक केवल कहानी ही अपने अन्दर उतार सकती थी। कहानी के उद्देश्य तथा रूप-विधान के प्रश्न पर यहीं विभेद उठ खड़ा होता है। उद्देश्य स्पष्ट हो या वह कथा की अन्योक्ति की आड़ ले, इस

पर मत बँट गए। सिद्धान्तवादी इस प्रश्न पर एक ओर झुक गए कलावादी दूसरी ओर। बीच में काफी बड़े प्रश्न भी उठ सकते हैं पर सच पूछिए तो यह प्रश्न पूरे साहित्य का है; केवल कहानी के लिए अलग से इसे उपस्थित करने से कोई लाभ नहीं। यह सर्वमान्य बात है कि कथावस्तु जब कथाकार की जीवनानुभूति का एक अंग बन जायगी तब विरोधी दलों का यह आक्षेप अपने-आप ही मिट जायगा। जहाँ वह यही नहीं बनती, शंका वहीं उठती है और ठीक ही उठती है। वस्तु-सत्य में निहित मर्म-भावना अपनी निवृत्ति करेगी ही। कला की सम्प्रेषणीयता हमेशा यही करती रही है; इसमें नये सिरे से तर्क की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

प्रेमचन्द ने बड़ी ही कुशल लेखनी पाई थी। उससे भी कहीं संतुलित उनकी प्रज्ञा थी। उनका विवेक इन दोनों से भी अधिक संवेदनशील था; इसलिए उनके पैंतीस वर्ष के रचनाकाल में उसने निरन्तर उनकी लेखनी और प्रज्ञा पर समान भाव से शासन किया था। उनका यह विवेक एक क्षण के लिए भी तटस्थ नहीं रहा, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर उसने असम्भव कार्य भी इनसे कराये हैं। कहीं उन्हें प्रचारक बना दिया है—कहीं सामाजिक संघर्षों की पहली पंक्ति में उन्हें खड़ा किया है, कहीं राजनीतिक आन्दोलनों का स्वरवाहक-मात्र बनाकर छोड़ा है और अन्त में वर्गगत विषमता की कटुता का उद्गाता बनने की स्थिति में उन्हें ला पटका है। इस दौरान में लड़खड़ाकर चलने वाली प्रेमचन्द की भाषा और शैली रास्ते में हाँफ गई है, पीछे रह गई है, पर राह बन्द नहीं हुई है। अन्त में नवनिधि की सीधी-सादी भीरु शैली कफन-युग की कहानियों का विष पीकर भी स्थिर पद बनी रहती है। शैली बनाने में संघर्षों का कितना बड़ा हाथ होता है, यह प्रेमचन्द की शैली से स्पष्ट है। पाश्चात्य ढाँचा ग्रहण करके भी वे कई दृष्टियों से मौलिक थे। समय-समय पर वे अपनी शैली को आधुनिक निखार देते गए किन्तु शुरू से अन्त तक वे एक सफल कहानी कहने वाले बने रहने में समर्थ हो सके। चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियाँ भी उन्होंने लिखीं, पर उनमें भी कथात्मकता बनी रही; उद्देश्य-प्रधान कहानियों की तीखी धार पर भी वे किस्सागोई से विरत नहीं हुए। इस दिशा में विषय पर उनकी पहुँच बराबर बहिर्मुखी रही। घटनाओं के माध्यम से ही वे अपनी बात कहते थे; केवल मनोविश्लेषण के स्वतः संचालित सूत्रों के बल पर सोचते रहने की उस आदत का वहाँ अभाव था जो जैनेन्द्रकुमार में बाद में जाकर विकसित हुई। उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ जैसे गृह-दाह, नशा, कफन, शतरंज के खिलाड़ी, डायुल का कैदी इसी शैली की हैं।

इन सब गुण-दोषों को लेकर आलोचकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो कहता है कि प्रेमचन्द अपने वर्गगत स्वार्थों और सीमाओं में घिरे रहे। निम्न-मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना तथा नैतिकता की छाप वे अन्त तक दूर नहीं कर सके; उनका रूप हमेशा एक सुधारवादी का बना रहा; उनमें क्रान्तिकारिता की खोज करना आकाश-कुसुम पाने का प्रयत्न करना है। ये ही दोष एक जमाने में टाल्स्टाय पर भी लगाये गए थे जिनके लिए लेनिन ने कहा था—

"An artist truly great must have reflected in his work at least some essencial aspect of his revolution."

टाल्स्टाय अपने वातावरण की सीमाओं में बद्ध थे अवश्य किन्तु आगे बढ़कर वे लक्ष-लक्ष अपमानितों के स्वरवाहक बन सके। प्रेमचन्द के लिए भी यही सच था। दोनों ने ही लेनिन के शब्दों में अपने युग तक विकसित कला को उसकी सीमाओं से आगे ले जाकर छोड़ा (A step

forward in the artistic development of all mankind) दोनों ही इसलिए साधारण से ऊपर उठ गए हैं। किसान वर्ग के प्रति निर्व्याज सहानुभूति तथा उसकी गोष्ठी में आती नवीन चेतना के प्रति पूर्ण अपनत्व रखकर ही प्रेमचन्द ने अपनी लाचारियों पर विजय प्राप्त की थी। इसी प्रत्यक्ष सत्य के स्वीकरण के कारण वे इतने विशाल हो गए कि बाद में आने वाली पीढ़ी की पृष्टभूमि में आज तक अवस्थित हैं। कितनी ही नई चेतनाएँ आईं, समस्याओं के दो टूक समाधान आये पर प्रेमचन्द अपने स्थान पर बने ही रहे।

इससे ठीक दूसरी ओर जो कहानियाँ खड़ी हैं उनमें प्रसाद का स्थान अन्यतम है। 'छाया' के पश्चात् प्रतिध्वनि (१६२६) के प्रकाशन तक उन पर रवि ठाकुर का प्रभाव बना हुआ है। मसृण भावुकता और अतिशय चित्रात्मकता उन्हें प्रेमचन्द से अलग रखती है। खण्डहर की लिपि 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' टैगोर के क्षुधित-पाषाण की तरह की स्मृत्याभास प्रधान कहानियाँ हैं जिनमें इतिहास के प्रति लेखक का मोह गद्य-काव्य की सीमा तक पहुँच गया है। आकाशदीप (१६२६) के प्रकाशन तक वह भावुकता थोड़ी दार्शनिकता का पुट पा जाती है पर मूल में वही रहती है। मनोविश्लेषण का हल्का प्रयत्न 'सोने के साँप' 'प्रतिध्वनि' आदि में दीख पड़ता है तथा एक प्रकार की सहानुभूति सत्र कहीं बिखरी दीखती है। आँधी (१६३१) तथा इन्द्रजाल (१६३६) प्रौढ़ कृतियाँ हैं जिनमें प्रसाद की कुछ सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ आ गई हैं। 'आँधी' 'मधुवा' तथा 'इन्द्रजाल' में पहले की भावुक चित्रात्मकता कम होकर मनोविश्लेषण के लिए स्थान बना देती है; साथ ही वस्तु में आदर्शवादी होते हुए भी प्रसाद एक सहज संवेदना का धरातल बना लेते हैं। 'सालवती' इस दिशा का सबसे सफल प्रयोग है। देवरथ की सुमाता, सालवती तथा पुरस्कार की मधूलिका की वही जाति है जिसमें तितली, ध्रुवस्वामिनी तथा देवसेना का जन्म हुआ है। नियति और समाजनीति के बन्धनों में जूझती नारी का ऐसा अभिव्यक्ति-व्याकुल चित्र सम्भवतः अन्यत्र न मिलेगा। यहाँ विरोधों से एक साथ जूझने के सामाजिक प्रश्न पर वे शरत् या प्रेमचन्द से बहुत दूर नहीं लगते; प्रश्न केवल रह जाता है वर्तमान तथा भूतकाल की पीठिका का। प्रसाद की यह सहानुभूति जीवन के अन्त तक अनाम जो रही उसके लिए सम्भवतः बाद का आलोचक उन्हें टोकेगा; पर सहानुभूति की शिकायत कभी कोई करेगा ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिए। उनका यथार्थ दर्शन यदि थोड़ा और सामाजिक हो सका होता तो एक बड़ा कार्य हो गया होता। 'गुण्डा' कहानी में उन्होंने एक विचित्र साहस किया था, किन्तु उसका उचित विकास न हो सका।

इन दो महान् कथाकारों के बाद नई जमीन बनाने का कार्य साधारण नहीं था। काफी दिनों तक इन्हीं दो धाराओं में लेखक बँटे रहे। प्रेमचन्द के साथ श्री विश्वम्भर 'कौशिक' श्री सुदर्शन, तथा आचार्य चतुरसेन ने आदर्श और यथार्थ का समन्वय अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया। टेकनीक के लिए वे अन्त तक प्रेमचन्द के आभारी रहे। सुदर्शन की प्रमुख कहानियाँ अपनी पूर्णता में कहीं-कहीं प्रेमचन्द की-सी ऊँचाई तक पहुँच अवश्य जाती हैं पर सामाजिक सत्य का साक्षात्कार जिस सीमा तक प्रेमचन्द ने किया था वहाँ तक उनकी पहुँच नहीं थी। 'प्रसाद' से प्रभावित श्री विनोदशंकर व्यास की स्थिति भी सुदर्शन की-सी थी। जीवन के मधुर प्रसंगों की उद्भावना सफलतापूर्वक करके भी वे प्रसाद के मानवतावाद की छाँह न छू सके, इसलिए उनकी कला असमय में ही मुरझा गई। इन लेखकों के साथ हिन्दी-कहानी का एक ऐतिहासिक विकास

अपना चक्र पूरा कर चुका था। नई शक्तियाँ पहचान के लिए व्याकुल थीं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी भाषा और पैनी दृष्टि के लिए अलग से याद किये जायँगे। वर्तमान समस्याओं पर पहुँचने का उनका तरीका अपने समकालीन सभी लेखकों से अलग था, किन्तु मूल में आदर्शवादी (रोमांटिक) प्रवृत्तियाँ उनकी कहानियों में सब कहीं वर्तमान थीं। बाद का उनका उछृंखलता की सीमा तक पहुँच गया अहंभाव इसी प्रवृत्ति का विपर्यय था। इस दोष (!) के कारण उनके व्यंग्य में एक अपूर्व पैनापन भी आ गया था जिससे उनकी कहानियाँ जगमगा उठती थीं। उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने भी कुछ कहानियाँ लिखीं, पर वे पूर्ववर्तियों की छाया से अपनी शैली मुक्त नहीं रख सके।

: ३ :

प्रेमचन्द की मृत्यु (१९३६) के समय तक हिन्दी कथा-साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो चुकी थीं। नये लेखकों के लिए प्रेमचन्द प्रेरणा से अधिक प्रतिष्ठा और पूजा के विषय हो गए थे; मिरेस्की ने एक जगह गोर्की के लिए भी इसी तरह की बात कही है। सामाजिक चेतना और शैली की दृष्टि से साहित्य में नये संकेत स्पष्ट हो रहे थे जिनकी नींव में प्रेमचन्द थे, पर जो अशक्त और सूक्ष्म होकर भी एक नया क्षितिज उद्भासित कर रहे थे। प्रेमचन्द के आरम्भिक विकास तथा इन नवीन रचनाओं के बीच में प्रेमचन्द की अन्तिम दिनों की लिखी रचनाएँ आती हैं, जिनमें एक नवीन बेचैनी और विश्वास का स्वर स्पष्ट हो रहा है। 'मंगल सूत्र' इस दिशा में काफी आगे बढ़ा हुआ है। प्रेमचन्द की उत्कण्ठा और जिज्ञासा की मौलिक वृत्ति ने इस शैलियों की संक्रान्ति में कहानी की इस निरन्तर जागरूक हो रही परम्परा को विच्छिन्न होने से बचा लिया। ईदगाह, क्षमा, परीक्षा, गृहदाह, मंच तथा यशपाल, जैनेन्द्र की अत्याधुनिक कहानियों के बीच में कफ़न, काश्मीरी सेब आदि कहानियाँ रखने से यह स्पष्ट हो सकेगा कि कैसे उदार आदर्शवादी परम्परा यथार्थ से आगे बढ़कर वैज्ञानिक यथार्थवाद की ओर उन्मुख हो रही है।

फिर भी प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-कहानी की वस्तु तथा शैली दोनों में कुछ बिलकुल नये तत्त्व भी प्रस्फुटित हुए; एक तरह से कथा की जाति भी बदली। प्रेमचन्द काफी दूर तक गवईं गाँव के कथाकार थे—बाद में उतनी सहानुभूति और रसानुभूति से एक भी लेखक ने इस पक्ष का स्पर्श नहीं किया। इस स्थान पर शहरी मध्यमवर्ग की समस्याएँ विभिन्न पक्षों से खराद पर चढ़ीं। मजदूरों के प्रति भी कोई व्यापक सहानुभूति स्पष्ट न हुई; यों गरीबी के खण्ड-चित्र संघर्ष की पीठिका से अलग काफी सामने आये।

इसका कारण बहुत कुछ तो नाना पथों पर बँटी स्वतन्त्र चेतना ही है, किन्तु परिस्थिति का असर भी कम नहीं था। प्रेमचन्द के युग तक यद्यपि विश्व-भर में फैली संक्रान्ति स्पष्ट हो चुकी थी (१९३५ में लेखकों की पेरिस-कांफ्रेंस ने इस विनाश की तरफ स्पष्ट संकेत कर दिया था) पर उसका नग्न रूप उनकी मृत्यु के बाद सम्मुख आया। दुनिया साफ-साफ कई तरह के लोगों में बँट गई; धीरे-धीरे उनके केन्द्र भी बने और संघर्ष उग्र हो उठा। इस बार का संघर्ष काफी दूर तक तो पूँजीवाद के अपने अन्तरनिरोधों के कारण था, पर उसके निष्कर्ष पर समाजवादी शक्तियों का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ने जा रहा था। कुछ वर्ष पहले का कुहरा

यद्यपि एकदम साफ नहीं हुआ था, किन्तु मंगल सूत्र की आखिरी पंक्तियों में हिलता-डुलता धुँधलका १६४०-४१ तक काफी साफ हो गया था। प्रेमचन्द साहित्य की 'सिल्यूटी' तसवीरों के चेहरे स्पष्ट हो रहे थे। इस संघर्ष में हिन्दुस्तान के लेखकों में भी काफी मतभेद उत्पन्न हो गए थे। वस्तु और सन्देश के प्रश्न पर रास्ते बँट गए थे। कुछ ने अपना रास्ता बदला था, पर कुछ अपने विश्वासों पर पूर्ववत दृढ़ थे।

पहले से लिख रहे लेखकों में अब तक जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी अपने विश्वासों पर स्थिर रहे। इनकी सम्पूर्ण देन हिन्दी कथा के शैली-पक्ष को है। मनोविश्लेषण, वातावरण चित्रण, तथा चरित्रों के विरोधाभास की दिशा में उपस्थित की गई परिस्थितियों के निर्माण में इन लोगों ने कौशल का परिचय दिया। जैनेन्द्र कुमार अपनी अदायगी (presentation) में पहले से ही अन्तर्मुखी रहे (यों उनका विकास प्रेमचन्द की छाया में हुआ)। उनका विकास प्रेमचन्द से इतर जाति का रहा। ये और वाजपेयीजी इसी कारण कभी-कभी लक्ष्य-कथन में प्रतीकों का सहारा भी लेते दीख पड़े तथा अन्तर्वृत्ति निरूपण में अक्सर रोमानी तरीकों का प्रयोग भी करते रहे। जैनेन्द्र में कहीं-कहीं सामाजिक चेतना भी दीख पड़ी, पर इनके साहित्य की पृष्ठभूमि सदैव पारिवारिक रही; घरेलू स्त्री-पुरुष इनके विषय बने रहे। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ उनके उपन्यासों के विपरीत अक्सर सीधी चटियल तथा व्यंग्य-प्रधान होती हैं। एक निर्मम करुणा कहीं झलकती है, पर अक्सर व्यंग्य और हास्य उसे ढके रहता है। श्री सियाराम शरण गुप्त ने यद्यपि कहानियाँ कम लिखी हैं (अधिकांश स्केच, पर्सनल एसे तथा निबन्ध ही झूठ-सच में हैं, पर पुस्तक का नामकरण एक कहानी के आधार पर ही हुआ है) किन्तु साहित्य में वस्तुगत कारुण्य से उनकी शैली में एक मार्दव सब-कहीं दीखता है; अपनी आस्तिक सहानुभूति के बल पर वे वस्तु तथा शैली की दृष्टि से अपनी सीमा से काफी आगे बढ़कर निर्णय देते हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी कुछ अनुभूतिपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं, कम-से-कम 'पानवाला' उनकी एक सुन्दर कृति है, किन्तु इस शैली को अपना विश्वास वे नहीं दे सके हैं, ऐसा स्पष्ट लगता है। श्री 'निराला' की अधिकांश कहानियाँ '४० के पहले की हैं; उन पर भी युगीन चिन्ता की छाप नहीं मिलेगी, पर अपने संकेतों में काफी सुलझे हुए हैं 'गजानन्द शास्त्रिणी', 'पद्मा और लिली' दो उनकी टिपिकल कहानियाँ हैं जहाँ कथानक या विकास की तरफ कम पर रुकावट की तरफ अधिक ध्यान दिया गया है। कहानियों की अपेक्षा वे अपने स्केचों में अधिक खुलते हैं। उन्हें वहीं पहचानना होगा।

इस सहज सहानुभूति तथा मानवीय सत्यों की दृष्टि से चारों ओर फैले समाज को देखने वाले कथाकारों के कोई अपने विशेष आग्रह प्रारम्भ में स्पष्ट नहीं थे (संघर्ष पहले उतना स्पष्ट हुआ भी नहीं था) बाद में इनमें से कई मौन हो गए, कइयों ने अपने विश्वास नहीं स्पष्ट किये पर विरोध स्पष्ट अवश्य कर दिया। सियारामजी ने एक 'रेडियो टॉक' में अपने को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'एक बूँद आँसू जो बाहर गिरता है, मिट्टी में मिल जाता है; वही अगर भीतर हृदय में रसे तो मोती बन जाता है।' साफ है कि वे अपनी सहज करुणा के पक्षपाती थे। पर करुणा अगर आँख खोले रहे तो बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं। जैनेन्द्रजी ने जब तक आग्रह नहीं स्पष्ट किये थे उनकी रचनाओं में बड़ी गहरी संवेदना के दर्शन होते थे; उसे प्रकट करने का उनका तरीका भी मौलिक था; किन्तु बाद में उनके दर्शन (?) ने न जाने कहाँ बहा डाला

आज उनके तर्कों को समझना साधारण बुद्धि के परे है ।

इस पीढ़ी से थोड़ी अलग एक नई पीढ़ी मनोविश्लेषकों की भी उठ रही थी । पश्चिम में इस दृष्टिकोण का व्यापक प्रभाव साहित्य के सभी अंगों पर पड़ा । पूँजीवादी व्यवस्था से हताश विश्वयुद्धों की छाँह में पले मध्यवर्ग ने इसके बल पर अपने असन्तोष के लिए एक शास्त्र पा लिया, और काफी विश्वास से इसका प्रयोग भी किया । यहाँ भी श्री इलाचन्द्र जोशी ने विश्लेषण की एक सुन्दर मृदु शैली का विकास अपने उपन्यासों में किया । अपनी फैलाव तथा स्पष्टीकरण की वृत्ति के कारण यह शैली कहानियों के छोटे कलेवर में सफल नहीं हो सकी; नतीजा हुआ इनकी अधिकांश कहानियाँ 'डायरी के पन्ने' बनकर रह गई हैं, उनमें रह-रहकर आये हिस्टीरिया के दौरों के ही क्लाइमेक्स की सहायता ली गई है । अक्सर यह विश्लेषण रोगों के निदान की तरह विचित्र अहैतुक तथा सिद्धान्तवादी हो जाता है, निराकरण का प्रयत्न कहीं नहीं दीखता । अपनी सीमित दृष्टि के कारण (या आग्रह-विशेष के कारण) वे विस्तृत विश्व में अपने पात्रों की लाचारी का जवाब नहीं माँगते । श्री 'अज्ञेय' दूसरे मनोविश्लेषणकारी कहानीकार हैं जिनको उनकी कहानियों ने प्रतिष्ठित किया है । 'विपथगा' की सभी कहानियाँ अपना अलग व्यक्तित्व रखती हैं; उनकी अपनी एक प्रेरणा (urge) है । पगोडा वृक्ष, अकलंक, शत्रु, रोज आदि कहानियों में विश्लेषण बड़ा ही स्वाभाविक है; गहराई (स्वयं अज्ञेयजी शंकालु हैं) कम हो, इसकी चिन्ता हमें नहीं है । एक रचनात्मक चिन्ता का अवसाद सब कहीं दीखता है, जिसमें जोशीजी की-सी घुटन नहीं है । शैली की ताजगी भी इसी गुण के कारण निखरी है और एक नई शक्ति के दर्शन हुए हैं । इनकी कहानियों से हिन्दी की कथन-शैली में नये विश्वास उत्पन्न हुए किन्तु 'परम्परा', तथा 'कोठरी की बात' में विश्लेषण की वह ताजगी छिन गई । स्वयं लेखक को ये संग्रह अपनी गहराई के लिए पसन्द हैं । विश्लेषण का स्तर युवावस्था के उन्माद से थोड़ा प्रौढ़ता की ओर अवश्य बढ़ा है । 'शरणार्थी' कहानी-संग्रह में सहानुभूति ने एक झिलमिल प्रकाश इन्हें दिया है, तिक्तता (जो आना सरल था, जिसके लिए कोई दोष भी न देता) बचाकर ये इस संरक्षण-चेष्टा में काफी सन्तुलित से बने रह सके हैं । 'जयदोल' की कहानियाँ भी उसी विश्लेषण की दिशा में आगे बढ़ती हैं । अज्ञेयजी प्रारम्भ में कहानी के स्पष्टीकरण का अधिक बोझ स्वयं उठा लिया करते थे, यह प्रवृत्ति इधर दबती-सी दीखती है । अज्ञेय तथा 'प्रतीक' के साथ लेखकों-कवियों का एक मण्डल है जिसने काफी विश्वास के साथ, मनोविश्लेषण की दिशा में प्रयोग किये हैं । 'कविता' के क्षेत्र में कई व्यक्तित्व स्पष्ट हुए हैं, पर कहानी की दिशा में कोई स्पष्ट उभार लक्षित नहीं हो रहे हैं । नाम तो कई आये, पर अभी उनका उल्लेखनीय साहित्य प्रकाशित नहीं हो सका है । 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' की आरम्भिक रचनाएँ काफी हद तक रोमानी रही हैं । अपने इस गुण से इन दोनों ने काफी पाठक बनाये हैं, पर आज स्वयं इनका विश्वास ही इस शैली पर नहीं रह गया है । 'अश्क' की अन्य प्रवृत्तियाँ काफी सशक्त होकर सामने आई हैं जिनका वर्णन यथास्थान होगा । 'धर्मवीर भारती' ने भी इस दिशा में अच्छी कहानियाँ लिखी हैं । एक तरुण का रोमानी स्वभाव उन पर सब कहीं (शैली पर भी) हावी रहता है । शम्भूनाथसिंह 'विद्रोह' तक में रोमानी हैं; श्रीराम शर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त,' आरसी प्रसादसिंह, माया ग्रुप के बलवन्तसिंह, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', रानी ग्रुप के छेदीलाल गुप्त, आदि के पास अच्छी शैली है; अवसर और उत्तरदायित्व की कमी से वे अपनी

जगह पर रुके से दीख पड़ते हैं।

इन लेखकों को प्रेमचन्द के बाद तथा सामाजिक चेतना सम्पन्न लेखकों के पहले रखने का तात्पर्य यही है कि हिन्दी की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का निराकरण हो सके। इन लेखकों में लिखने वालों की वह दो पीढ़ियाँ आ गई हैं जिनका विकास प्रसाद के उद्भव के थोड़ा बाद तथा प्रेमचन्द के पश्चात् के संक्रान्ति के पूरे एक दशक में हुआ है। इन्होंने काफी दूर तक सामाजिक, राजनीतिक तथा विश्वयुद्धजनीन प्रभावों से अपनी कला को अप्रभावित या तिर्यक-प्रभावित रखा है। शैली की दृष्टि से उनका दान हिन्दी-कहानी को अपूर्व रहा है; इन्होंने अभिव्यंजना का मान काफी ऊँचा किया है और प्रेमचन्द की छोड़ी कथन-परम्परा में काफी नये प्रयोग किये हैं।

किन्तु प्रेमचन्द के प्राण की रक्षा करने वाले ये कथाकार नहीं थे। यह कार्य किया दूसरे वर्ग ने। १९३५ की पेरिस कान्फ्रेंस के निर्णय में विश्व के प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों का सहयोग था। मैक्सिम गोर्की, रोम्यारोलां, आन्द्रे माखा, रवि बाबू आदि तथा ऐसे अन्य प्रतिनिधि कलाकारों ने अपना विश्वास इसे दिया था। जिस परिस्थिति की ओर इशारा उन्होंने किया था उसे दुनिया में घटी घटनाओं ने सही प्रमाणित किया; साहित्यकार इस स्थिति के असहाय दर्शक न बने, इसलिए यह आवाज उठाई गई थी। दुनिया के अधिकांश साहित्यकारों ने यह विश्वास स्वीकार किया और इसी के अनुसार अपना दृष्टिकोण भी स्थिर किया। ऐसे लोगों का साहित्य इस पिछले १९३५ से आज तक की परिस्थिति के विषय में अपना स्पष्ट मत रखता है; वह कला या विश्लेषणवादियों की तरह इस पक्ष पर एक अवसाद (फ्रस्ट्रेशन)-भरी चुप्पी साधने को ही साहित्य का चरम नहीं मानता। वह अपनी भरसक द्विविधा का पर्दा हटाने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न की ईमानदारी को ही कला की सबसे बड़ी कसौटी मानता है। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि किस कारण वह इन कलावादियों को पूँजीवादी स्थितिशीलता का शिखण्डी मानता है। यहाँ मनोविश्लेषक तर्क उपस्थित करते हैं कि समाज का वातावरण ऐसे ही टूटे, दुःखी और अतृप्त मनों से बना है; ऐसी हालत में हमारा ही रास्ता ठीक है। नया बुद्धिजीवी जब ऐसे तर्क देता है तब वह स्वयं अपनी स्थिति एकदम साफ कर देता है। वह स्वयं उस वर्ग का व्यक्ति है। उसमें ऐसी क्षमता नहीं कि वह यह घेरा तोड़कर बाहर आवे। तुर्गनेव ने जहाँ अपने नये पात्रों (बैजोरोव आदि) को टूटा हुआ उपस्थित किया वहीं उसी समाज में नक्रोस्कोव को जीवित सशक्त आदमी भी मिले! कारण प्रश्न पात्रों का नहीं लेखक के जीवन देखने के कोण का है। १९०५ से १९१७ के रूस में जिसे जीवित युवक न मिले तथा १९४२ के वातावरण में जिन्हें केवल टूटे मन ही दीखें उन पर साहित्यिक दृष्टि से विचार करने के पहले डॉक्टरी दृष्टि भी डालनी होगी। राल्फ फाक्स ने ऐसे लोगों पर तरस खाते हुए लिखा है कि वे कब समझेंगे कि व्यक्ति सामाजिक समष्टि का एक ऊँचा पात्र है। गोर्की ने भी ऐसे लोगों की अवसादजन्य एकान्तिकता का निराकरण करने के लिए उन्हें जनता के पक्ष में जाने की सलाह दी है और कहा है कि तब ऐसे लेखक अपने को कटा हुआ तथा राख का ढेर न समझेंगे।

इस विश्वास से प्रकाशित होने वाले कथाकारों की एक विशाल संख्या ही इस दशक की सबसे बड़ी देन रही है। इन लेखकों ने न केवल सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्षों का उचित

निराकरण किया है अपितु एक नवीन दृष्टिकोण के बल पर इन्होंने समाज के स्तर-भेद करके छोटे-से-छोटे सम्बन्धों का निराकरण प्रस्तुत किया है। स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्मगत रूढ़ियाँ, धारणाएँ सबको नई कसौटी पर कसकर निर्णय देने के विश्वासी ये रहे हैं। इस कार्य में जहाँ एक ओर अजस्र करुणा की आवश्यकता उन्हें रही है वहीं निर्ममताजन्य व्यंग भी उनका अस्त्र रहा है। इन दो विरोधी धारों की तलवार लेकर जो कार्य ये कर रहे थे उसकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध थी, पर इनकी लाचारी भी कम स्पष्ट नहीं थी। इस प्रकार के साहित्य के निर्माण के लिए एक सशक्त जन-आन्दोलन की पीठिका आवश्यक थी। लड़ाई प्रारम्भ होने के पहले तक जिस तरह का आन्दोलन आवश्यक था वह एक सीमा तक विकसित नहीं था; जो कुछ था भी उसकी रीढ़ साम्राज्यवादी दमन ने तोड़ दी थी। दूसरी ओर लेखकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क भी इन आन्दोलनों से नहीं था, जिसके कारण तथा संकीर्णता के कारण बार-बार भूलें हुईं। इन कारणों से इस साहित्यिक आन्दोलन का स्तर उठ नहीं सका। यह होते हुए भी अपनी ईमानदारी तथा अनुभूति की तीव्रता के कारण यह साहित्य लोकप्रिय हुआ तथा काफी दूर तक उसने हिन्दी कहानी को संवारने तथा उसके प्रभाव को तीव्र बनाने में ऐतिहासिक योग दिया।

यशपाल की सफलता इस दिशा में काफी निर्णायक और उत्साहवर्द्धक रही है। अपनी कहानियों में न केवल वस्तु के नाते अपितु शैली की नवीनता के नाते भी वे प्रेमचन्द के मुकाबिले एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पात्र उनके अधिकांश मध्यवर्ग से या निम्नतम स्तर के शहरी मजदूरों से आते हैं। किसी आन्दोलन के अंश वे अक्सर नहीं हैं पर उनको उपस्थित करने का ढंग यशपाल का वैज्ञानिक होता है। यशपाल की करुणा निष्फला नहीं होती, आक्रोश उनका बेमतलब नहीं होता; प्रोत्साहन वे उसको देते हैं जिसकी कोई हैसियत आज की नैतिकता के चौखटे में नहीं होती। इस दृष्टि से वे अपने पहले के पाश्चात्य लेखकों, इब्सन, शा के व्यंगों की सामाजिकता से होड़ लेते हैं। कथन-शैली में वातावरण की सृष्टि करते हुए भी अक्सर ये अपना पूरा मोह अन्त की पंक्तियों तक के लिए सुरक्षित रखते हैं। प्रेमचन्द से भिन्न इनकी कथाओं के अन्त बड़े विचित्र (trick-ending) होते हैं; जैसे कबड्डी का खिलाड़ी झुकने का नाट्य किसी ओर करे और किसी दूसरे को छू कर बैठा दे। अपने आधे दर्जन प्रकाशित कहानी-संग्रहों में यशपाल ने समाज की पचासों समस्याओं पर कथानक प्रस्तुत किये हैं। प्रतिष्ठा का बोझ, पुलिस की दफा, रिजक, गड़ेरी, हलाल की रोटी, शम्बूक, आदमी का बच्चा, भस्मावृत चिंगारियाँ, चित्र का शीर्षक, फूलो का कुर्ता आदि कहानियाँ समाज के नाना स्तर भेदकर सत्य का उद्घाटन करती हैं; पर यह उद्घाटन अक्सर निर्माणात्मक रहता है। ध्वंस केवल ध्वंस के लिए कोई स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। सामाजिक नैतिकता के गाल पर निर्मम भाव से जो तमाचे जड़े गए हैं उनका असर दूसरी जगह देखना ही ठीक होगा। डिप्टी साहब, उत्तराधिकारी, पाँव तले की डाल, [illegible], काफी कड़ी रचनाएँ हैं। यशपाल के साथ ऐसे लेखकों की एक बड़ी संख्या आगे आई। इस दिशा में प्रेमचन्द के हंस ने ऐतिहासिक कार्य किया। उसके मण्डल में 'अश्क', चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण, विष्णुप्रभाकर, रहबर, भगवत शरण, रांगेय राघव, अमृतराय, गंगाप्रसाद मिश्र, मोहनसिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, आदि प्रमुख थे। इनके बाद एक पीढ़ी और बन गई है जिनमें तेजबहादुर चौधरी, मिसला मिश्रा, कृष्णा सोबती, सावित्री निगम, शोभाचन्द्र जोशी, गिरीश अस्थाना, हर्षनाथ, भीष्म साहिनी आदि प्रमुख हैं। 'सरगम' के साथ भी कई अच्छे

कहानी-लेखक हैं जिनमें प्रकाश पण्डित, कन्हैयालाल कपूर ने कुछ रचनाएँ दी हैं। लेखकों की यह बड़ी संख्या बिना समझौता किये वर्तमान समस्याओं तथा विषमताओं का जवाब देती रही है। पिछले युद्धकाल की परेशानियाँ, अकाल, कुण्ठा, और निरन्तर टूटती व्यवस्था को इन्होंने अपने कथा का विषय बनाया है। इनमें अश्क तथा राधाकृष्ण के हाथों कहानी की सम्भावनाएँ काफी बढ़ी हैं। चन्द्रकिरण की मध्यवर्गीय परिवार तथा मजूर श्रेणी पर रचित बेजुबाँ तथा आदमखोर जैसी रचनाएँ अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। अन्य लेखकों में कलागत निखार दिन-पर-दिन आता जा रहा है। श्री मन्मथनाथ गुप्त अपनी कहानियों में कई बातें एक साथ कहते दीख पड़ते हैं। जमकर कहने की आदत आना ही उनके लिए हितकर होगा। श्री राहुल सांकृत्यायन तथा भगवत शरण ने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं, पर राहुलजी का इतिहास-दर्शन वैज्ञानिक है। 'वोल्गा से गंगा' का एक अर्थ (purpose) है; उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नलिन विलोचन शर्मा ने बिहार प्रान्त में कहानी लिखने का प्रयोग किया है। 'माटी की मूरतें' एक ऐतिहासिक प्रयत्न है। 'विष के दाँत' कहानी में शर्मा जी का दृष्टिकोण बड़ा ही स्वस्थ एवं वैज्ञानिक है। बाद में वे एक अजीब परेशानी के शिकार हो गए हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी के कई संग्रह सामने आये हैं; उनमें चित्रात्मकता का गुण लोकगीतों की सुन्दर देन है। श्री शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का संग्रह 'बहती गंगा' एक मौलिक कृति है। स्थानिक वातावरण का इतना यथार्थ चित्रण और ऐसी सप्राणता प्रसाद की गुण्डा कहानी की याद दिलाती है। ऐसे वातावरण-प्रधान साहित्य की अपनी एक ऐतिहासिकता होगी।

संक्षेप में हिन्दी की विशाल कथा-परम्परा के दल का निरूपण करने पर एक विश्वास से मन भर जाता है। हिन्दी के कथा-साहित्य ने बड़ी ही तन्मयता से अपना कार्य पूरा किया है, उत्तरदायित्व का ज्ञान उसे अपेक्षाकृत और शैलियों से अधिक रहा है। यद्यपि प्रेमचन्द-सा कोई व्यक्तित्व इस बीच नहीं हुआ, किन्तु समस्याओं का निराकरण बड़ी ही शक्ति से किया गया है। आज आवश्यकता है कि समाज-शक्ति इस वर्तमान कुण्ठा का स्थान शीघ्र-से-शीघ्र ले। जीवन की व्याख्या के नये मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना और दृढ़ होने से ही यह सम्भव हो सकेगा।

देवराज उपाध्याय

आधुनिक हिन्दी कहानी

आधुनिक हिन्दी कहानियों का आलोचक जब प्रेमचन्दजी के बाद की कहानियों को पढ़ता है तो सर्वप्रथम उसमें यह देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि प्रेमचन्दजी ने कथा-साहित्य को जिस स्थिति में जहाँ तक पहुँचा दिया था वहाँ से उसने कितनी प्रगति की है। कहानी की टेकनीक की, रचना-पद्धति की तथा विषय-निर्वाचन की दृष्टि से, मनोविज्ञान के समावेश की दृष्टि से कहाँ तक इसमें नूतनता आढ्यता तथा गहराई का समावेश हो सका है। साथ-ही-साथ यह भी देखने की इच्छा होती है कि ये कृतियाँ अपने युग के लिए कहाँ तक दुभाषिये का काम कर रही हैं। अपने युग को सचाई और ईमानदारी से देखना, उसके सत्यों को पहचानना, और उनको पाठकों के सामने सार्थक रूप में रखना कलाकार का काम है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक वातावरण में तथा जन-समुदाय की चेतना में क्या सम्बन्ध है, दोनों के पारस्परिक सम्पर्क से क्या क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती हैं इस बात को सक्रिय और सजीव तथा प्रकाशत्तम रूप में देखना ही कलात्मक सत्योपलब्धि है और यही कलाकार करता भी है। अतः कोई व्यक्ति यदि तत्कालीन मूड को, मनोवृत्ति को जानना चाहता है तो इतिहास की ओर न देखकर अधिक साहित्य की ओर देखता है। क्योंकि साहित्य (कहानी, उपन्यास आदि) ही में युग का सच्चा प्रतिनिधित्व प्राप्त है। सर्वकालीन तथा सार्वभौम महत्ता साहित्य में, तत्कालीन, युगीन अर्थवत्ता तथा महत्ता के साथ विद्यमान रहती है। शेक्सपियर, होमर, कालिदास, व्यास-जैसे उच्च कोटि के साहित्यिकों की रचनाओं में सर्वकालीनता और सार्वभौमता के साथ तत्कालीनता और तदयुगीनता की भी झलक विद्यमान है। पर इसके विपरीत वाली स्थिति अर्थात् तत्कालीन सार्थकता को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य सर्वयुगीन महत्त्व समन्वित हो यह कोई निश्चित नहीं। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है। किसी भी साहित्य को तत्कालीनता की सतह से उठाकर सर्वकालीनता के गौरव-मण्डित शिखर पर स्थापित करने वाले, युग की सीमा से बढ़ाकर युग-युग की व्याप्ति तक पहुँचाने वाले साधन जो भी हों, पर इतना निश्चित है कि वह टेकनीक की नूतनता हो नहीं सकता। टेकनीक के टेक पर साहित्य कुछ काल के लिए पूजित हो ले, पर सदा के लिए नहीं। अंग्रेजी साहित्य में पोप तथा हिन्दी में केशव इत्यादि जैसे साहित्यस्रष्टा में टेकनीक अपने चरमोत्कर्ष पर है, यह साहित्य के किस पाठक से छिपा है, पर यह भी किसको ज्ञात नहीं कि उनमें सार्वभौमिकता की छाया भी नहीं है। अतः इस निष्कर्ष पर आये बिना नहीं रहा जाता कि सत्य और सुन्दर की अभिव्यक्ति का कोई सर्वकालाबाधित और सार्वत्रिक आदर्श परिमाण अवश्य है भले ही उसका प्रमाण्य तर्कातीत और बोधातीत हो। सर्वकालीन और सार्वभौम महत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-कहानियों की वही स्थिति है जो प्रेमचन्दजी के समय में थी। अर्थात् जिस तरह प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखकों की कहानियाँ अपने युगीन महत्त्व के आगे बढ़ नहीं सकी थीं, वही स्थिति आज की कहानियों की

है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ किसी आदर्श किसी ध्येय, किसी नीति का प्रचार करती थीं तो आज भी वह प्रचार-कार्य कहानियों के द्वारा हो ही रहा है। हाँ, आदर्श में परिवर्तन अवश्य हो गया है। जहाँ प्रेमचन्दजी प्रचार करना अपना उद्देश्य बतलाते नहीं थे, वहाँ वह अब डंके की चोट से हो रहा है।

जहाँ पहले प्रचार कुछ सहमता, सकुचाता-सा कहानी के साथ चलता था वहाँ आज छाती तानकर चलने लगा है, मानो वही सर्वेसर्वा हो। अतः आज भी हमारा कहानी-साहित्य अपनी तत्कालीन सार्थकता वही प्रगट कर रहा है। सार्वभौमता उससे बहुत दूर है। अतः आइये, देखें कि इस तत्कालीन सार्थक साहित्य की विशिष्टताएँ क्या हैं, तत्कालीन सत्य को सजीव रूप से साहित्य में अभिव्यक्त करने के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता पड़ती है।

साहित्यिक प्रतिभा की सबसे बड़ी कसौटी है कल्पनात्मक सहानुभूति। उसी के द्वारा वह तत्कालीन समस्याओं और अनुभूतियों के तत्त्व के वास्तविक रूप के अभ्यान्तर में प्रवेश कर देखने में समर्थ होता है और उसको अन्य लोगों के सामने मूर्तिमान रूप में उपस्थित करने में भी मात्र ज्ञान निर्जीव होता है, उसमें ज्ञाता और ज्ञेय अपनी सत्ता अलग-अलग बनाये दूर-दूर तटस्थ खड़े रहते हैं और इस तटस्थता के कारण ज्ञाता में ज्ञेय की अभिव्यक्ति की अदम्य प्रेरणा नहीं आ सकती। उसमें वह विवशता नहीं आ सकती जो वसन्तागमन के अवसर पर कोकिल-कण्ठ से फूट पड़ती है। यह बेताबी उसी विशिष्ट अवसर के लिए सुरक्षित है जिस समय ज्ञान केवल मस्तिष्क के सतही परिचय की सीमा से बढ़कर हमारे व्यक्तित्व की गहराई की चीज हो जाय। अर्थात् तदाकारपरिणति की अवस्था आ जाय जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद दूर हो जाता है। ज्ञेय के सम्बन्ध की बातें हमारी अपनी बातें हो जाती हैं। हम जो बातें कहते हैं वह किसी बाह्य वस्तु के विषय में न होकर अपने ही विषय में होती हैं। यही साहित्य में आत्मदान कहलाता है जिसके अभाव में साहित्य निर्जीव होकर तत्कालीन सत्य को भी धारण करने में अक्षम रहता है, सर्वकालीनता की बात तो कहना ही क्या है। किस साहित्यिक में अपने बाह्य वातावरण से तदाकारपरिणति विधायक कल्पानात्मक सहानुभूति की स्थिति वर्तमान है, इसका निश्चय करना कठिन है। यह एक रहस्यात्मक वस्तु है जिसके स्वरूप का निर्णय कर नपे-तुले शब्दों में बतला देना कि इन अवस्थाओं में और इन-इन उपायों से इस स्थिति को लाना सम्भव है, कठिन है। कृष्ण ने जिस सहज तरीके से कह दिया कि "अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येन च गृह्यते" उस तरह से झटपट कोई फतवा दे देना सम्भव नहीं। कल्पना के द्वारा निर्मित वस्तु को देखकर ही विचार हो सकता है। जिस तरह विद्युत् का कोई स्वरूप नहीं होता उसके द्वारा परावर्तित रूप जैसे पंखे का चलना, रोशनी का जलना, इत्यादि को ही देखकर उसके बारे में कहा-सुना जा सकता है, उसी तरह साहित्यिक कृति को देखकर ही कहा जा सकता है कि इसमें कल्पनात्मक सहानुभूति की प्रेरणा कहाँ तक प्राप्त है।

यदि लेखक की कल्पना सदोष, त्रुटिपूर्ण या कृत्रिम हुई अर्थात् सच्ची प्रेरणा से समन्वित न होकर कल्पना के लिए कल्पना का स्वांगमात्र हुई तो उस तरह के साहित्य की सृष्टि होती है जिसे अँग्रेजी में अर्द्धविकसित साहित्य (Stunt Literature) कहते हैं, जिसके पढ़ने से यह भावना होती है कि यह कृति साहित्य होते-होते बच गई है; मानो समयपूर्वोत्पन्न बालक है। आजकल की हिन्दी ही नहीं यूरोपीय कहानियों को भी पढ़ने से यही मालूम पड़ता है कि वे

जल्दी-जल्दी में रहने वाले लेखकों के द्वारा झटपट में रहने वाले पाठकों के लिए जल्दी से भूल जाने के लिए झटपट तैयार कर ली गई हैं। यशपाल, अज्ञेय और अश्कजी के नाम से सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हुई होंगी, पर शायद ही कोई ऐसी कहानी हो जो हमारे अन्तस् को स्फूर्त कर सकी हो, जिसने हमारी जीवनानुभूति को अभिवृद्ध किया हो, जिसे पढ़कर हमने अपने को जीवनाढ्यता (abundance of life) से बलान्वित पाया हो। आज की कहानियों में दो तरह की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ रही हैं। प्रथमतः तो ऐसे कहानीकार हैं जो किसी नूतन टेकनीक का अपकर्षण, अभिशोषण, exploitation कर रहे हैं और इसी के बल पर पूजित होने की कामना करते हैं। इस श्रेणी के कहानीकारों में हम अज्ञेय, जैनेन्द्र, इत्यादि को रख सकते हैं। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन से देखा कि ऐसी कहानियाँ जो कहानी न होकर किसी विचार या मूड का चित्रण हों अथवा जिनमें Slice of life वाले सिद्धान्त का पालन होता है, कहानी के नाम से प्रचलित हैं। सम्भव है कि वहाँ की जीवनभूमि से इन पद्धतियों ने रस ग्रहण किया हो और अपने रूप में आने के लिए बाध्य हुई हों। पर इस मौलिक कारण को न देखकर यूरोपीय पौधे को भारतीय भूमि पर आरोपित करने की प्रतिज्ञा इनमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत की भूमि अपनी छाती पर इन पौधों को सँभालने के लिए तैयार नहीं। या अपनी छाती पर धारण भी कर ले तो उसमें इन्हें पुष्पान्वित और पल्लवित करने के प्रति विरोधी मनोवृत्ति (protest) के भाव ही वर्तमान हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि यहाँ की मिट्टी को इस नई पौध को धारण कराने के लिए या तो उसके रस की अन्तिम बूंद को निचोड़ दिया जा रहा है अथवा कृत्रिम खाद्य देकर उससे वह काम लिया जा रहा है जिसकी योग्यता उसमें न थी। यही टेकनीक का exploitation है। मैं एक पत्थर के मकान में रहता हूँ; वहाँ पर घास और लता के उगाने की कोई सम्भावना नहीं, पर मैं इस थोड़े से सीमित घेरे के अन्दर दो या तीन इंच मोटी मिट्टी की तह जमा लेता हूँ और उसी में किसी साग या सब्जी का बीज डालकर पौधा उगा लेता हूँ। पौधा लग भी जाता है, सहारा पाकर फैल भी जाता है, उसमें फल-फूल भी लग जाता है; पर सारे वातावरण को देखने से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह मिट्टी का या उस जमीन का अभिशोषण है। मिट्टी के अन्दर से protest की आवाज सदा आती रहती है। मैं अपनी साइकिल पर दो मन का लक्कड़ बाँधकर ढो लेता हूँ, साइकिल बेचारी मना भी नहीं करती, पर सहृदय जानता है कि यह साइकिल का अभिशोषण है। अधिक दिन तक इस परिस्थिति को साइकिल सँभाल नहीं सकती। यही कारण है कि टेकनीक के सहारे एक-दो उच्चकोटि की कहानियाँ लिख भी ली जाएँ पर उनकी उच्चता के प्रतिमान को बनाये रखना कठिन है। जैनेन्द्र 'मास्टरसाहब' जैसी कहानी तथा अज्ञेय 'परम्परा', 'कोठरी की बात' या 'विपथगा' जैसी दो-चार कहानियाँ लिख लें, पर उनके लिए उस प्रतिमान का निर्वाह करना कठिन रहा है। दूसरी ओर ऐसे लेखक हैं जो किसी नूतन टैकनीक या शिल्पकारिता का आग्रह तो नहीं करते पर उनमें जान-बूझकर किसी बौद्धिक सिद्धान्त के प्रदर्शन का आग्रह होता है; उदाहरणार्थ फ्रायड की अचेतन काम-वृत्ति का अथवा मार्क्स के वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का। इधर निश्चित ही रूप से इन दोनों धाराओं का पठन-पाठन बढ़ा है और भारतीय मस्तिष्क ने उनको ग्रहण किया है। पर हिन्दी में इन विषयों की पुस्तकों के न होने के कारण इनका पूर्ण और सच्चा ज्ञान हमें या हमारे लेखकों को नहीं हो सका। अतः ये हमारी सृजनात्मक प्रतिभा को यहाँ जाग्रत नहीं कर

सका है ; हमारे व्यक्तित्व की उस तह को नहीं छू सका है जहाँ से सृजन प्रारम्भ होता है। अतः हम इन सिद्धान्तों को ग्रहण करने वाली कहानियों को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ stunt literature होकर रह जाती हैं। इनमें प्रचार का थोड़ा सा क्षणिक आवेग भले ही दीख जाय, पर हमें तल्लीन करने की इस साहित्य में क्षमता नहीं है। यह युग का प्रतिनिधित्व करने का स्वाँग तो भरती हैं, परन्तु युग की घटनाओं के मूल स्रोत मानवता की अवहेलना के कारण बीच ही में प्राणहीन होकर रह जाती हैं। लेखक की चाबुक की चुटीली चोट के कारण घोड़ा वेग से चलता तो है पर मंजिले मकसूद तक पहुँचते-पहुँचते उसका दम उखड़ जाता है। यशपाल जी, पहाड़ी तथा इलाचन्द्र जोशी जी की कहानियाँ इसी दूसरे प्रकार के stunt की श्रेणी में आती हैं। इनमें सिद्धान्त-प्रतिपादन अधिक है जीवनानुभूति की प्रेरणा कम। जो सिद्धान्त अभिव्यक्त किये गये हैं वे पुस्तकों के अवलोकन द्वारा प्राप्त किये गए हैं, जीवनानुभूति के द्वारा नहीं।

इसे ज्ञानलवदुर्विदग्धता (भावविदग्धता कहना ठीक होगा, क्योंकि पुस्तकी ज्ञान तो होगा ही) के कारण एक विचित्र बात देखने में आती है। फ्रायड और मार्क्स ये दो विरोधी तत्त्व हैं। इन दोनों में कोई तात्त्विक एकता नहीं। फ्रायड ने मानसविकार के माध्यम से और मार्क्स ने अर्थशास्त्र के माध्यम से संसार की समस्याओं पर विचार किया है; एक ने मानव-मन के अन्दर से विश्व के दर्शन का लाभ किया है, तो दूसरे ने सरे बाजार बुलियन मार्केट के कोलाहल से होकर मानव-मन के भीतर झाँकने की कोशिश की है। इन दोनों में ३ और ६ का सम्बन्ध है, दोनों एक साथ एक स्थान पर मिलकर नहीं रह सकते। किसे मालूम नहीं कि कम्यूनिस्ट काडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Study in Decaying Culture में फ्रायड की न जाने कितनी भर्त्सना की है, पर यशपाल की कहानियों में फ्रायड और मार्क्स मानो अपने शाश्वत विरोध का परित्याग कर साथ-साथ गलबाँही देकर घूम रहे हैं। इनकी कहानियों के दो ही मुख्य कण्ठ-स्वर हैं—रोटी और सेक्स। शायद ही कोई ऐसी कहानी हो जिसमें शारीरिक सीमा को छूने वाली काम-वासना की चर्चा न हो। 'ज्ञानदान' से जो प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई वह 'फूलो का कुर्ता' के वैभत्स्य में ही परिणत होकर रही। खैर इससे यहाँ मतलब नहीं है। कहना यही है कि फ्रायड और मार्क्स दोनों यशपाल की कहानी की छत्रछाया में पल रहे हैं। तो इसका अर्थ यही है कि यशपाल के फ्रायड न तो असली फ्रायड हैं और न मार्क्स मार्क्स। ये हैं तो केवल मिथ्या मार्क्स हैं और मिथ्या फ्रायड हैं, अर्थात् किसी की भी मार्मिक अनुभूति यशपाल को नहीं है। नहीं तो नर और वानर का संग, प्रकाश और अन्धकार का संग एक स्थान पर सम्भव नहीं था। पण्डित इलाचन्द्र जोशी के कथा-साहित्य को देखिए तो यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। आज कहानीकारों में उनका विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपनी कहानियों में फ्रायड के सिद्धान्तों को साग्रह उपजीव्य बनाने का प्रयत्न किया है, पर उनमें मार्क्सवाद के अर्थशास्त्र के भारवाही साहित्य के प्रति आस्था नहीं है। उनकी कहानियाँ और विवेचनात्मक लेखों में तथाकथित प्रगतिवाद की कड़ी-से-कड़ी आलोचना पाई जाती है। फ्रायड की दृष्टि गहराई की ओर है और वह, मेरी समझ में, भारतीय विचार-धारा के अधिक समीप है। अतः जोशीजी के हृदय ने इसके सच्चे स्वरूप को पकड़ने की कोशिश की है और इसी कारण उनके यहाँ मार्क्सवाद की स्थिति सम्भव नहीं।

जो हो दोनों प्रकार के stunt literature (टेकनीकाश्रयी तथा ज्ञानलवदुर्विदग्धताश्रयी सिद्धान्त प्रतिपादक साहित्य) में से किसी को भी महत्त्वपूर्ण होने का और युगप्रतिनिधित्व करने

का गौरव प्राप्त करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। लोगों की यह भ्रामक धारणा बन चली है कि चूँकि फ्रायड ने हमारे अन्दर अचेतन की नई दुनिया का आविष्कार कर और मार्क्स ने जीवन के अर्थशास्त्र के पहलू को दिखलाकर हमारे ज्ञान-क्षितिज का विस्तार कर दिया है, अतः इनको आधार रूप में ग्रहण करने वाला साहित्य महत्त्वपूर्ण साहित्य है। पर बात ऐसी नहीं। साहित्य होने के लिए किसी विषय की पाबन्दी नहीं है, यदि पाबन्दी है तो इसी बात की कि ठेठ वह लेखक की अपनी होकर रह गई है। इस सम्बन्ध में प्राचीनों की राय स्पष्ट है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमान
तन्नास्ति यन्नरस भावमुपैति लोके॥

अर्थात् संसार में कोई भी कैसा भी विषय क्यों न हो, रम्य हो, जुगुप्सित हो, उदार हो, नीच हो, उग्र हो, प्रसादपूर्ण हो, गहन हो, विकृत हो अर्थात् अवस्तु ही क्यों न हो, पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो कवि और भावुक की प्रतिभा का स्पर्श पाकर रस की दीप्ति से उद्भासित न हो जाय।

इस छोटी सी बात को ठीक तरह से हृदयंगम न कर लेने के कारण आज हम महत्त्वपूर्ण कहानी और stunt कहानी अर्थात् कहानी के विद्रूप अलग नहीं कर पा रहे हैं। आज के गन्दे प्रेस 'gutter press' के युग में जब कि कला में नूतनता के नाम पर कैसी भी सड़ी-गली चीज को जनता से ग्रहण करने के लिए कहा जाता है और जनता उसे गले के नीचे सहर्ष उतार भी लेती है, उस समय अपने को जरा ऊँचे और निष्पक्ष मानने वाले विचारकों में यह प्रवृत्ति हो जाती है कि जनता जो कुछ भी अस्वीकृत करे वह अवश्य महत्त्वपूर्ण है और जिसे वह स्वीकृत करे वह तुच्छ। यशपाल की कहानियाँ यदि गरम-गरम पकौड़ी की तरह हाथों-हाथ लुट जाती हैं तो उसमें कुछ-न-कुछ हल्कापन अवश्य है और साहित्यिक महानता का अभाव है। पर जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियाँ इतनी आदरणीय नहीं तो उन्हें महत्त्वपूर्ण अवश्य ही होना चाहिए। ऐसी अवस्था में किसी एक पक्ष में निर्णय जल्दी से दे देना उचित नहीं। हम इतना ही कर सकते हैं कि जिस कहानी या कहानीकार में अति के प्रति अधिक कमजोरी दिखलाई पड़ती हो, जिसमें टेकनीक का चाकचिक्य अत्याधिक हो अथवा जिससे किसी सिद्धांत की अवांछनीय पकड़ देख पड़े उस पर हम मशकूक नजरों से देखें और फिलहाल अपना निर्णय स्थगित कर दें। देखें कि समय इनके बारे में क्या कहता है। हम प्रेमचन्दजी के परवर्ती कहानीकारों और उनके युग के इतने समीप हैं कि उन्हें उचित perpective में देखने के लिए जान-बूझकर लाई गई मानसिक तटस्थता भी प्राप्त करना असम्भव नहीं। अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र, पहाड़ी, यशपाल और अश्क सब ने अपने-अपने तौर पर कथा-साहित्य की परम्परा को अग्रसर करने का प्रयत्न किया है। प्रथम चारों ने यदि गहराई दी है, मनोवैज्ञानिकता दी है, टेकनीक दी है तो शेष ने विस्तार दिया है, व्यापकत्व दिया है, और नदी के पाट को चौड़ा किया है। एक अपने अध्ययन-कक्ष में संसार को लाकर थोड़ी तटस्था देखने का उपक्रम किया है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दावा किया है तो दूसरे स्वयं संसार में जाकर वहाँ सैर करने और substance को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति-स्वतन्त्रता को बलिदान करने में नहीं हिचके हैं। उनका दृष्टिकोण साधारण जनता का है, जो सोचती है 'क्या है यदि

हमारे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तो तानाशाही ही सही। उस प्रजातन्त्र को लेकर हमें क्या करना है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता तो है पर रोटी के लाले पड़े हैं।' रूस में या चीन में स्टालिन या माओ की तानाशाही ही हो, पर रोटी और कपड़े तो मिलते हैं। पर भारत में नेहरू के प्रजातन्त्र के व्यक्ति की स्वतन्त्रता रोटी और कपड़े के मूल्यों पर प्राप्त करना मँहगी जान पड़ती है। दोनों में कौनसा दृष्टिकोण सही है, यह कहना कठिन है। मेरा अपना ख्याल है कि किसी भी साहित्य के पाठक को यह धारणा बंधना अनिवार्य है कि जीवन की स्थिति के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है, उसको छोड़ कर जीवन टिक नहीं सकता। व्यक्ति समाज में जीता हो या न हो पर समाज तो व्यक्ति में अवश्य ही जीता है। जहाँ समाज और व्यक्ति का संघर्ष होगा, मेरा वोट व्यक्ति के पक्ष में होगा। मैं व्यक्ति को किसी भी मूल्य पर बलिदान करने के लिए तैयार नहीं।

आज के युग के कहानीकार की अवस्था विचित्र है। यह एक ऐसा युग है जिसमें सार्वत्रिक विच्छिन्नता छा रही है—समाज में, राजनीति में, संस्कृति में। मनुष्य बनों और जंगलों के पार्थक्य से ऊबकर नगरों की एकता और समीपता की शरण आया है; ऊपर से सारा विश्व एक हो गया है, पर मनुष्य-मनुष्य में आज जितना पार्थक्य है उतना कभी भी नहीं था। आज की दुनिया एक पागलखाना है। पागल भी सदा अनर्गल प्रलाप या निरर्थक क्रियाएँ ही नहीं किया करते वे भी कभी-कभी महत्त्वपूर्ण बातें करते हैं। पर उनमें एकता नहीं होती, कोई master thinking नहीं होती जो सबमें समन्वय स्थापन कर सके। ऐसी अवस्था में युग किसी को भी अपना प्रतिनिधित्व देने के लिए तैयार नहीं है। किसको युग का प्रतिनिधि कहा जाय, किसको कहा जाय कि अमुक लेखक पूर्णरूपेण अपने युग की अनुभूति में प्रवेश पा सका है (Entered fully into the common experience of the generation)। कारण, आज कोई भी साधारण मनोभूमि नहीं है, जहाँ पर सब खड़े हो सकें, कोई भी अनुभूति नहीं जिसे सब अपनी कह सकें। तब क्या प्रतिनिधित्व या अप्रतिनिधित्व ? हमें धैर्यपूर्वक इसी अराजकता पर संतोष करना होगा। यह कहानीकार जो कुछ भी दे देते हैं उसे सहर्ष ग्रहण करना होगा। ये ही लोग वातावरण तैयार कर रहे हैं जिसमें कोई तेजपुंज देदीप्यमान नक्षत्र उत्पन्न होगा।

बच्चन सिंह

हिन्दी नाटकों का विकास

संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परम्परा

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य में नाटकों का अत्यधिक प्रभाव मिलता है। संस्कृत-साहित्य में कविता की अपेक्षा नाटकों का स्वर अधिक मुखर है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में अठारहवीं शती तक तो कविता की विविध राग-रागिनी ही गूँजती रहती है। नाटकों के रंध्रों में न तो कोई स्वर फूँकने वाला दिखाई देता है और न ही उसे सुनने के लिए कोई उत्सुक प्रतीत होता है। यदि कहीं से कोई स्वर फूँकता हुआ दिखाई भी पड़ता है तो उसका अनाड़ीपन औरों का उत्साह भंग कर देता है। नाट्य-साहित्य की इस रिक्तता का क्या कारण है? इस प्रश्न पर हिन्दी के कुछ सुधी लेखकों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। किसी ने गद्य के अभाव को इसका मूल कारण माना है तो किसी ने मुसलमानी शासन को दोषी करार दिया है। कुछ विद्वानों ने तत्कालीन वातावरण में इसके कारण की खोज करते हुए कह डाला है कि सन्तों की निराशामूलक वाणी के कारण नाट्य-सृजन की प्रेरणा कुण्ठित हो गई। किन्तु ये सतही विचार मूल कारण से बहुत दूर हैं। साहित्य की सारी गतिविधियों के मूल में विदेशी आक्रमणों तथा धार्मिक आन्दोलनों के स्थूल प्रभाव को देखने की चाल वैज्ञानिक नहीं है। साहित्य की एक अखण्ड दीर्घ परम्परा होती है। साहित्य के किसी भी रचना-प्रकार पर विचार करने के लिए उसे उस प्रकार की साहित्य-शृङ्खला की एक कड़ी के रूप में देखना चाहिए। सामयिक राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति से भी साहित्य का दिशा-निर्देशन होता है। किन्तु इनके मोटे-मोटे कारणों से साहित्य की परख नहीं की जा सकती। तात्कालिक राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति से जन-जीवन में जो उत्थान-पतन होता है साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार पर उक्त प्रभाव के कारणों का हम संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत-नाटकों में ह्रासोन्मुखता आ जाती है। मौलिकता की दृष्टि से तो यह काल दरिद्र है ही, परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से भी इस काल के नाटककार समर्थ नहीं प्रतीत होते। इस काल में प्राणहीन नाटकों की भरमार है। मुरारि, राजशेखर, जयदेव, क्षेमीश्वर आदि कुछ उल्लेखनीय नाटककारों की कृतियों में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण अभाव है। मुरारि के 'अनर्घ राघव' का महत्त्व केवल कविता की दृष्टि से आँका जा सकता है। इसके कवित्व में भी प्रभातकालीन ऊष्मा नहीं है, अस्तोन्मुखी सूर्य की पीत आभा है। राजशेखर का महाकाय 'बाल रामायण' कविताओं से भरा पड़ा है। अपने कथानक के अनगढ़पन तथा अनुपात के अनौचित्य के कारण यह काफी कुख्यात हो चुका है। इस काल के प्रायः सभी नाटकों में कथानक की शिथिलता तथा वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की बहुलता मिलती है। ये नाटक चरित्र, संवाद, अन्तर्द्वन्द्व आदि सभी दृष्टियों से खोखले हैं। हिन्दी के नाटककारों को

संस्कृत साहित्य की यही पिछली परम्परा मिली। बनारसीदास का समय सार-नाटक (सं० १६६३), प्राणचन्द चौहान का रामायण महानाटक (सं० १६६७), रघुराय नागर का सभासार (सं० १७५७) और लच्छिराम का करुणा भरण (सं० १७७२) प्रायः छन्दोबद्ध हैं।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल प्रत्येक दृष्टि से बड़ा अव्यवस्थित रहा है। मुसलमान आक्रमणकारियों ने राजाओं को ही पदाक्रान्त नहीं किया, जनता की भी निर्मम हत्या की। हिन्दू-सामन्तों द्वारा शोषित जनता का दुहरा शोषण हुआ। रुपए-पैसे के साथ ही उनकी खेती बारी भी नष्ट होती रही। ऐसी अस्थिरता और भागदौड़ में नाटकों की क्या सृष्टि होती? सोलहवीं शताब्दी में सन्तों ने हमारी जड़ता को गहरा धक्का दिया। देश में चेतना की लहर दौड़ गई। वैष्णव आन्दोलन कुछ सन्त-महात्माओं तक सीमित न रहकर जन-जीवन तक पहुँचा। इस आन्दोलन ने जनता को रासलीला और रामलीला के रूप में जन-नाट्यशालाएँ भी दीं। इन्हीं रंगमंचों द्वारा कृष्ण और राम की लोकप्रिय कहानी जन-जन तक पहुँची। सूर और तुलसी की कविताओं को झोपड़ियों तक पहुँचाने का श्रेय इन रंगमंचों को भी है। लोक-संग्रह की भावना से ओत-प्रोत रहने के कारण रामलीला उत्तर-भारत के कोने-कोने तक व्याप्त हो उठी। हिन्दी का रीतिकाल अजीब प्रतिक्रिया का युग है। चिन्तनहीनता अपनी सीमा पर पहुँच चुकी थी। कवियों और जनता में दुर्लंघ्य खाई पड़ गई थी। संस्कृत नाटकों की पिछली परम्परा का भी प्राण-स्रोत सूख गया था। ऐसी स्थिति में इस काल में नाट्य-रचना की आशा दुराशा-मात्र है।

नया उन्मेष

मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था के खण्डहर पर अंग्रेजों ने पूँजीवादी व्यवस्था का महल खड़ा किया। अंग्रेज इस देश में व्यापार करने के उद्देश्य से ही आये हुए थे। राज्य स्थापित कर लेने के बाद भारतीय बाजारों पर भी इनका एक तरह से एकाधिकार हो गया। अंग्रेजों की देखा-देखी बम्बई का पारसी वर्ग भी इस दिशा में काफी आगे बढ़ा और रुपया कमाने का नया-नया ढंग निकालने लगा। पारसी थियेटरों की स्थापना धनार्जन का नया ढंग ही है। पारसी थियेटर का रंगमंच शेक्सपियर के समय के रंगमंच के आधार पर निर्मित हुआ।

पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने पर जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण मिला। पूर्वी और पश्चिमी विचारधाराओं की टकराहट से जीवन के नवीन स्फुलिंग पैदा हुए। राजाराममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती सांस्कृतिक जागृति के अग्रदूत थे। एक ने पाश्चात्य विचारों के प्रति अत्यधिक उदार होते हुए भी भारतीय संस्कृति को ही अपने समाज की आधारशिला माना। दूसरा अपनी संस्कृति को सब-कुछ स्वीकार करते हुए भी जर्जर रूढ़ियों को सर्वदा तिरस्कृत करता रहा। नई शिक्षा से लोगों के संकीर्ण विचारों में परिवर्तन हुआ। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में आने से साहित्य में भी नवीन चेतना उत्पन्न हुई। सन् १८५७ के बाद से अंग्रेजी नीति में जो परिवर्तन घोषित किया गया जनता पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अंग्रेजों की प्रशंसा के गीत भी गाये गए। किन्तु अंग्रेजों की अर्थनीति बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। देशव्यापी अकाल तथा कर-भार से बोझिल जनता चिल्ला उठी। भारतेन्दु-युगीन संवेदनशील लेखकों, कवियों, नाटककारों आदि ने जनता की व्यथा को वाणी प्रदान की।

भारतेन्दु का उदय हिन्दी-साहित्य के लिए एक असाधारण घटना है। भारतेन्दु के सजग व्यक्तित्व ने जागरण के सभी तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। देश की आशा-आकांक्षाओं को नाटकों

के माध्यम से पहले-पहल उन्हीं ने प्रकट किया। पारसी थियेटर का शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण देश में सांस्कृतिक कुरुचि बढ़ा रहा था। उर्दू कविता की शोखी और बाजारू गानों से भरे पारसी नाटक पूँजीपतियों के लिए द्विगुणित लाभप्रद सिद्ध हुए। इन नाटकों से पारसी कम्पनियों के मालिकों को खूब लाभ हुआ। तात्कालिक जन-जागरण को, जो अन्ततोगत्वा उन मालिकों के हितों पर कुठाराघात करने वाला सिद्ध होता, एक प्रतिक्रियावादी अक्रियमाण दिशा की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया। भारतेन्दु पारसी कम्पनियों की इस प्रवृत्ति से पूर्ण अवगत थे। इसलिए जनता का रुचि-परिष्कार उनकी नाट्य-रचना का पहला लक्ष्य रहा।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में ऐकान्तिक प्रेम का निरूपण किया गया है तो किसी में समसामयिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण; कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त के आधार पर नाटक का ढाँचा खड़ा किया गया है तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। भारतेन्दु के पूर्व नाटकों के सीमित विषय की दीवारें टूट गईं और विषय-भूमि को पूरा विस्तार मिला। नीलदेवी और सती प्रताप में इतिहास और पुराण की वे उज्ज्वल गाथाएँ हैं जिनके आलोक में पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से विपथगामिनी आर्य ललनाएँ अपना मार्ग पहचान सकती हैं। यह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के विरोध में सांस्कृतिक जागरण का चिह्न है। कुछ लोग इसे जीवन के प्रति पलायनवादी रोमानी दृष्टि कहते हैं। वस्तुतः अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त चरित्रों से शक्ति संयम करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि यदि पाठक के चरित्र में इससे कुछ भी सुधार हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। शालग्राम का 'मोर ध्वज', भवदेव उपाध्याय का 'सुलोचना सती' आदि पौराणिक नाटक तथा राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' तथा श्री निवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', प्रतापनारायण मिश्र का 'हटी हमीर' आदि ऐतिहासिक नाटक मूलतः उद्बोधनात्मक हैं।

'प्रेम-जोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का संकेत किया है। इस काल के अन्य नाटककारों ने बहुत-सी तत्कालीन समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया, जैसे, बाल-विवाह, स्त्री-असहायता, गो-वध, पाश्चात्य आचार-नीति आदि। राधाकृष्णदास का दुखिनी बाला, प्रतापनारायण मिश्र का 'गो संकट' ऐसे ही नाटक हैं।

भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र-प्रेम की भावना जगाई। भारतेन्दु तथा इस काल के अन्य कवियों की कविताओं में राष्ट्र-प्रेम और शासक-प्रेम का जो विरोधाभास दिखाई पड़ता है वह नाटकों में भी उसी रूप में चित्रित हुआ है। 'भारत दुर्दशा' के प्रारम्भ में ही यह निवेदन कर दिया गया है—'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी।' इस बात से सभी लोग अवगत हैं कि सारा धन विदेश चला जा रहा है फिर भी उन्हें महारानी विक्टोरिया के न्याय और औचित्य पर विश्वास है। दूसरे अंक में भारत कहता है—'परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुन्द्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी?' पाँचवें अंक में कुछ लोग भारत-दुर्दशा से बचने की मन्त्रणा करते हैं। किन्तु डिसलायल्टी का भय उनकी योजनाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं होने देता। अन्त में भारत-भाग्य भी परमात्मा व राजराजेश्वरी की पुकार लगाकर विदा होता है; और भयानक निराशावादिता के साथ नाटक का पर्यवसान होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत-दुर्दशा नाटक' के आधार पर प्रेमघन जी ने 'भारत सौभाग्य'

नाटक लिखा। इसमें भारत नायक और बद् इकबालए-हिन्द प्रतिनायक है। अन्त में भारत अपने प्रतिनायक का आश्रय ग्रहण करने में ही अपना सौभाग्य समझता है। अँग्रेजों के सद्भाव की छलना भारतीय वातावरण को बहुत दिनों तक घेरे रही। भारतीय कांग्रेस में भी इस तरह के विश्वास के लोगों की कमी नहीं थी। इन नाटकों में देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था का भावात्मक चित्र उपस्थित किया गया है।

जीवन में व्यंग्य और विनोद का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। रात-दिन गुरु-गम्भीर कार्यों में लगे रहने के कारण विनोद और भी अधिक प्रिय मालूम पड़ता है। अच्छा प्रहसन व्यंग्य होता है। जीवन और समाज की असंगतियों की पकड़ के लिए जिसकी दृष्टि जितनी पैनी होगी वह उतना अच्छा प्रहसनकार होगा। भारतेन्दु की 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांस-मदिरों के तर्कों पर व्यंग्य है। 'अंधेर नगरी' एक अव्यवस्थित राज्य पर करारी चोट है। इनके काल में अन्य बहुत से प्रहसन लिखे गए—जैसे। बालकृष्ण भट्ट का शिक्षादान, प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक रूपक', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे'। इन परवर्ती लेखकों में भारतेन्दु-जैसी प्रतिभा का अभाव था। अतः इनके प्रहसन में वैसा तीखापन नहीं है। इस युग में अनुवादों की परम्परा भी चलती रही। इस सम्बन्ध में लाला सीताराम, रामकृष्ण वर्मा, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक बहुत कुछ संस्कृत नाटकों की पद्धति के अनुवर्ती हैं। संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नांदी-पाठ से होकर भरतवाक्य पर समाप्त होता है। इनके प्रारम्भिक नाटकों में यह पद्धति हू-ब-हू स्वीकार कर ली गई है। कुछ नाटकों में अंकावतार और विष्कंभक की योजना भी मिलेगी। चन्द्रावती में स्वगत का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं कथोपकथन भी लम्बे हो गए हैं। पारसी नाटक शैली का प्रभाव भी जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ता है। शैली की दृष्टि से इस पूरे काल में नाटकों का अपेक्षित विकास न हो सका। बालकृष्ण भट्ट, खड्गबहादुर मल्ल, राधाकृष्णदास आदि के नाटकों के कथानक अत्यन्त-शिथिल हैं। चरित्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं बन सकी। संस्कृत का स्वगत-भाषण और काव्यात्मक वातावरण भी बहुत-कुछ ज्यों-का-त्यों रह गया। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। हाँ जहाँ तक वस्तु-चयन की विविधता तथा सामान्य पात्रों के चुनाव का प्रश्न है इस काल के नाटक संस्कृत की घिसी-पिटी परिपाटी को काफी पीछे छोड़ चुके थे।

सुधारवादी युग

प्रवृत्ति की दृष्टि से विचार करने पर महावीरप्रसाद द्विवेदी का समय सुधारवादी युग कहा जा सकता है। आर्यसमाजी नैतिकता का प्रभाव तो द्विवेदीजी पर पड़ा ही था, राजनीति के क्षेत्र में भी महात्मा गांधी की सात्त्विकता और उच्च नैतिकता का स्वर जादू की तरह प्रभावशाली बन चुका था। इस युग के लेखकों ने वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से साहित्य में सुधार करने की चेष्टा की। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के लेखकों ने गद्य में काफी लिखा फिर भी गद्य की प्रतिमिति स्थिर न हो सकी। पद्य की भाषा के लिए खड़ी बोली और ब्रजभाषा में किसको ग्रहण किया जाय इसका अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया था। द्विवेदीजी तथा उनके अनुगामियों का सारा समय इन्हीं बातों के सुलझाने में लगा रहा। भाषा-संस्कार तथा खड़ी बोली के

निखार-परिष्कार के लिए इस युग का बड़ा महत्त्व है। सुधारवादियों से मौलिक उद्भावनाओं तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। वास्तव में द्विवेदीजी का महत्त्व इसी सुधार-परिष्कार के लिए है। नाटक के विकास को देखते हुए इस काल के पार्थक्य की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियाँ ही इस काल में चलती रहीं। केवल सुविधा की दृष्टि से ही इस काल को अलग कर दिया गया है।

भारतेन्दु युग की अपेक्षा इस काल में ऐतिहासिक नाटक संख्या में अधिक रचे गए। विषयों के चुनाव का विचार करने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि जीवन पर सात्विक प्रभाव छोड़ने वाले नायकों के ग्रहण पर विशेष दृष्टि रही है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने', मिश्रन बन्धु का 'शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। 'कर्बला' द्वारा प्रेमचन्दजी ने मुसलमानी संस्कृत पर सहानुभूति पूर्वक विचार करने का कदाचित् पहला प्रयास किया। सामाजिक नाटकों के लिए बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मुकद्दमेबाजी आदि विषय चुने गए। प्रहसन के लिए अब और व्यापक क्षेत्र मिला। नए वातावरण में बद्रीनाथ भट्ट ने नए विषयों का चुनाव किया। 'विवाह विज्ञापन' और 'मिस अमेरिका' ऐसे प्रहसनों में हैं। पहले में पाश्चात्य ढंग की कृत्रिम साज-सज्जा (मेकअप) और रूप पर व्यंग्य है। पति को जूते से पिटवा-कर लेखक अपने स्तर को काफी नीचे गिरा देता है। 'मिस अमेरिका' में प्रकारान्तर से रीतिकालीन अश्लील कविताओं पर व्यंग्य किया गया है। जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों का स्तर भी काफी नीचा है।

प्रसाद का आविर्भाव (विकास के विविध मार्ग)

भारतेन्दु के बाद प्रसाद-जैसी सर्वांगीण प्रतिभा का रचनात्मक व्यक्तित्व दूसरा नहीं उत्पन्न हुआ। नाटकों का उन्होंने नवीन शैली से शृङ्गार किया। किन्तु इस साज-सज्जा की औप-चारिकता के कारण वे नाटकों की नई दिशा के निर्देशक नहीं ठहराए जा सकते। अब तक के हिन्दी-नाटकों के पात्र लेखक के व्यक्तित्व की छाया-मात्र थे, परन्तु प्रसाद ने उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया। प्रसाद ने पात्रों के शील-निरूपण का जो प्रयास अपने नाटकों में किया हिन्दी के लिए वह एक अति महत्त्वपूर्ण बात थी। हिन्दी-नाटकों का बहुत अधिक विकास हो जाने पर भी शील-निरूपण के प्रथम पुरस्कर्ता होने के कारण उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा।

यद्यपि प्रसाद ने मुख्य रूप से ऐतिहासिक नाटक ही लिखे तथापि अन्य प्रकार के नाटकों का भी मार्ग-निर्देशन किया। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' पौराणिक नाटक है। 'ध्रुव स्वामिनी' ऐतिहासिक होते हुए भी मूलतः समस्या-नाटक है। 'कामना' अन्यापदेशिक नाटक है। 'एक घूँट' को कुछ आलोचकों ने हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है। गीतिनाट्य के क्षेत्र में भी वे ही अग्रणी ठहरते हैं। 'करुणालय' हिन्दी का पहला गीति-नाट्य है।

(क) ऐतिहासिक

"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक ज्ञात होता है।...क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।...मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश

में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।'' 'विशाख' की भूमिका में उपर्युक्त विचार प्रकट करके प्रसाद ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। उक्त कथन से हम तीन निष्कर्ष निकालते हैं—(१) ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे आदर्श को संघटित करने के लिए लाभदायक हैं अर्थात् वे साधन हैं साध्य नहीं; (२) जलवायु के अनुकूल होने के कारण हमारी सांस्कृतिक परम्परा के मेल में हैं और (३) उन परिस्थितियों के अंकन का प्रयत्न किया गया है जो हमें आज की स्थिति में ले आने के लिए उत्तरदायी हैं।

अपने नाटकों के लिए प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं की जो सीमाएँ तैयार कर ली हैं उनके मूल कारणों की विवेचना की जा चुकी है। इन सीमाओं में बँधे रहने के कारण उनकी कल्पना स्वच्छन्द विहार के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं पा सकी। फिर भी इतिहास की कड़ियाँ मिलाने के लिए उन्होंने स्वतन्त्र अनैतिहासिक पात्रों और घटनाओं की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। देवसेना, विजया, जयमाला, मन्दाकिनी आदि ऐसे ही पात्र हैं। भटार्क और अनन्त देवी का सम्बन्ध-स्थापन, तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सामीप्य ऐसी योजनाएँ हैं जिनका कोई ऐतिह्य प्रमाण नहीं है।

प्रसाद कोरे ऐतिहासिक नाटककार नहीं हैं। उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों पर भारतीय संस्कृति के प्रभावोत्पादक चित्रों को खूब उभारकर अंकित किया है। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रसाद सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद के समर्थक हैं। उनके तत्कालीन सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिए भी जीवन्त सन्देश हैं। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भी उनके नाटकों में पूरा-पूरा समावेश हुआ है। विभिन्न संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष तथा अवान्तर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए भी वे मूलवर्तिनी भारतीय सांस्कृतिक धारा को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ दिखाई पड़ते हैं।

भारतीय नाटकों में दुःखान्त नाटकों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रसाद ने भी इस परिपाटी का निर्वाह किया है। फलस्वरूप उनके नाटकों में आशावादिता का सन्देश सर्वत्र दिखाई पड़ेगा। नियतिवाद से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण वे आशावादिता को आधुनिक अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाए हैं। स्कन्दगुप्त में नियतिवाद अपने पूरे उत्कर्ष पर है। पूरे नाटक पर अवसाद की धुन्ध छाई दिखाई पड़ती है। फिर भी नाटक का पर्यवसान इस दृष्टि से आशामूलक है कि स्कन्द हूणों को पराजित तथा निष्कासित करने में सफल होता है।

प्रसाद ने चरित्र-निरूपण पर विशेष जोर देकर अब तक चली आती हुई रस-प्रधान नाट्य-धारा को एक जबरदस्त मोड़ दिया है। अनेक प्रकार की परिस्थितियों के बीच अपने पात्रों को खड़ा करके उन्होंने जिन अन्तर्द्वन्द्वों का विधान किया है वे आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल हैं। विरोधी विचार वाले पात्रों की सृष्टि से संघर्ष की योजना में अधिक सहायता मिली है। स्कन्दगुप्त, भटार्क, अजातशत्रु, बिंबसार भिन्न-भिन्न मनोदशाओं को व्यक्त करते हैं। चाणक्य का चरित्र प्रसाद की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। इतना सशक्त व्यक्तित्व, दृढ़ इच्छा-शक्ति, अदम्य उत्साह तथा प्राणवत्ता अन्यत्र नहीं मिलती। नारी-चरित्रों की अनेकविधि कल्पना के वे अद्भुत स्रष्टा थे।

संस्कृत नाटकों का काव्यात्मक वातावरण प्रसाद के नाटकों में भी पाया जाता है। प्रसाद

मूलतः कवि हैं। उनका कवि क्या नाटक क्या कहानी सर्वत्र विद्यमान रहता है। कवि की भावुकता ने उन्हें यथार्थवादी भूमि पर नहीं उतरने दिया। प्रसाद के अधिकांश पात्र भावुक हैं। यह भावुकता पात्रों के भाषणों तथा कार्य-पद्धतियों में भी पाई जाती है। नाटकों में यथार्थवादी शैली ले आने का कार्य लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया।

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के प्रतिनिधि नाटक अभिनेय नहीं हैं। घटना-विस्तार, लम्बे दार्शनिक भाषण, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत-कथन की अस्वाभाविकता आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो अभिनेता के मार्ग में भयानक बाधा उपस्थित करती हैं। सम्भवतः प्रसाद जी अपनी इन त्रुटियों से अवगत थे। इसीलिए ध्रुवस्वामिनी लिखते समय उन्होंने रंगमंच को पूरी तरह अपनी दृष्टि में रखा।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी', उग्र, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। गणना के लिए मिलिन्द का नाम भी जोड़ा जा सकता है। प्रेमी ने अपने नाटकों की कथा-वस्तु भारत के मध्यकालीन इतिहास से ग्रहण की है। अपने अभी-अभी प्रकाशित 'शपथ' में उन्होंने हूणकालीन कथावस्तु ली है। किन्तु प्रेमी की ख्याति उनके 'रक्षा-बन्धन' तथा 'शिवा-साधना' नाटकों पर ही आश्रित है। प्रेमी के नाटकों में हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य और सौहार्द की अभिव्यंजना बड़ी मार्मिक पद्धति पर हुई है। इसके लिए अनुकूल कथावस्तु का चुनाव तथा प्रतिपादन की स्वाभाविकता दोनों समान रूप से दायी हैं। प्रेमी ने प्रसाद की अलंकृति-शैली नहीं अपनाई है। प्रसंगानुकूल सम्वाद-योजना में प्रेमी काफी कुशल हैं। प्रसाद की भाँति दार्शनिकता के भार से इनके नाटक बोझिल नहीं हैं। नाटक के बाह्य पक्ष में प्रेमी ने प्रसाद की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता का आश्रय लिया है। किन्तु नाटक के आन्तरिक औदात्य और अन्तर्द्वन्द्व की जो गम्भीरता प्रसाद के नाटकों में है वह प्रेमी के नाटकों में कहीं भी नहीं आ पाई है। उग्र का 'महात्मा ईसा' रंगमंच की दृष्टि से सफल माना जा सकता है किन्तु इसकी ऐतिहासिकता त्रुटिपूर्ण है। उदयशंकर भट्ट का 'दाहर वा सिन्ध पतन' और 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। 'सिन्ध-पतन' नाटक में नाना प्रकार के अन्तर्विरोध दाहर के पतन के कारण बताए गए हैं। भट्ट जी के विचार से यह हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है, किन्तु भारतेन्दु की 'नील देवी' इस पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। गोविन्दवल्लभ पन्त के 'राजमुकुट' का सारा विन्यास बड़ी ऋजु पद्धति पर चला है। सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष' भी अच्छा ही नाटक है।

(ख) पौराणिक और सामाजिक

प्रसाद के पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ' का उल्लेख किया जा चुका है। इसमें महाभारत के महायुद्ध के पश्चात् परीक्षितकालीन कथानक लिया गया है। इसमें आर्यों-अनार्यों के आदर्शों और संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय का चित्र उपस्थित किया गया है। सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्ददास, उग्र और उदयशंकर भट्ट की कुछ कृतियाँ पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत आती हैं। सुदर्शन ने अपनी 'अंजना' में पौराणिक पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयास किया है। सम्भवतः ऐसा करने के लिए उन्हें बंगला के प्रख्यात नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय से प्रेरणा मिली है। गोविन्दवल्लभ पन्त की 'वरमाला' का कथानक मार्कंडेय पुराण से लिया गया है। सारे नाटक का वातावरण रोमानी है। कथोपकथन प्रसंगानुकूल तथा सरल है। रंगमंच की दृष्टि से यह बड़ा सफल नाटक है। उग्र का 'गंगा का

बेटा' नाटकीय दृष्टि से साधारण नाटक है। पौराणिक धारा के प्रतिनिधि लेखक उदयशंकर भट्ट हैं। 'अम्बा', 'सगर-विजय' इनके प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। 'अम्बा' में नारीत्व की चेतना का पूरा-पूरा आकलन हुआ है, 'सगर-विजय' राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित नाटक है। इन्होंने अपने पौराणिक पात्रों के भीतर नवयुग के सामाजिक संघर्षों को देखा है।

इस युग के पौराणिक नाटकों तथा भारतेन्दु-द्विवेदी युग के पौराणिक नाटकों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। भारतेन्दु-द्विवेदी युग के पौराणिक नाटकों में मौलिक उद्भावना की नितान्त कमी है। पौराणिक वातावरण को नवयुग के प्रकाश में देखने का प्रयास वहाँ नहीं मिलेगा। अति प्राकृत पौराणिक प्रसंगों, अतिरंजित घटनाओं और अयथार्थ दृश्य-विधानों से भरे नाटकों से दूर हटकर इस काल में उन्हें मानवीय धरातल पर देखने का प्रयास किया गया है। इसे आज की बौद्धिकता का आग्रह ही समझना चाहिए। अच्छे सामाजिक नाटकों का हिन्दी में अभाव-सा ही है। उग्र के 'चुम्बन' में अश्लीलता का काफी उभार है। गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' साधारण नाटक है। सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश', 'पाकिस्तान' उदयशंकर भट्ट का 'कमला', 'अन्तहीन अन्त' सामाजिक नाटक हैं।

(ग) अन्यापदेशिक नाटक

अन्यापदेशिक नाटकों को कुछ लोगों ने प्रतीकात्मक नाटक भी कहा है। किन्तु प्रतीक और अन्यापदेश के अर्थ में मौलिक अन्तर है। अन्यापदेश अंग्रेजी के एलोगेरी का समानार्थी है। अन्यापदेश तथा प्रतीक दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में धर्म अथवा प्रभाव का साम्य होता है। अन्यापदेश में कभी-कभी भाव या मनोवेग का मानवीकरण भर कर दिया जाता है, उसके स्थान पर प्रतीक का विधान नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'कामना' का उल्लेख किया जा सकता है। पन्त की 'ज्योत्स्ना' में प्रतीक-पद्धति अवश्य अपनाई गई है, किन्तु ये प्रतीक परम्परा-गृहीत प्रतीक नहीं हैं। अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से इस प्रकार के नाटकों को अन्यापदेश की कोटि में रखना अधिक समीचीन है।

इस कोटि में प्रसाद की 'कामना' और पन्त की 'ज्योत्स्ना' दो ही नाटक आते हैं। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' इस ढंग का बड़ा प्रसिद्ध नाटक लिखा जा चुका है। प्रसाद की 'कामना' में 'सन्तोष', 'विनोद', 'कामना' आदि मनोभाव मानवी क्रिया-कलापों द्वारा उक्त भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। इसमें स्वर्ण और मदिरा के प्रचार द्वारा तारा की भोली सन्तानों में विलास, प्रवंचना, उच्छृंखला आदि का बीज-वपन किया जाता है। इसका फल यह होता है कि उन सन्तानों के देश की सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है। विदेशी संस्कृति की कुरीतियों से आक्रान्त भारतीय-संस्कृति की रक्षा ही इस नाटक का मुख्य ध्येय है। 'कामना' की अपेक्षा 'ज्योत्स्ना' की विचार-भूमि व्यापक है। 'ज्योत्स्ना' द्वारा इस संसार में स्वर्ग उतारने की बात कही गई है। 'कामना' की अपेक्षा इसका नाटकीय ढाँचा शिथिल है।

(घ) समस्या-नाटक

यूरोप में नाटकों के क्षेत्र में इब्सन का आविर्भाव एक नई दिशा का सूचक है। १९वीं शती के उत्तरार्ध में उसने नाटकों के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति उपस्थित कि शेक्सपियर के प्रभाव के स्थान पर एक बौद्धिक चेतना का उदय हुआ। उससे प्रेरणा ग्रहण करके शा ने समाज की पिटी परम्पराओं तथा सुदृढ़ रोमानी कल्पनाओं पर प्रबल कशाघात किया। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण

मिश्र ने अनेक समस्या-नाटक लिखे। इस धारा के ये ही प्रतिनिधि लेखक हैं। शा की तल-स्पर्शनी दृष्टि, प्रतिपादन का ढंग, निर्मम व्यंग्य लक्ष्मीनारायण जी में नहीं है। शा ने परम्परा-मुक्त चरित्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उनके स्थान पर रोमांस-हीन वास्तविक चरित्रों की प्रतिष्ठा की। इब्सन का मंच-निर्देशन, विल्डे की कथोपकथन-कुशलता दोनों का समावेश शा के नाटकों में हुआ है। कथोपकथन में स्वभाविकता और वाग्-वैदग्ध्य ले आने की कला उसने प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक हेनरी स्वीट से सीखी। मिश्र जी शा की तरह किसी परम्परा (कन्वेन्शन) पर चोट नहीं करते। उन्होंने प्रायः नारी की चिरन्तन समस्या ली है, जो आज की अति महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं कही जा सकती। जिस बौद्धिक स्तर (इंटलेक्चुवल स्टैंड) की अपेक्षा समस्या-नाटकों में की जाती है, वह मिश्र जी में नहीं। भूमिकाओं में 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' बार-बार स्पष्ट करने पर भी वे उस सीमा तक बुद्धिवादी नहीं हैं। इस अनवरत स्पष्टीकरण का मनोवैज्ञानिक अर्थ कुछ दूसरा ही है। फिर भी समस्या-नाटकों के क्षेत्र में मिश्र जी का ऐतिहासिक महत्त्व सुरक्षित रहेगा। यह भी सच है कि प्रसाद के बाद ये दूसरी प्रतिभा हैं।

शैली के क्षेत्र में इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। शा आदि के नाटकों की भाँति इनके नाटकों में भी तीन ही अंक होते हैं। गीत प्रायः नहीं होते, सभी घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित होती हैं। आवश्यकतानुसार गीतों का विधान भी इन्होंने किया है, जैसे 'संन्यासी' की किरणमयी। संवादों में नाटकीय स्फूर्ति, लघुता और तीव्रता की ओर ध्यान दिया गया है। हिन्दी के पिछले नाटकों में इन बातों का अभाव है। संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली और आधी रात इनके समस्या-नाटक हैं। हिन्दी के कुछ और लेखक अपने नाटकों पर 'समस्या-नाटक' का लेबुल चिपकाए हुए दिखाई पड़ते हैं।

(ङ) गीति-नाट्य

अमानत की 'इन्दर सभा' को छोड़ दिया जाय तो प्रसाद का 'करुणालय' ही हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य ठहरता है। 'करुणालय' को गीति-नाट्य का ढाँचा-मात्र मानना चाहिए। इसमें नाट्य-तत्त्व नगण्य है। आधुनिक अर्थ में निराला का 'पंचवटी-प्रसंग' हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य है। वास्तव में 'पंचवटी-प्रसंग' की रचना हिन्दी में भद्दे कथोपकथन को दूर करने के लक्ष्य से ही की गई। कथोपकथन की स्वाभाविकता, नाटकीय कार्य तथा शील-वैचित्र्य सभी दृष्टियों से वह श्रेष्ठ गीति-नाट्य है। उदयशंकर भट्ट ने बहुत से पौराणिक प्रसंगों के आधार पर सुन्दर गीति-नाट्य लिखे हैं। 'विश्वामित्र', 'मत्स्य गन्धा' तथा 'राधा' उनके प्रसिद्ध गीति-नाट्य हैं। भट्ट जी बड़े सचेत कलाकार हैं। पौराणिक पात्रों के सहारे आज की विविध समस्याओं का निर्देश उनकी अपनी विशेषता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के विधान में भी वे निपुण हैं। कवि होने के कारण उनमें काव्यत्व भी यथेष्ट मात्रा में है। भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' भी एक एकांकी-गीति-नाट्य हैं।

इधर पन्त जी के गीति-नाट्यों का एक संग्रह 'रजत शिखर' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में छः गीति-नाट्य हैं। ये अपने संक्षिप्त रूप में रेडियो से प्रसारित भी हो चुके हैं। इसमें नाटकीय प्रवाह तथा वैचित्र्य ले आने के लिए यति का क्रम गति के अनुरूप परिवर्तित कर दिया गया है। आलाप का भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। सभी नाट्य प्रतीकात्मक हैं। इनमें मानव-मन के ऊर्ध्व और समतल के सामंजस्य, आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय,

विश्व मानवतावाद आदि का सन्देश है। जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, इस संग्रह में कोई नवीनता नहीं है। नई बोतल में पुरानी शराब ढाली गई है।

(च) एकांकी

प्रसाद के 'एक घूँट' के बाद भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में एक नया प्रयोग था। 'कारवाँ' संग्रह की वस्तु तथा शैली, दोनों पर पाश्चात्य विचार-धारा की स्पष्ट छाप है। लेखक शा और इब्सन के विश्वासों तथा कला-रूपों से अत्यधिक प्रभावित ज्ञात होता है। समाज के रूढ़ वैवाहिक विश्वासों का उच्छेदन कारवाँ का प्रतिपाद्य है। भारतीय नैतिक मूल्यों की उपयोगिता पर विचार न करके विदेशी मूल्यों के चलन का आग्रह बौद्धिक दासता या शुद्ध प्रतिक्रिया का द्योतक है।

डॉ० रामकुमार वर्मा एकांकी नाटक के जन्मदाताओं में से हैं। वर्मा जी भारतीय आदर्शों में विश्वास रखते हैं। त्याग, दया, करुणा आदि सात्विक मनोवृत्तियों का सन्निवेश उनके नाटकों में हुआ है। वर्मा जी ने प्रायः सामाजिक और ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं। इनके मध्यवर्गीय पात्र सुशिक्षित और सुसंस्कृत नागरिक हैं। पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्तकिरण, रूप-रंग इनके एकांकी नाटकों के संग्रह हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने जिस तरह अपने नाटकों के लिए मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं का सहारा लिया है उसी तरह एकांकी के लिए उसी काल की घटनाओं के मर्मस्पर्शी लघु सूत्रों को ग्रहण किया है। मध्यकालीन राजपूती शौर्य, आत्माभिमान, आन-बान का चित्र अंकित करने में इन्हें कमाल हासिल है।

सेठ गोविन्ददास ने संख्या की दृष्टि से बहुत से नाटक लिखे हैं। गांधीवादी होने के कारण इनके नाटकों में गांधीवादी विचार-धारा सर्वत्र मिलेगी। समस्याओं की व्याख्या तथा उनका स्थूल हल ढूढ़ निकालने की सतर्कता उनमें सर्वत्र पाई जाती है, पर अनुभूति की तीव्रता तथा व्यंजकता का प्रायः अभाव है। सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा, एकादशी आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं।

उदयशंकर भट्ट ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। उनकी दृष्टि में नाटकों में रस-संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का होना भी परमावश्यक है। उच्च और मध्यवर्ग की जीवन-विडम्बनाओं को चित्रित करके उन पर गहरी चोट करना इनकी प्रमुख विशेषता है। समस्या का अन्त, चार एकांकी आदि इनके एकांकी-संग्रह है।

उपेन्द्रनाथ अश्क आज के प्रमुख एकांकी नाटककारों में हैं। इन्होंने प्रायः मध्यवर्गीय जीवन की समस्याएँ ली हैं। इनके पात्र जाने-पहचाने लगते हैं। पारिवारिक जीवन-समस्याओं के भीतर बैठकर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में ये सिद्ध कलाकार हैं। अश्क के सामाजिक व्यंग्य काफी तीखे हैं। देवताओं की छाया में, तूफान के पहले, चरवाहे आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं।

उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। रंगमंच और प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नये नाटककारों में विष्णु प्रभाकर ने भी नवीन सामाजिक दृष्टि से अच्छे एकांकी लिखे हैं। रेडियो-स्टेशनों पर प्रसारित करने के लिए एकांकियों की माँग के कारण लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा और वृन्दावनलाल वर्मा भी इस क्षेत्र में आए। रेडियो

की माँग के कारण एकांकियों के ध्वनि-रूपक और ध्वनि-नाटक दो भेद भी हमारे सामने आये। इनमें रंगमंच का कार्य ध्वनि से लिया जाता है। ध्वनि-रूपक में बहुत-सा विवरण सूत्रधार या नैरेटर के माध्यम से दिया जाता है। ध्वनि-नाटक में सूत्रधार नहीं होता, श्रोता अभिनय की कल्पना भर करते हैं।

विजयशंकर मल्ल

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य : एक सर्वेक्षण

हिन्दी में निबन्ध का जन्म उस समय हुआ जब भारतीय समाज में एक नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। ये निबन्ध उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और प्रायः उनके सम्पादक ही लेखक भी होते थे। उस समय की पत्रिकाओं में साधारण विषयों, सामयिक आन्दोलनों और कभी-कभी स्थानीय समाचारों की भी चर्चा रहती थी। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं के साथ जिस साहित्य-रूप का जन्म का साथ हो उसके स्वभाव में पत्रकारिता की विशेषताओं की झलक आ जाना स्वाभाविक ही है। विषय का वैविध्य, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता, शैली की रोचकता और गाम्भीर्य, गौरव का अभाव आदि आरम्भिक निबन्धों के कुछ ऐसे ही गुण हैं जो पत्रकारिता से अधिक सम्बद्ध हैं। आरम्भिक निबन्धों के स्वरूप-निर्धारण में दूसरा हेतु है तत्कालीन लेखकों का अनेकमुखी सामाजिक व्यक्तित्व। इन लेखकों को अपने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट भी बनाना था, सामाजिक सुधार भी करना था, नाट्य-कला की ओर भी ध्यान देना था, शिक्षा-प्रसार की आवश्यकता भी बतलानी थी और राजनीतिक गतिविधि का निरीक्षण करके जनता को जागरूक भी बनाना था। इन सब कार्यों में लेखक रूप में इनका सबसे अच्छा सहायक निबन्ध ही हो सकता था। सर्वाधिक सहायता निबन्ध से इन्होंने ली भी। खूब निबन्ध लिखे गए और इसीलिए भारतेन्दु युग के साहित्य का सबसे उन्नत अंग शायद निबन्ध ही है।

भारतेन्दु से कुछ पहले का लिखा निबन्ध 'राजा भोज का सपना' प्रसिद्ध है, जिसमें मनुष्य के झूठे अहंकार और कीर्ति-लिप्सा का रोचक ढंग से उद्घाटन किया गया है पर हिन्दी में निबन्धों की परम्परा चलाने वाले भारतेन्दु ही हैं।

निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है इसलिए सामाजिक परिस्थितियों का जैसा सीधा और स्पष्ट प्रभाव निबन्धों पर दिखाई देता है वैसा अन्य साहित्य-रूपों पर नहीं। निबन्धकार बाह्य जगत् से प्राप्त अपनी संवेदनाओं को शीघ्र ही, कम-से-कम परिवर्तित रूप में, यथासम्भव अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से अपनी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका और पाठक का इतना सीधा सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नहीं मिलता। अवश्य ही यह बात नैसर्गिक निबन्ध-लेखक के लिए कही जा रही है। साहित्य के अन्य रचना-प्रकारों के माध्यम से अपनी संवेदनाओं को प्रेषित करने के लिए जितने कलात्मक विधि-निषेधों का ध्यान रखना होता है उतने बन्धनों को मानने की जरूरत निबन्ध में नहीं होती। इसका शरीर बहुत लचीला है और लेखक की सुविधानुसार बराबर मुड़ जाता है, इससिए उन्नीसवीं सदी का भारत भारतेन्दु-युग के निबन्धों में अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है।

इस काल के निबन्धों के विषय जीवन के अनेक क्षेत्रों से लिये गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ तथा गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर लेखकों ने लिखा है। उनमें चिन्तन-मनन की गहराई का अभाव चाहे मिले पर उनकी सामाजिक चेतना व्यापक थी। उनके निबन्धों में जो सजीवता और जिन्दादिली मिलती है वह आगे चलकर दुर्लभ हो गई। समयानुकूल विविध विषयों पर बिना किसी पूर्वग्रह के, स्वच्छन्द होकर वे लोग आत्मीयता के साथ अपना हृदय पाठक के सामने खोल देते थे। वे बिना किसी संकोच के विदेशी शासकों या शोषकों को डाट-फटकार सकते थे तो अपने यहाँ के पण्डित-मुल्ला और पुराने शास्त्रकारों तक को उनकी कठहुज्जती पर बुरा-भला कह सकते थे। उन्होंने एक ओर आतुर या प्रवाह-पतित परिवर्तनवादियों और अंग्रेजी सभ्यता के गुलामों की खबर ली है तो दूसरी ओर नूतनता-भीरु रूढ़िवादियों की भी भर्त्सना की है। हिन्दी के इन आरम्भिक निबन्धों का रूप, प्रवृत्ति के विचार से, जातीय या राष्ट्रीय है। सच है कि उन निबन्धकारों ने जो कुछ लिखा वह उस समय अधिक लोगों तक नहीं पहुँच पाता था। क्योंकि उनकी रचनाओं के प्रकाशन और प्रचार के साधन सीमित थे, पढ़े-लिखे लोगों में अंग्रेजी के सामने हिन्दी का उतना आदर न था पर उनकी दृष्टि बराबर पूरे समाज पर रही और उन्होंने जनसाधारण के लिए लिखा। वे सारी समस्याएँ जिन पर उनकी लेखनी चली है, गिने-चुने लोगों की समस्याएँ नहीं हैं बल्कि जनता की हैं।

इस युग में गद्य-शैली निर्माण के वैयक्तिक प्रयास हुए। भाषा की दृष्टि से तत्कालीन लेखकों में सामूहिक भाव (कारपोरेट सेंस) नहीं पाया जाता—ऐसा होना उस समय सम्भव भी नहीं था। पर प्रान्तीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों से प्राणवान उनकी भाषा जनता की व्यावहारिक भाषा है। गद्य का कोई एक सर्वस्वीकृत रूप न होने से उनकी भाषा शिष्ट 'सार्वजनिक रूप' नहीं पा सकी थी, पर उसे समझ लेने में किसी हिन्दी-भाषा-भाषी को कठिनाई न थी। इसलिए भाषा की दृष्टि से भी उन लेखकों की रचनाओं को एक खास वर्ग या गोष्ठी का साहित्य नहीं कहा जा सकता।

अंग्रेजी में निबन्ध के पर्याय 'ऐसे' का अर्थ है प्रयास। भारतेन्दु युग के निबन्ध सचमुच प्रयास ही हैं। उनमें न बुद्धि-वैभव है न पाण्डित्य-प्रदर्शन और न ग्रन्थ-ज्ञान-ज्ञापन। उन लेखकों की रुचि सभी विषयों में हैं पर किसी भी विषय में वे अन्तिम बात नहीं कहते, बल्कि पाठक के साथ सोचना-विचारना चाहते हैं। उनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बे-तकल्लुफी है कि पाठक भी उनसे घुल-मिल जाना चाहता है।

प्राथमिक प्रयास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निबन्ध प्राथमिक प्रयास हैं जिनमें सच्चे निबन्ध के आवश्यक गुण वर्तमान हैं। उन्होंने राजनीतिक, समाजिक और अन्य सांस्कृतिक विषयों पर अनेक पक्षों से निबन्ध लिखे हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने धर्म-सम्बन्धी 'बाह्य आग्रहों' और 'श्रद्धाजाड्य' का घोर विरोध किया है। उनके विचार से 'बाह्य व्यवहार और आडम्बर में न्यूनता' और 'एकता की भावना की वृद्धि' द्वारा ही देश और समाज की उन्नति सम्भव है। 'मेंहदावल' हरिद्वार' 'वैद्यनाथ की यात्रा' जैसे निबन्धों में लेखक की निरीक्षण-शक्ति और वर्णन-क्षमता दर्शनीय है। स्थिर और गत्यात्मक-दृश्यों के उन्होंने सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। प्राकृतिक दृश्यों के ब्योरेवार चित्र उपस्थित करते समय जगह-जगह उनका भावोल्लास देखने ही योग्य है। इन यात्रा-सम्बन्धी

निबन्धों में भारतेन्दु की दृष्टि विभिन्न स्थानों के रीति-रिवाज, सरकारी नौकरों की धाँधली, रेलों की अव्यवस्था, सामाजिक अवनति आदि अनेक बातों की ओर गई है। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि आलोचना की सामग्री और व्यंग्य के लक्ष्य उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिल जाते थे अतः उनके सभी प्रकार के निबन्धों में व्यंग्य के छींटे अक्सर मिल जाते हैं। अपने व्यंग्यात्मक निबन्धों के लिए भारतेन्दु ने विलक्षण ढंग अपनाए हैं। कभी स्वप्न-चर्चा करते हैं, कभी स्तोत्र लिखते हैं, कभी नाटकीय दृश्य की भूमिका बाँधते हैं, कभी स्वर्ग में सभा की योजना करते हैं और कभी दूसरे उपाय काम में लाते हैं।

विषय और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के निबन्धों में पूरा वैविध्य है। इस क्षेत्र में इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग व्यंग्य की प्रभावात्मकता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। स्तोत्रों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धान और अतिशयोक्ति के द्वारा खूब चमत्कार आ गया है।

श्रेष्ठतर प्रयास

भारतेन्दु के बाद श्री बालकृष्ण भट्ट और श्री प्रतापनारायण मिश्र के द्वारा निबन्धों का अच्छा विकास हुआ। पं० प्रतापनारायण केवल प्रतिभा के जोर से लेखक बन बैठे थे। संस्कृत कला-रूप और मर्यादा आदि का विशेष ध्यान रखने वाले जीव ये न थे। इनके स्वभाव में जो मस्ती और मनमौजीपन है वह किसी दूसरे गद्य लेखक में नहीं मिलता। विनोद-रसिक प्रतापनारायण मिश्र की लेखनी पूर्ण स्वच्छन्द होकर चलती है इसीलिए उनकी भाषा में अकृत्रिम प्रवाह और सजीवता भी है और यत्र-तत्र ग्रामीणता की झलक भी। कहावतें और मुहावरे भी हैं और अनुप्रास तथा श्लेष का चमत्कार भी। अपनी बे-तकल्लुफी के कारण ये पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। यदि निबन्ध की सच्ची परख उसकी बाहरी रूपरेखा से नहीं, उसकी अन्तरात्मा से होती है तो भारतेन्दु की मनमौजी स्वच्छन्द प्रकृति को अपनाकर अपनी व्यंग्य-विनोदमयी शैली में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने जो निबन्ध लिखे हैं उनमें से अनेक का साहित्य की दृष्टि से ऊँचा स्थान है। उनके अधिक निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ हैं। निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा नियन्त्रित नहीं करता बल्कि उनकी विचार-धारा विषय पर नियन्त्रण रखती है। विषय जो जी में आया ले लिया फिर उसके माध्यम से रोचक ढंग से अपनी बातें कह दीं। 'दाँत' और 'भौं' ऐसे विषयों पर निबन्ध लिखते हुए देश-सेवा, समाज की उन्नति, विलायत-यात्रा, स्वधर्म और स्वभाषा-प्रेम आदि अनेक विषयों की चर्चा करते चलते थे। 'ट' को शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुआ देखना और 'टी' का अधिक प्रयोग करने वाले अँगरेजों की खबर लेना पं० प्रतापनारायण की ही सूझ थी।

'ब्राह्मण' के शब्दों में 'हिन्दी-प्रदीप' उसका 'श्रेष्ठ सहयोगी' है। सचमुच पं० बालकृष्ण भट्ट पं० प्रतापनारायण मिश्र के श्रेष्ठ सहयोगी हैं। मार्च सन् १६०० के 'प्रदीप' में भट्टजी ने नव-प्रकाशित 'सरस्वती' की गम्भीरता या नीरसता की आलोचना करते हुए लिखा था कि 'सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या।' पर स्वयं इनके लेखों में विनोदमयता, गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढंग से कहने की शैली-मात्र है। भट्ट जी विद्वान् थे, पं० प्रतापनारायण की तरह 'आप' की व्युत्पत्ति 'आप्त' से नहीं निकाल सकते, ग्रामीणता भी नहीं दिखा सकते, पर पाठक से आत्मीय ढंग से बात जरूर

करना चाहते हैं। भारतेन्दु की विचारात्मक या व्याख्यात्मक शैली को उन्होंने विकसित किया। कहीं-कहीं उनके निबन्धों में सुन्दर भावात्मक शैली भी मिलती है।

भट्ट जी एक प्रगतिशील विचारक हैं—अपने ही समय के हिसाब से नहीं, आजकल के हिसाब से भी। प्राचीन शास्त्रों में उनकी अन्धश्रद्धा कभी नहीं रही। समय के अनुसार वे स्वयं विचार करते हैं और प्रत्येक स्थिति में ग्रन्थ-प्रामाण्य को ही नहीं स्वीकार करते। 'स्त्रियाँ' शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों को समाज में नीचा स्थान देने के लिए उन्होंने मनु को बुरा-भला कहा है। पश्चिमी सभ्यता की आँधी में देश के नवयुवक बह न जाँय इसके लिए 'परम्परा'-निर्वाह का समर्थन करते हैं पर 'संसार कभी एक-सा न रहा' में बतलाते हैं कि हमारे समाज की अवनति का मूल कारण हमारी परिवर्तन-विमुखता है। उनके विचार से 'निरे राम-राम जपने वाले भोंदू दास' हैं। जनता में राजनीतिक जागरूकता का अभाव उन्हें बहुत खटकता था और कई निबन्धों में इसकी चर्चा उन्होंने की है। भेद-बुद्धि, स्वार्थपरता, शुष्क परमार्थ-चिन्तन, मिथ्याचरण, आडम्बर और बाहरी ढकोसलों से भट्ट जी को बहुत चिढ़ थी। उस जमाने में संतति-नियमन को वे जरूरी समझते थे। समाज की उन छोटी-से-छोटी प्रवृत्तियों पर उनकी दृष्टि रहती थी जिनका लगाव उनकी समझ से देश की उन्नति-अवनति से था। नामकरण के विषय में एक लेख लिखकर उन्होंने 'दीन', 'दास'-जैसे शब्दों वाले नामों पर बड़ा रोष प्रकट किया है, क्योंकि इनमें दीनता और गुलामी की भावना लिपटी है।

भट्ट जी ने बहुत से शुद्ध विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं, अधिकांश विनोदपूर्ण रचनाओं में भी उनकी प्रकृत गम्भीरता स्पष्ट झलकती है पर इनके कई निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें करीब-करीब पं० प्रतापनारायण मिश्र की-सी स्वच्छन्दता है लेकिन ग्रामीणता नहीं। 'हिन्दी-प्रदीप' में इनके निबन्धों या लेखों के कुछ ऐसे शीर्षक भी मिलते हैं—'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर' 'माँगबो भलो न बाप से जो बिधि राखै टेक' 'जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या। बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।' इनके निबन्ध साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक आदि अनेक विषयों पर लिखे गए हैं। शैली के भी विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि कई रूप मिलते हैं। निबन्धों के रूप-विन्यास की दृष्टि से भी जैसी अनेकरूपता भट्ट जी के निबन्धों में मिलती है वैसी हिन्दी के किसी नये-पुराने निबन्धकार की रचनाओं में नहीं पाई जाती। 'बातचीत', 'खटका', 'जबान', 'ल' आदि निबन्धों में लेखक का मनोरंजक व्यक्तित्व अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। भट्ट जी के विचारात्मक निबन्ध तर्कपुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गए हैं। कहीं-कहीं तो ये निबन्धों का, बिना किसी भूमिका के, ऐसी गम्भीरता के साथ आरम्भ करते हैं कि आचार्य शुक्ल का स्मरण हो आता है। 'कौतुक' का आरम्भ देखिए—'जिस बात को देख या सुन चित्त चमत्कृत हो सब ओर से खिंच सहसा उस देखी या सुनी बात की ओर झुक पड़े वह कौतुक है।' पर इस शैली का न तो आद्यंत निर्वाह हो पाता है और न अन्तःप्रयास से निकली विचार-धारा का क्रमबद्ध उद्घाटन ही मिलता है। यह कार्य शुक्ल जी द्वारा आगे चलकर पूरा होने वाला था।

उर्दू के क्षेत्र से आए श्री बालमुकुन्द गुप्त ने गम्भीर गद्य को माँजकर प्रांजल बनाया और व्यंग्य को शालीनता सिखाकर उसे अधिक सांकेतिक और व्यंजक बनाया। श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने लिखा है कि 'प्रेमघन' जी 'हिन्दी बंगवासी' को 'भाषा गढ़ने की टकसाल बतलाते

थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुन्द गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था। गद्य-शैली की परम्परा के प्रवर्तन में गुप्त जी की सहायता का महत्त्व आँकना हम प्रायः भूल जाते हैं। किसी भी गद्य-शैली का सर्व-स्वीकृत रूप तब सामने आता है जब भाषा की गठन और शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना होती है, व्याकरण पर विचार होता है। इस कार्य का आरम्भ करने में गुप्त जी ने गम्भीर अनुभव और योग्यता के साथ योग दिया। और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अभूतपूर्व क्षमता के साथ उसे पूरा किया।

गुप्त जी की युगानुकूल सजगता राजनीतिक विचार के क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है। अतीत गौरव की भावना, जो तत्कालीन लेखकों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, इनमें भी पाई जाती है। भारतीयों के कुचले हुए सम्मान को जिलाए रखने और उनमें नया उत्साह भरने के लिए यह आवश्यक भी था। उन्होंने कई जीवन-चरित, तथा हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में लेख लिखे हैं पर निबन्ध-लेखक के रूप में उनकी प्रसिद्धि का आधार मुख्यतः उनकी व्यंग्यात्मक गद्य-रचनाएँ 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' हैं। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण या व्यंग्यात्मक ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुःख अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से संयत रूप में व्यक्त करना उनकी अपनी विशेषता है। 'व्यक्ति' को 'व्यक्ति' द्वारा संबोधित करके लिखे जाने के कारण इन रचनाओं में एक तरह की नाटकीयता आ गई है और कहीं-कहीं भाषण शैली का-सा ओज और प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु युग के लेखकों में से श्री ज्वालाप्रसाद, श्री तोताराम और श्री राधाचरण गोस्वामी ने भी छिटफुट निबन्ध लिखे। पं० अम्बिकादत्त व्यास के साधारण लेखों का भी उल्लेख किया जा सकता है। 'कलम की कारीगरी' दिखाने वाले पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने निबन्ध नहीं टिप्पणियाँ और साधारण लेख लिखे हैं। 'आनन्द-कादंबिनी' में प्रकाशित 'मसहरी' 'हमारी दिनचर्या' 'फाल्गुन' आदि कुछ रोचक निबन्ध प्रेमघनजी के नहीं उनके अनुज उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्मा के लिखे हुए हैं जो उस पत्रिका में बराबर लिखते थे।

× × × ×

बीसवीं सदी के आरम्भ तक अँग्रेजी राज पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ गई। हिन्दी के लेखक 'सामाजिक मनुष्य' की ओर विशेष ध्यान देने लगे। ऐसे व्यक्ति की ओर उनकी दृष्टि गई जो सामाजिक गुणों से युक्त हो। इसलिए हिन्दी-निबन्धों के विकास के दूसरे युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गए।

निबन्धों में पत्रकारिता की स्वच्छन्दता कम हो गई। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ने के साथ ही साप्ताहिक, दैनिक और मासिक पत्रों के बीच की दूरी बढ़ती गई। जिन मासिकों में निबन्ध छपते थे उन्होंने अपनी मुद्रा गम्भीर कर ली। निबन्धकार धीरे-धीरे शिक्षित और 'शिष्ट' समाज के अधिक समीप आता गया। उसकी प्रकृति में एक तरह का अभिजात्य आ गया। द्विवेदीजी ने निबन्ध-लेखकों को संस्कृत ढंग से, शिष्टतापूर्वक बात कहने का ढंग सिखाया—विशेषतः राजनीतिक जबकि राजनीति क्रमशः उग्र रूप धारण करती जा रही थी। राजनीतिक चर्चा करने और तत्सम्बन्धी जोशीला साहित्य छापने का काम अधिकतर साप्ताहिकों को मिल गया।

निबन्ध प्रायः गम्भीर विषयों पर लिखा जाने लगा। रूप-रंग भी उसका गम्भीर हो गया। भारतेन्दु युग का-सा उसका सार्वजनिक रूप नहीं रहा। वह अधिकतर शिष्ट-समाज की वस्तु होता

गया। उसमें समूचे समाज की मनोवृत्ति या भावना का प्रतिबिम्ब कम होता गया, वह पढ़े-लिखे समाज के अधिक निकट आने लगा। आगे छायावाद-काल में आकर तो अनेक ऐसे निबन्ध सामने आए जिनमें व्यक्ति की भावनाएँ अधिक स्पष्ट और मोहक रंगों में चमकने लगीं। भावात्मक निबन्ध ऐसे ही हैं। कुछ व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध भी बहुत-कुछ ऐसे ही हैं।

भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नए रूप में इस समय उपस्थित हुआ। भाषा में एकरूपता लाने और उसे समृद्ध बनाने में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लगे हुए थे। भाषा के साथ ही विचारों को शालीन बनाने का काम अपने-आप होता गया। निबन्ध बौद्धिक अधिक हो गए, उनकी हार्दिकता कम हो गई। द्विवेदीजी के द्वारा या उनके प्रभाव में लिखे गए निबन्ध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन हो गए। विषय-वैभिन्य के कारण भाषा समृद्ध हुई, इसमें सन्देह नहीं लेकिन निबन्ध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन-मात्र नहीं हैं। इस युग के लेखकों ने अपनी इसी प्रकृति के कारण दूसरी भाषा के निबन्धकारों की ओर देखा भी तो अंग्रेजी के बेकन और मराठी के चिपलूणकर के निबन्धों की ओर दृष्टि गई और उनके अनुवाद भी प्रस्तुत हुए पर बेकन के निबन्धों में विचार-सम्बन्धी जो गम्भीर वैयक्तिक प्रयास है उसे ये लोग नहीं अपना पाए। द्विवेदी युग में साहित्य से अधिक नैतिक आदर्शों का ध्यान रखा जाने लगा।

ज्ञान-राशि का संचित कोश और 'बातों के संग्रह'

द्विवेदीजी ने लिखा है कि साहित्य ज्ञानराशि-का संचित कोश है। उनके 'साहित्य की महत्ता' 'कवि और कविता' 'कवि-कर्त्तव्य' 'प्रतिभा' 'नाटक' 'उपन्यास'-जैसे निबन्ध ज्ञान के संचित भांडार ही हैं। उनके अधिक लेख या टिप्पणियाँ सरल और सुबोध शैली में पाठकों को विविध विषयों की जानकारी कराने के उद्देश्य से लिखी हुई रचनाएँ हैं।

द्विवेदी जी ने थोड़े से ऐसे निबन्ध भी लिखे हैं जिनमें उनकी शैली की रोचकता, स्वच्छन्द मनोदशा और थोड़ी आत्मीयता के दर्शन होते हैं। 'दण्डदेव का आत्मनिवेदन', 'नल का दुस्तर दूत-कार्य', 'कालिदास का भारत', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' आदि कुछ निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इन निबन्धों में अर्जित ज्ञान ही है पर उसे अपना बनाकर आत्मीय ढंग से प्रकट करने और अक्सर एक रमणीय वातावरण उपस्थित करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है।

बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु और श्री गुलाबराय आदि निबन्धकार भी इसी श्रेणी में आते हैं, यद्यपि इनका स्वतन्त्र विकास हुआ। द्विवेदी जी ने, पेशे से अध्यापक न होते हुए भी अपने अधिक निबन्धों या लेखों द्वारा शिक्षक का कार्य किया तो बाबू साहब ने अध्यापक पद से, एक विद्वान् शिक्षक की भाँति व्यवस्थित ढङ्ग से विशेषतः साहित्यिक विषयों, जैसे 'समाज और साहित्य' 'कला का विवेचन' आदि, पर कुछ निबन्ध लिखे। इन लेखों में एक अध्यापक का 'पाण्डित्यपूर्ण ओज' है, अर्जित ज्ञान का गांभीर्य है, पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से कोई रचना उच्च कोटि का निबन्ध कहलाती है।

मिश्रबन्धुओं के निबन्ध संख्या में काफी हैं पर उनका महत्त्व भी शिक्षा-मूलक ही है। श्री गुलाबराय के 'समाज और कर्त्तव्य-पालन'-जैसे निबन्ध एक तर्कशास्त्री के लिखे प्रबन्ध हैं, जिस में प्रस्तुत विषय का अच्छे ढंग से सांगोपांग विवेचन है। इनके 'फिर निराश क्यों?' में संकलित रचनाएँ बल्कि निबन्ध के अधिक निकट हैं। आलोचनात्मक निबन्ध भी इन्होंने प्रचुर परिमाण में

लिखे हैं पर विनोदमयी शैली में संस्मरणात्मक ढंग से लिखे गए इनके निबन्ध, निबन्ध की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनका विचार आगे होगा। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का भी इस प्रसंग में उल्लेख करना आवश्यक है। साहित्यिक विषयों पर बख्शी जी ने कई निबन्ध लिखे हैं जो इस श्रेणी में आते हैं पर निबन्ध के अधिक अच्छे गुण उनकी बाद की रचनाओं में प्रस्फुट हुए। इनका विचार भी आगे किया जायगा।

× × ×

इसी समय पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी कुछ अच्छे निबन्ध लिखे हैं जो इनकी फड़कती शैली के कारण अधिक आकर्षक हो गए हैं। इनकी लिखी कुछ जीवनियाँ और संस्मरणात्मक निबन्ध अवश्य मार्मिक बन पड़े हैं। इनमें इनकी भावुकता देखने ही योग्य है। इसके बाद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री ब्रजमोहन वर्मा, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि ने भी इस प्रकार के कुछ अच्छे संस्मरणात्मक या चरितात्मक निबन्ध लिखे हैं। वर्मा जी में संस्मरणात्मक निबन्ध लिखने की मार्मिक प्रतिभा थी।

इस युग के तीन विशिष्ट निबन्धकार

भारतेन्दु युग के या उसकी प्रवृत्तियों को अपनाकर आगे बढ़ने वाले निबन्धकारों के बाद द्विवेदी-युग में साहित्यिक दृष्टि से तीन उच्च कोटि के निबन्धकार सामने आए जो अधिक निबन्ध नहीं लिख पाए पर जिनमें निबन्धकार की वास्तविक प्रतिभा थी। इसके नाम हैं श्री माधवप्रसाद मिश्र, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। पं० माधवप्रसाद का स्वर्गवास सन् १९०७ में, उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष श्री बालमुकुन्द गुप्त का, पर प्रवृत्ति के विचार से गुप्तजी का उल्लेख भारतेन्दु युग के लेखकों के साथ किया गया है। मिश्रजी का मानसिक अवस्थान परवर्ती लेखकों से अधिक मिलता-जुलता था। त्योहारों, तीर्थ-स्थानों आदि पर लिखे इनके निबन्धों में इनका देश-प्रेम, इनकी विद्वत्ता और भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म के प्रति इनकी निष्ठा भली-भाँति लक्षित होती है। इनके 'सब मिट्टी हो गया'-जैसे निबन्ध में एक अत्यन्त मार्मिक निबन्धकार के दर्शन होते हैं। इसमें बच्चे के मुँह से निकला एक छोटा-सा वाक्य लेखक की अनुभूति का द्वार खोलकर उसके सरस देश-प्रेम आदि का मनोरम उद्घाटन करता है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ऐसे निबन्धकार हैं जो विचार और शैली की दृष्टि से द्विवेदी युग के शायद सबसे अधिक प्रगतिशील और प्रवृत्ति के विचार से भारतेन्दुयुगीन निर्बन्ध निबन्ध को एक नई ज्ञान-प्रदीप्त दिशा की ओर विनोद-वक्र-गति से ले चलने वाले लेखक हैं। इनके हाथों में पड़कर व्यंग्य भारतेन्दु युग की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और द्विवेदी युग के अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान और भास्वर हुआ। उनके 'कछुआ धरम' नामक निबन्ध में हिन्दुओं की पलायन-प्रियता, प्रतिरोध की शक्ति के अभाव और अंधी रूढ़िवादिता पर जो जोरदार व्यंग्य किया गया है वह उस समय के 'शिष्ट समाज' के किसी अन्य लेखकों के बूते की बात न थी। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं की थी। 'मारेसि मोहिं कुठाँव' और 'संगीत'-जैसे निबन्धों में उनकी शैली का चमत्कार और विचारों की प्रगतिशीलता अच्छी तरह दिखाई देती है।

निर्बंध निबन्धों की परम्परा को एक नई लय और गति के साथ नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य उदार प्रकृति और परम भावुक लेखक सरदार पूर्णसिंह ने किया। श्रम,

श्रमिक, सरल जीवन, आत्मिक उन्नति आदि के विषय में इनके निबन्ध एक नई चेतना प्रदान करते हैं। इन्होंने विविध सम्प्रदायों के बाहरी विधि-विधान को हटाकर उन सबके भीतर एक आत्मा का स्पंदन, एक सार्वभौम मानव-धर्म का स्वरूप देखा और अपने पाठकों को दिखाने की चेष्टा की। सभ्य आचरण और प्रेम तथा आत्मिक दृढ़ता के द्वारा ही ये समाज का कल्याण देखते थे। कहीं इन्होंने आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया है तो कहीं सांसारिक कर्त्तव्य का पालन करने पर जोर दिया है। 'श्रम' का जैसा महत्त्व इन्होंने प्रतिपादित किया है वैसा द्विवेदी युग के गद्य और काव्य दोनों क्षेत्रों में दुर्लभ है। यह एक नई भावना थी जिससे उन्होंने हिन्दी के पाठकों को स्पंदित करने की चेष्टा की। इनकी भाषा में भी एक नये ढंग की लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार है। भावों को मूर्तिमत्ता के साथ प्रस्तुत करने में इन्हें अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। इनके निबन्ध पहले से चली आती भावात्मक शैली के भीतर नहीं आते, इन्हें प्रभावाभिव्यंजक कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार-संकेत और भाषण-शैली की ओजस्विता—इन सबकी सहायता से ये बराबर एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

"अन्तःप्रयास से निकली विचार-धारा"

द्विवेदी युग में विषय के वैविध्य के साथ ही विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ लेखक और निबन्धकार साहित्य के क्षेत्र में आए। साहित्य को अपना विशेष-क्षेत्र चुनने वाले तो बहुत हुए पर उनके लेखों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा उपदेश की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के असंगृहीत आरम्भिक निबन्ध भी ऐसे ही हैं। पर बाद के निबन्धों में उनके 'अन्तः प्रयास से निकली विचार-धारा' है जो पाठकों को एक नवीन उपलब्धि के रूप में दिखाई पड़ी। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने लोक-मंगल की भावना की प्रतिष्ठा नवीन और प्रभावपूर्ण ढंग से की। साहित्य ही पर नहीं, उसमें निहित विचारों और उन विचारों की प्रेरक सामाजिक, राज-नीतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर भी अपने ढंग से विचार किया। नैतिकता को शुक्ल जी ने व्यावहारिक बनाया। रूढ़िवादी धार्मिक नैतिकता का खण्डन करके इन्होंने 'भावयोग' का महत्त्व दिखलाया। यह कार्य स्वतन्त्र मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से ही सम्भव हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से मानव-जीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई सम्भावनाओं को दिखाया। इनके निबन्धों का सबसे अधिक महत्त्व इसी बात में है। श्री प्रतापनारायण मिश्र, भट्ट जी और द्विवेदीजी सबने नैतिक उपदेश देने वाले शिक्षात्मक लेख भी लिखे—अन्तिम दो ने मनोविकारों पर भी लिखा, पर विचार की दृष्टि से उनमें वह वैयक्तिक प्रयास नहीं जिसके द्वारा पाठक को कोई नूतन उपलब्धि हो। 'लोभ' और 'क्रोध' पर द्विवेदी जी ने लिखा अवश्य पर इसलिए लिखा कि लोग इनके अवगुणों से परिचित हो जायँ और इनसे बचें। वही इन्द्रिय-निग्रह वाली पुरानी निषेधात्मक धार्मिक नैतिकता। पर शुक्लजी कहते हैं कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में ही है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है।' क्रोध से बराबर बचने का उपदेश वे नहीं देते। उनके विचार से तो 'सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है।' उन्होंने लोभ की आवश्यकता और उपयोगिता भी दिखाई है। लोभ से बराबर बचने वाला तो जड़ हो जायगा। जन्मभूमि-प्रेम के मूल में लोभ ही है। इस तरह की बातें कहकर शुक्लजी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से

सुन्दर सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। उनके मनोविकार-सम्बन्धी और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना वाले निबन्धों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबन्धों की असली विशेषता यही है जो व्यक्ति-प्रधान नहीं विषय-प्रधान निबन्ध की विशेषता है।

उनके निबन्धों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीति', 'करुणा' तथा 'श्रद्धा-भक्ति'-जैसे निबन्धों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिकता-प्रदर्शक संस्मरणात्मक संकेत, व्यंग्य-विनोद के छींटे और कहीं-कहीं विषयान्तर भी उनके निबन्धों में मिलते हैं, पर प्रतिपाद्य विषय को वास्तव में वे कभी भूलते नहीं। उनकी विचार-धारा बराबर प्रतिपाद्य विषय से नियन्त्रित होती है।

द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर शुक्लजी ने उसे बहुत ऊँचे उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूरी सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।

शुक्लजी की ही परम्परा में कतिपय उन निबन्ध-लेखकों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो विचार और शैली की दृष्टि से उनसे नहीं मिलते, पर जीवन के बारे में जो-कुछ कहना है साहित्य के माध्यम से कहते हैं और साहित्य के विशेषज्ञ माने जाते हैं। अन्तःप्रयास से निकली उनकी विचार-धाराएँ अनेक दिशाओं की ओर जाती हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अज्ञेय, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री शिवदानसिंह चौहान आदि ऐसे ही लेखक हैं।

प्रसिद्ध भावुक आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की प्रकृति आलोचक से अधिक निबन्धकार की प्रकृति है। जो स्वच्छन्दता और संवेदनशीलता निबन्धकार के लिए अपेक्षित है वह द्विवेदीजी में मौजूद है। उनके साहित्यिक निबन्धों में साहित्य का प्रभाव ग्रहण करने के लिए तत्पर एक भावुक और संस्कृत-हृदय की झलक मिलती है। अन्तः प्रयास से नहीं, अन्तःप्रेरणा से निकली गांधीवादी मानवतावादी विचार-धारा की रेखा उनके निबन्धों में अक्सर मिलती है।

साहित्यिक या आलोचनात्मक निबन्धों की चर्चा करते हुए छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवियों, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी को नहीं भूला जा सकता। निराला के निबन्धों में स्वच्छन्द मनःस्थिति और मौलिक विचार-धारा तथा विद्रोह का स्वर बराबर सुनाई पड़ता है। प्रसाद ने भी आलोचना-विषयक गम्भीर लेख या निबन्ध लिखे हैं। बाकी दो कवियों के महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेख या निबन्ध भूमिकाओं के रूप में हैं। महादेवी जी की 'शृङ्खला की कड़ियाँ' के नारी-जीवन-सम्बन्धी मार्मिक और विचारोत्तेजक सामाजिक निबन्ध अपना अलग मूल्य रखते हैं।

भावात्मक और अन्य निबन्ध

निबन्धों की भावात्मक शैली, जो भारतेन्दु के 'सूर्योदय' और भट्टजी के 'चन्द्रोदय' में अलंकार-सज्जित थी, धीरे-धीरे रागात्मक स्पन्दन से युक्त होती गई। छायावाद-काल में लघुकाय होकर वह रायकृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्यों में प्रतीक, व्यंजना और भावोच्छ्वास से रंजित हो गई और उसने भाषा-शैली-सम्बन्धी नवीन विशेषता ग्रहण की। पं० माखनलाल चतुर्वेदी की भावात्मक गद्य रचनाओं में वियोगी हरि से भी अधिक विषय-वैविध्य

दिखाई देता है। आध्यात्मिक प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं की इन्होंने अनेकविध व्यंजना की है। पर डॉ० रघुवीरसिंह के निबन्धों में छायावादी अस्पष्टता कहीं नहीं मिलती। 'बिखरे फूल' में इनके आरम्भिक गद्य-गीतों का संग्रह है लेकिन इनकी प्रसिद्धि का आधार 'शेष स्मृतियाँ' है, जिसमें ऐतिहासिक इतिवृत्त का आधार लेकर मुगल राजवंश के उत्कर्ष, पतन और कोमल मानवीय सम्बन्धों की मार्मिक व्यंजना हुई है। ये निबन्ध अत्यन्त कला-समृद्ध हैं, यही उनका गुण है और दोष भी।

यहीं वर्णनात्मक निबन्धों का अलग से उल्लेख हो जाना चाहिए। कुछ लेखकों ने प्राकृत दृश्यों के सुन्दर वर्णन किये हैं और कुछ ने यात्रा-संबन्धी लेखों में विभिन्न स्थानों के चित्र और यात्रा-विवरण दिये हैं। इस प्रकार के वर्तमान लेखकों में स्वामी सत्यदेव, राहुल सांकृत्यायन और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रसिद्ध हैं। श्री श्रीराम शर्मा के शिकार-सम्बन्धी लेख भी हिन्दी में अपने ढंग के अकेले हैं।

नई शैलियाँ—एक

भारतेन्दु युग के बाद विषय-प्रधान विचारात्मक निबन्धों की धारा जितनी पुष्ट हुई उतनी रचना-विषयक नियमानुवर्तिता छोड़कर नये ढंग से कम या अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक रोचक शैली में लिखे गए निबन्धों की नहीं। द्विवेदी युग का नैतिक आग्रह भी इसमें कम बाधक नहीं हुआ। उस युग में भी गुलेरीजी और पूर्णसिंह-जैसे लेखक हुए जिनमें वह मानसिक स्वच्छन्दता मिलती है जो निर्बन्ध निबन्ध के लिए आवश्यक है, पर ये लोग भी इस नये मार्ग पर अधिक आगे न बढ़ पाए। शुक्लजी की 'विचार-वीथी' के प्रकाशन के चार ही वर्ष बाद सन् १६३४ में श्री लक्ष्मीकांत झा का 'मैंने कहा' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें अंग्रेजी के निबन्धकारों से प्रभावित 'एक नई ही शैली' के प्रयोग की चेष्टा की गई थी। ढूँढने पर इस तरह के और भी छिट-फुट प्रयोग उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में मिल जाते हैं पर यह अनुकरण जहाँ-का-तहाँ रह गया और हिन्दी-निबन्ध नये-नये मार्ग अपनाकर धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। शैली के फेर में न पड़कर और अपने यहाँ के विद्वानों की गुरु-गम्भीर कथन-शैली छोड़कर जिनको सचमुच कुछ महत्त्वपूर्ण कहना रहा उन्होंने कहा ही। मनोरञ्जन इनका साधन रहा साध्य कभी नहीं। ये लेखक अंग्रेजी के व्यक्ति-प्रधान निबन्धकारों से प्रभावित अवश्य हैं पर इन्होंने उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं किया, अधिकतर केवल उनकी स्वच्छन्द प्रकृति अपनाकर अपने लिए नया मार्ग निकाला। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री सियारामशरण गुप्त और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही लेखक हैं।

साहित्यिक आलोचना-विषयक निबन्ध बख्शीजी बहुत पहले से लिखते आ रहे थे, जिसे 'ज्ञान की संचित राशि' ही कहना अधिक ठीक होगा। निबन्धकार के रूप में उनकी अपनी प्रतिभा के दर्शन 'कुछ' तथा 'और कुछ' में संग्रहीत निबन्धों में मिलते हैं। यद्यपि 'क्या लिखूँ' निबन्ध में लेखक ने गार्डिनर का उल्लेख किया है पर रचना-विन्यास की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विचित्र प्रबन्ध' का भी प्रभाव उन पर लक्षित होता है जिसका उन्होंने अपने ढंग से सुन्दर विकास किया है। बख्शीजी ने जीवन, समाज, धर्म, साहित्य आदि पर बड़े रोचक ढंग से कहानी की रञ्जकता, नाटकीयता और चरित्र-चित्रण विधि अपनाकर निबन्ध लिखे हैं। विचार की दृष्टि से ये द्विवेदी-युग के उदार दल के प्रतिनिधि लेखक हैं जिनकी पूरी सहानुभूति छायावादियों

के साथ है तो प्रगतिवादियों के साथ उससे बहुत कम नहीं। मनुष्य की महत्ता में इनका विश्वास है, कोरे यथार्थवाद को साहित्य के उपयुक्त नहीं मानते, जीवन में वैषम्य की अनिवार्यता बराबर देखते हैं और कथा-साहित्य में घटना-वैचित्र्य और प्रच्छन्न आदर्श की निहिति आवश्यक समझते हैं। शिष्ट विनोद और सुखद आत्मीयता के साथ गम्भीर बातें कर जाना इनकी एक विशेषता है।

कवि सियारामशरण जी ने निबन्ध के क्षेत्र में सुन्दर प्रतिभा का परिचय दिया है। गांधीवाद की सारी सहजता, आस्तिकता और करुणा उनकी रचनाओं में प्रतिफलित हुई है तो कवि-सुलभ भावुकता और तत्त्वचिंतन की स्वतन्त्र वृत्ति भी दिखाई देती है। उन्होंने 'सामान्य' और 'विशेष' विषयों पर स्वतन्त्र रूप में अपने मनोरम ढंग से लिखा है। कहीं वे अपनी 'अपूर्णता' के महत्त्व से प्रभावित होते, तो कहीं 'धन्यवाद' के माध्यम से आधुनिक कृत्रिम शिष्टाचार पर व्यंग्य करते हैं और कहीं स्त्रियों का 'घूँघट' उन्हें बतलाता है कि हर आदमी एक तरह से नकाबपोश ही है! संस्मरण, यात्रा-विवरण, साहित्य और समाज की अनेक समस्याओं पर विनोदपूर्ण, सरस और आत्मीय ढंग से लिखे इनके निबन्ध मनोरंजक भी हैं और मार्मिक भी।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी विद्वत्तापूर्ण अनुसंधानात्मक लेख लिख सकते हैं, कबीर और नाथ पन्थ के साहित्य के मूल सांस्कृतिक स्रोत का पता लगाकर उनका गम्भीर साहित्यिक मूल्यांकन कर सकते हैं लेकिन अनौपचारिक ढंग से जब पाठक से बात करने बैठेंगे तो चर्चा का विषय होगा 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गए', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'अशोक या शिरीष के फूल'। सरलता, सरसता और विद्वत्ता का विरल संयोग निबन्धकार द्विवेदी में मिलता है। गुलेरी जी के पांडित्य की तीक्ष्णता और विराजमानता को इन्होंने सरस और कान्त बनाया है। सरलता के साथ व्यंग्य और विनोद की परिष्कृत भावना द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग है। विकसित ऐतिहासिक चेतना के कारण इनके दृष्टिकोण में व्यापकता और उदारता आ गई है। द्विवेदीजी ने साहित्य, समाज, संस्कृति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर लिखा है पर निर्बंध निबन्धों में उनकी रचनात्मक प्रतिभा दिखाई देती है। रवीन्द्रनाथ के विकासशील मानवतावाद की इन पर गहरी छाप है। अतीत की ओर दृष्टि फेरते ही निबन्धकार द्विवेदी जैसे रस-विह्वल हो उठते हैं—'अशोक के फूल' इन्हें प्राचीन मोहक मदनोत्सव का स्मरण दिलाते हैं पर साथ ही वे यह नहीं भूलते कि 'अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो···परन्तु है वह उस विशाल सामन्ती सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी···और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी।'

श्री जैनेन्द्रकुमार ने बहुत से निर्बंध निबन्ध लिखे हैं पर उनमें से उच्च कोटि के निबन्ध वे ही हैं जिनमें लेखक गम्भीर दार्शनिक की मुद्रा त्यागकर अपने सरल स्वाभाविक रूप में पाठक के सामने आता है। 'आप क्या करते हैं', 'रामकथा', 'कहानी नहीं', 'बाजार-दर्शन' ऐसे ही निबन्ध हैं। अक्सर प्रश्नोत्तर की रोचक शैली में गम्भीर समस्याओं या तथ्यों का, व्यंजना के माध्यम से, उद्घाटन इनकी ऐसी रचनाओं की विशेषता है। इनका व्यंग्य-विधान कहीं शब्द-प्रयोग पर अवलम्बित रहता है और कहीं पूरे वाक्य की ध्वनि पर। इनकी बिन सँवारी भाषा तथा बातचीत वाली शैली के वाक्य-विन्यास आत्मीयता और बे-तकल्लुफी का वातावरण तैयार करने में सहायक होते हैं।

इस प्रसंग में सर्वश्री सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त

आनन्द कौसल्यायन और नरहरि विष्णु गाडगिल का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने हिन्दी-निबन्ध के क्षेत्र में कुछ सुन्दर और सफल प्रयोग किये हैं।

दो निबन्धकार इस श्रेणी में ऐसे हैं जिन्होंने अपने ढंग के अकेले संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे हैं। श्री गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' ऐसी ही रचना है। व्यक्तिगत संस्मरणों के आधार पर एक अनुभव-समृद्ध साहित्य के व्यंग्यविनोदमयी शैली में लिखे गए ये निबन्ध अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से मिलकर एक क्रम-बद्ध आत्मचरित का रूप धारण कर लेते हैं।

दूसरी लेखिका है श्रीमती महादेवी वर्मा जिन्होंने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के उपेक्षित और अभाव तथा अत्याचार से जर्जर व्यक्तियों के अत्यन्त मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किये हैं। समाज के महत्त्वहीन समझे जाने वाले व्यक्तियों के जीवन की महत्ता, उनका दुःख-दर्द, नारी के साधनामय करुण जीवन आदि का इन रचनाओं में अनूठा चित्रण हुआ है। शैली की दृष्टि से महादेवी जी का गद्य छायावादी कविता के गुणों से अलंकृत है। विनोदपूर्ण बातें कहते हुए कहीं चुटीले सामाजिक व्यंग्य करना और कहीं करुणा की भावना से अभिभूत कर लेना महादेवीजी की एक विशेषता है। इन रचनाओं में कहानी की साकांक्षता, काव्य की भावमयता और चित्र-कला का चित्रण-कौशल है। लेखिका का सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तित्व और अत्याचारी पुरुष समाज के प्रति उसकी विद्रोह-भावना नाना रंगों में प्रकट हुई है।

जिस तरह छोटे गद्य-गीतों को आलोचकों ने निबन्ध की श्रेणी में रख दिया है उसी प्रकार रेखा-चित्रों (स्केचों) को भी। रेखा-चित्र लिखने वालों में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी प्रसिद्ध हैं। प्रकाशचन्द्र जी के चित्र यथार्थवादी अधिक हैं तो बेनीपुरी के चित्र यथार्थ का ऐसा रूप सामने लाते हैं जो भावनारंजित भी होता है।

नई शैलियाँ—दो

जैसा कि आरम्भ में ही दिखाया जा चुका है, भारतेन्दु युग में व्यंग्य-प्रधान निबन्ध काफी संख्या में लिखे गए। इन निबन्धों की परम्परा बराबर विकसित होती रही। कई लेखक बीच-बीच में व्यंग्य-विनोद का पुट देकर सजीवता लाते रहे तो कुछ के पूरे निबन्ध की शैली ही व्यंगात्मक होती थी। गुलेरीजी की चर्चा हो चुकी है छायावाद-काल में निराला के निबन्धों में अन्यों की अपेक्षा अधिक पैना व्यंग्य मिलता है। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने 'विजयानन्द दुबे' और 'दिव्यचक्षु' के नाम से सामयिक विषयों पर चुभते व्यंग्य लिखे हैं। सम्वादों के द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंग्य की व्यंजना करना इनकी अपनी विशेषता है। 'मतवाला'-मण्डल के श्री शिवपूजन-सहाय के हल्की-फुल्की शैली में लिखे सुन्दर निबन्धों में व्यंग्य से अधिक हास्य और विनोद है। बेढब बनारसी के भी कुछ राजनीतिक व्यंग्य अच्छे बन पड़े हैं।

सभी प्रकार के व्यंग्यों में मूल वृत्ति आलोचना की ही रहती है। पर नई पीढ़ी के नवयुवक लेखकों में सामाजिक क्रान्ति की भावना बलवत्तर रूप में प्रकट हुई। शैली और प्रवृत्ति दोनों के विचार से। इन लेखकों के विचार से जमाना ऐसा आ गया है कि हिन्दी के पूर्ववर्ती लेखकों या रोमांटिक युग के अंग्रेज निबन्धकारों की तरह सहृदयता, करुणा और महत्त्व दिखाने का अवसर अब नहीं है बल्कि जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों पर जोरदार प्रहार करने की जरूरत है। वह बात क्या जो तीखी न हो और वह तीखापन क्या जो तिलमिला न दे। फलतः व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की व्यंग्यात्मकता वक्रोक्ति और कटूक्ति से सजकर इन निबन्धों में सामने आई।

अपने 'विप्लव' में श्री यशपाल ने निर्बंध निबन्ध-लेखक के मूड में सुन्दर व्यंग्य-लेख लिखे थे।

पर यहाँ मैं व्यंग्य का विचार शैली की दृष्टि से नहीं प्रवृत्ति की दृष्टि से कर रहा हूँ। पूरे निबन्ध के मूल में नई सामाजिक चेतना और उससे उत्पन्न आलोचना-वृत्ति प्रखर व्यंग्य का रूप धारण करके इन निबन्धों में आती है। ये लेखक लैंब और लूकस की अपेक्षा, प्रवृत्ति के विचार से, चेस्टरटन, बल्कि स्विफ्ट के भी अधिक समीप हैं।

श्री प्रभाकर माचवे और श्री नामवरसिंह का इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों ने संख्या में काफी व्यक्तिनिष्ठ निर्बन्ध निबन्ध लिखे हैं पर संग्रह एक-एक ही प्रकाशित हुए हैं। संग्रहों के नाम क्रमशः 'खरगोश के सींग' और 'बकलमखुद' हैं। इन दोनों लेखकों ने शैली-सम्बन्धी भी नये-नये प्रयोग किये हैं। माचवे बहुत पहले से इस तरह के निबन्ध लिखते आ रहे हैं।

भविष्य की संभावनाएँ

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अपने थोड़े जीवन-काल में किस प्रकार विविध रूप-रंगों में विकसित होता आया है, इसका परिचय प्रस्तुत सर्वेक्षण से मिल गया होगा। आगे साहित्य में विषय-वैविध्य ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा, 'विशेषज्ञ' लेखक भी बढ़ते जायँगे और विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर साहित्यिक निबन्ध भी अलग-अलग रुचि के लोगों की गम्भीर जिज्ञासा-पूर्ति के साधन बनते जायँगे। यह प्रवृत्ति यदि एक ओर निबन्धों को गम्भीर और गूढ़ बनाकर उनका पाठक-समाज सीमित करती जायगी तो दूसरी ओर सामान्य पाठकों के थके मस्तिष्क को स्फूर्ति प्रदान करने वाले निर्बन्ध निबन्धों के प्रणयन और पटन में प्रेरक रूप भी होगी। दोनों प्रकार के—विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ, जिन्हें परिबन्ध निबन्ध और निर्बन्ध निबन्ध कह सकते हैं—निबन्धों की आवश्यकता का अनुभव करने वाले पाठक और उन्हें लिखने वाले लेखक बढ़ते जायँगे पर इस समय निर्बन्ध निबन्धों का भविष्य विशेष आशाजनक प्रतीत हो रहा है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी आलोचना

सामान्य रूप में यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की धाराएँ समानान्तर होती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्‍भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है, और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्यिक निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं, और दूसरी ओर, समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास में धारावाहिक समानता रहा करती है।

हिन्दी-समीक्षा का विकास उपर्युक्त तथ्य के लिए उदाहरण भी उपस्थित करता है। विशेषकर भक्तियुग और रीतियुग के साहित्यिक विकास के साथ तत्कालीन समीक्षा-शैलियाँ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर यह निर्देश किया है कि वे काव्य-रचना के लिए काव्य-रचना नहीं कर रहे। महात्मा कबीर ने भी काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ होने की चर्चा की है। उस समय का समीक्षादर्श भी भक्ति-भावना को प्रमुखता देकर चला था। रचना के कलात्मक गुणों की एक हद तक उपेक्षा भी हुई। एक स्वतन्त्र रस के रूप में भक्ति-रस की प्रतिष्ठा हो गई, यही नहीं भक्ति ही प्रमुख रस माना गया। वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य आदि, उसी के अंगभूत रस स्वीकार किये गए साहित्य-शास्त्र में विवेचित नायक और नायिका-भेद से मिलती-जुलती भक्ति-सम्बन्धिनी नायक-नायिकाएँ भी उद्‍भावित हुईं। यह तो केवल कुछ मोटे निर्देश हुए। वास्तविकता यह थी कि काव्य-सम्बन्धी समस्त विवेचन की दिशा भक्ति-भावना के अनुरूप मोड़ दी गई थी। कवियों ने इस नये वातावरण से प्रभावित होकर अत्यन्त दैन्य से भरी करुण-रस की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सुदामा-चरित्र तथा प्रह्लाद और ध्रुव आदि के संकट-बहुल आख्यान इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में शृङ्गार-रस की अतिशयता आध्यात्मिक नायक-नायिकाओं के आवरण में निर्विघ्न पनप रही थी। उसी समय से राम तथा कृष्ण-सम्बन्धी काव्य की ऐसी व्याख्याएँ भी चल पड़ीं जो भक्ति-भावना को तो बल देती थीं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण थीं। रामचरितमानस की विविध टीकाएँ और रामायणी सम्प्रदायों में उसके विविध अर्थों और भावों की जो असाहित्यिक परम्परा चल पड़ी, वह आज भी चलती जा रही है।

रीति-काल में आकर साहित्य-शास्त्र ने फिर एक बार अपना सिर उठाया। वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उस सीमा पर पहुँचा जिसे हम 'कला के लिए कला' की सीमा कह सकते हैं। निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभावों आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण, यही काव्य के मुख्य लक्ष्य रह गए थे। काव्य-समीक्षा भी इन्हीं

रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक सीमित थी। अलंकारों की संख्या बढ़ती जा रही थी, उसके सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की गणना, साहित्यिक विवेचन का मुख्य आधार बन गया था।

इसी रीति-काल में कवियों की प्रवृत्ति के अनुरूप कम-से-कम दो प्रकार की समीक्षा-शैलियाँ प्रचलित हुई थीं, जिन्हें हम क्रमशः अलंकारवादी और रसवादी समीक्षा-शैली कह सकते हैं। महाकवि केशवदास के काव्य में अलंकारवादी प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। वे और उनके अनुयायी काव्य-शास्त्र का विवेचन आलंकारिकता के आधार पर ही करते थे। इससे भिन्न बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियों ने रस-शैली को अधिक महत्त्व दिया है। ये दोनों ही समीक्षादर्श यद्यपि उस समय की ह्रासोन्मुख कविता के मापदण्ड बने हुए थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका प्रचलन व्यापक रूप में था और इन पद्धतियों का अध्ययन और अनुसरण साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक माना जाता था। भूषण-जैसे वीर रस के स्वतन्त्र कवि भी इस रीतिवाद के चक्कर में पड़कर ही रहे।

भक्तिकालीन समीक्षा और रीतिकालीन समीक्षा, दोनों ही, अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने के लिए निर्मित हुई थीं, और अपने उद्देश्य की पूर्ति भी कर रही थीं। परन्तु, हिन्दी-साहित्य के आगामी विकास में इन पद्धतियों का त्याग अथवा आत्यन्तिक संशोधन भी किया गया, और समीक्षा की नई विधियों का निर्माण होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी-साहित्य में जो नवीन जीवन परिव्याप्त हुआ, उसने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नये तथ्यों का आविर्भाव किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक होने लगा। काव्य की समीक्षा में तो किसी प्रकार रस और अलंकार-पद्धति का प्रयोग चल सकता था, परन्तु गद्य और भाषा-सम्बन्धी नवीन निर्माण में वह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। हिन्दी में उस समय नवीन उपन्यास, नई कहानी और नये काव्य-अनुवाद भी होने लगे थे। जिनके विवेचन के लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता थी। उपन्यास और नाटक आदि काव्य-रूपों के विवेचन पृथक्-पृथक् आदर्शों को लेकर ही हो सकते थे। अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षकों के सम्मुख था। हम देखते हैं कि इस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का अनुवर्तन नहीं हो रहा था, बल्कि भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोष उद्घाटित कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोगकालीन समीक्षा का स्वरूप था।[1]

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर समीक्षा का स्वरूप अधिक व्यवस्थित हो चला। उन्होंने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्यिक निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्त्व देने लगे जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गुप्तजी के वे प्रशंसक और समर्थक थे। परन्तु प्राचीन काव्य के अध्येता होने के कारण वे संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों और हिन्दी के तुलसी, सूर आदि के काव्यों के भी ग्राहक थे। एक नया काव्यादर्श तैयार होने लगा था, जिसमें संस्कृत के कालिदास और भव-

---

१. **इस समीक्षा के प्रवर्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।**

भूति-जैसे अप्रतिम कवि, सूर और तुलसी-जैसे भावनावान् रचयिता, और भारतेन्दु और गुप्तजी-जैसे अभिनव देश-प्रेमी कलाकार समान रूप से समादृत थे। यह स्पष्ट है कि यह नया काव्यादर्श किसी परिपुष्ट शास्त्रीय आधार पर नहीं बना था, और न इसके मूल में कोई विशिष्ट और व्यवस्थित साहित्य-चेतना थी।

इस नवीन जागृति के साथ कई नये समीक्षक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आये, जिन्होंने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य-समीक्षा के पथ का प्रसार किया। मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन साहित्यिक प्रतिमानों को नये मापदण्डों का रूप देना चाहा, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। मिश्रबन्धु नये जीवन के आदर्शों और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे; वे पश्चिमी समीक्षा की नई शैलियों और प्रतिमानों की भी जानकारी रखते थे; परन्तु उनका दृष्टिकोण मुख्यतः परम्परावादी था। यही कारण है कि उन्होंने हिन्दी के नव सर्वश्रेष्ठ कवियों के चुनाव में और उससे भी बढ़कर हिन्दी के साहित्यिक इतिहास के लेखन में जिन परम्परागत विधियों का प्रयोग किया वे नवयुग के हिन्दी-साहित्यिकों को पूरी तरह मान्य न हुई।

काव्य के कला पक्ष तथा उसके रचनात्मक सौन्दर्य का जैसा सुन्दर उद्घाटन पं० पद्मसिंह शर्मा ने किया वह बहुत-कुछ अपूर्व ही था। शर्माजी संस्कृत के मुक्तक कवियों के साथ, उर्दू और फारसी के चमत्कार-प्रधान काव्य के प्रख्यात रसिक थे। एक-एक शब्द और एक-एक मुहावरे की बारीक अर्थ-व्यंजना के पीछे वे पागल-से रहा करते थे। जीवन-भर उसी का अभ्यास करते रहे थे। उन्होंने बिहारी के दोहों की संस्कृत और उर्दू-फारसी के समानधर्मी कवियों के पद्यों से बड़ी चमत्कारपूर्ण तुलना की, जिससे सारा हिन्दी-संसार उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की ओर नई प्रवृत्ति तो जाग्रत ही हुई, नये कवियों को अपने अनगढ़ उद्गारों को माँजने और सँवारने की प्रेरणा भी मिली। इस दृष्टि से शर्माजी की समीक्षा नये रचनात्मक साहित्य के लिए भी कुछ कम उपादेय नहीं रही।

परन्तु इस युग की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व में दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के समीक्षा-कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नये समीक्षादर्श का निर्माण किया, जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द-संकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिये थे, पर व्याख्या करने में वे पूर्णतः नवीन थे। आचार्य द्विवेदीजी ने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के उन्नततम कवियों के साथ नवयुग के काव्य-रचयिताओं की जो समान-सी अभ्यर्थना की थी, शुक्लजी उतनी दूरी तक उनका साथ नहीं दे सके। इसका अर्थ यही है कि वे समीक्षा की साहित्यिक और शास्त्रीय परम्परा के अधिक समीप थे और नवीन विकास को भी प्राचीन साहित्यिक पीठिका पर ही रखकर देखते थे। तुलसीदास-जैसे नीतिवादी और मर्यादावादी कवि उनके आदर्श थे। परन्तु तुलसीदास की आध्यात्मिक और साम्प्रदायिक भूमिकाओं को छोड़कर शुक्लजी ने उनके द्वारा चित्रित महत्वपूर्ण चरित्रों को, और उनकी मनोवैज्ञानिक और नैतिक जीवन-स्थितियों को महत्त्व दिया। एक प्रकार से वे तुलसीदास के नये व्याख्याता सिद्ध हुए, और इसी आधार पर उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की भी नई ही रूपरेखा प्रस्तुत की। अर्थहीन और प्राणहीन शब्द-संकेतों को नया जीवन प्रदान किया और सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अभिनव आकलन उपस्थित करके नई युग-चेतना को जन्म दिया। शुक्लजी अपने

विस्तृत साहित्यिक अध्ययन के कारण संस्कृत कवियों की स्वच्छतर काव्य-भूमि पर भी गए थे, उन्होंने वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्य-सौन्दर्य, और विशेषतः उनके प्रकृति-वर्णन-सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा की है। इस क्षेत्र में वे तुलसीदास के अनुयायी नहीं हैं। इसी प्रकार सैद्धान्तिक-समीक्षा के नये पहलुओं का उद्घाटन भी शुक्लजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा किया है, जो परम्परागत साहित्य-विवेचन से मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण' की उनकी व्याख्या और काव्य में अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ के सापेक्षिक महत्त्व पर उनके वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। अंग्रेजी साहित्य के नये सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों से भी वे परिचित थे, और विभिन्न अवसरों पर उसका उल्लेख भी करते गए हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अँग्रेजी साहित्य के उन्हीं समीक्षकों की उन्होंने चर्चा की है, जो उनके अपने पूर्वनिरूपित आदर्शों के अनुरूप थे। यहाँ तक कि उन्होंने ऐसे समीक्षकों और साहित्य-शास्त्रियों का विरोध भी किया है, जिनके वास्तविक साहित्यादर्श को उन्होंने पूरी तरह जानने की चेष्टा नहीं की। कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने अपनी महान् उद्भावना-शक्ति और असंदिग्ध आचार्यत्व के अनुरूप, जहाँ कहीं से जो-कुछ भी साहित्यिक मर्म या तथ्य प्राप्त हो सका, उसका स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग किया।

यह स्वीकार करना होगा कि शुक्लजी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण अवश्य किया, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निर्भ्रान्त समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः, शुक्लजी के दार्शनिक विचार और धारणाएँ तथा उनकी नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे। प्रबन्ध-काव्य और प्रगीत-रचनाओं के बीच जिस अव्याहत साहित्य सन्तुलन की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति शुक्लजी ने नहीं की है। इसी के साथ, शुक्लजी ने लोक-साहित्य के समीप प्रवाहित होने वाली कबीर-जैसे निर्गुणियों की काव्य-वाहिनी का सम्यक् सत्कार नहीं किया। और नये युग में आकर हम यह देखते हैं कि उन्होंने बदलती हुई राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों, तथा उनमें विकसित होने वाली नई प्रतिभाओं का वैशिष्ट्य परखने की चेष्टा नहीं की। उनका समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्व-सामान्य अवश्य था, परन्तु उसमें परिवर्तनशील वस्तु-जगत् और उसमें उद्भावित होने वाले साहित्य-रूपों और प्रक्रियाओं को ग्रहण करने की वस्तुमुखी प्रवृत्ति नहीं थी। शुक्लजी का समीक्षादर्श सर्व-सामान्य और सर्वग्राही है, किन्तु वह विशिष्ट रचनाओं और युगानुरूप काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन के लिए पूर्णतः सक्षम नहीं है। दूसरे शब्दों में, शुक्लजी का साहित्यादर्श स्थिर और अटूट है, गतिशील और विकासोन्मुख नहीं।[1]

इसी नवीन दिशा में नये समीक्षकों ने कार्य आरम्भ किया। इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के आकलन के साथ, रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है। इसी का नया निदर्शन नये समीक्षकों ने उपस्थित किया।

---

१. द्विवेदी युग के अन्य समीक्षकों में आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि प्रमुख हैं। शुक्ल-धारा के अनुयायियों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, 'शिलीमुख', कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और गुलाबराय जी की गणना की जाती है।

एक प्रकार से यह शुक्लजी के समीक्षा-कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था। कतिपय अनुशीलनकर्ताओं ने इस नवीन समीक्षा-धारा को स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा-धारा भी कहा है। परन्तु इसकी प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य-मूल्य को प्रतिष्ठित करना है। इन अध्येताओं को भारतीय साहित्यिक परम्परा का भी यथेष्ट परिचय है और वे काव्य के विभिन्न काव्य-स्वरूपों और विधानों से भी भली-भाँति परिचित हैं। शुक्लजी ने जिस समीक्षा को अपने निजी आदर्शों की वैयक्तिक या 'सब्जेक्टिव' भूमि पर स्थापित किया था, उसे ही वस्तून्मुखी और विकासमान भूमियों पर रखकर परखने का कार्य नये समीक्षक कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग से आरम्भ होने वाली साहित्यिक समीक्षा यहाँ आकर एक प्रकार की पूर्णता ग्रहण करती है। परन्तु यहीं से एक नये प्रकार का विघटन भी आरम्भ होने लगता है।[1]

इस विघटन के मूल में स्थित कारणों की समीक्षा करना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं है। फिर भी, इतना कहा जा सकता है कि सन् १६३५ के आस-पास हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में जो निराशा और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की एक लहर आई थी; जिसने रचना और समीक्षा के क्षेत्रों में भी अपना अनिष्टकारी प्रभाव दिखाया था; उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप साहित्य के सामाजिक आदर्श का आग्रह करती हुई नई समीक्षा-पद्धति क्षेत्र में आई। 'साहित्य किसके लिए?' —यह प्रश्न उठाया गया; और इसका उत्तर देते हुए नव्यतर समीक्षकों ने कहा—'साहित्य जनता के लिए, साहित्य पूँजीवादी सभ्यता को समाप्त करने के लिए, साहित्य समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए।' ये उस समय तो नये नारों के रूप में ही प्रवर्तित हुए, पर आगे चलकर उन्होंने नये साहित्यिक आदर्श का व्यवस्थित और तर्क-सम्मत रूप भी ग्रहण किया।

यह वह समय था जब प्रसाद, निराला और पन्त के काव्योत्थान अपना सम्पूर्ण प्रदेय समाप्त करके प्रायः रिक्त हो चुके थे, 'कामायनी' का निर्माण हो चुका था; उनके स्थान पर महादेवी और बच्चन की एकांतिक और विषादमयी रागिनियाँ सुनाई देने लगी थीं। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द जी का कृतित्व पूरा हो चुका था, और नई दार्शनिकता और व्यक्ति-चित्रण के नाम पर जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय आदि की कृतियाँ सामने आने लगी थीं। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के तथाकथित यथार्थवादी प्रयोग चलने लगे थे। समीक्षा के क्षेत्र में भी बच्चन और महादेवी का स्तुति-गान होने लगा था। ऐसी स्थिति में साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ प्रतिक्रिया का आरम्भ होना आवश्यक था, और जब यह स्वस्थ प्रतिक्रिया 'जनता के लिए साहित्य' के नारे के रूप में व्यक्त हुई तब उसका समुचित स्वागत भी किया गया।

यदि यह नई समीक्षा-धारा साहित्य के स्वस्थ आदर्श को, और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ न जोड़कर स्वतन्त्र स्थिति में रहने देती और यदि लेखकों और रचनाकारों को उक्त मतवाद के लिए बाध्य और अभिभूत न होना पड़ता तो रचना और

---

१. इस समीक्षा-धारा के अन्तर्गत जानकीवल्लभ शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि की गणना की जा सकती है, प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी इसी कोटि में रखा गया है। निराला और दिनकर के कतिपय निबन्ध भी इसी श्रेणी में आते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्म-व्यंजक उद्भावनाएँ भी इसी श्रेणी की समझी जाती हैं।

समीक्षा के दोनों क्षेत्रों को अधिक लाभ पहुँचता। साहित्य की स्वतन्त्र परम्परा और उसकी रचना की निर्बाध विधियाँ, किसी कट्टर बौद्धिक मतवाद का अनुसरण नहीं कर सकतीं, विशेषकर जब ये मतवाद आदेशों का रूप ग्रहण कर लें, और समय-समय पर नये फरमान निकालते रहें। वैसी स्थिति में साहित्यिक विकास की सम्भावना और भी शंकाग्रस्त हो जाती है। प्रगतिवादी समीक्षा के आरम्भिक वर्षों में ऐसी कोई कट्टरता नहीं थी। उस समय प्रकाशित हुई शिवदानसिंह चौहान की समीक्षाएँ किसी नये आदेश के रूप में नहीं आई थीं, वे नई रचना के लिए नया आश्वासन और नवीन दिग्निर्देश-मात्र करती थीं। परन्तु आगे चलकर यह समीक्षा उतनी स्वच्छन्द और प्रेरणा-प्रद नहीं रह गई। उसने नया सिद्धान्तवादी या 'डॉक्ट्रेनियर' स्वरूप ग्रहण किया और बड़े अद्भुत प्रकार से प्रगतिशील रचनाओं की पहचान और परख करने लगी। बहुत थोड़े सौभाग्यशाली लेखक उन आदेशों की शत-प्रतिशत पूर्ति कर सकते थे। इसलिए यह देखा गया कि हिन्दी के प्रगतिवादी लेखन के क्षेत्र में बस आदेश-ही-आदेश हैं, कृतियों का कहीं नाम नहीं।[1]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी साहित्य में मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा पर्याप्त प्रगति कर चुकी है। उसने साहित्य-रचना और साहित्य-विवेचन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया है। परन्तु वह यथार्थवाद स्वस्थ साहित्य के स्वीकृत प्रतिमानों से बहुत दूर की वस्तु नहीं है। यह यथार्थवाद मुख्यतः सामाजिक प्रगतिशीलता के तत्त्वों को अपनाकर चलता है और 'मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान' या 'कला के लिए कला' की प्रवृत्तियों के विरोध में उपस्थित होता है। नये मार्क्सवादी समीक्षकों ने साहित्य की सामाजिक भूमिका के अनुशीलन में ऐसे ही तथ्यों पर प्रकाश डाला है जिनसे साहित्यिक प्रतिमानों को बल मिलता है, और ऐसे कवियों के कृतित्व पर अधिक उज्ज्वल आलोक पड़ता है जो साहित्यिक दृष्टि से भी अग्रणी माने गए हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा साहित्यिक परम्परा से प्राप्त उपलब्धियों को नया बल प्रदान करती है। यदि इस यथार्थवादी समीक्षा-पद्धति से इस उपादेय उद्देश्य की सिद्धि होती है तो इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु एक विशेष मतवाद को चाहे वह कितना ही तटस्थ और वस्तु-सापेक्ष क्यों न हो, साहित्य-समीक्षा में अत्यधिक प्रमुखता देना, साहित्यिक मूल्यों के प्रति उपेक्षा करना भी हो जाता है। इसीलिए पश्चिम के प्रगतिवादी समीक्षक अधिकाधिक सतर्कता के साथ अपने समीक्षा-पैमानों का प्रयोग करते हैं।

हिन्दी में अभी हम बिलकुल दूसरी ही स्थिति पर ठहरे हुए हैं। केवल मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षाएँ की जा रही हैं, व्यक्तियों को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियों और उनके साहित्यिक सौष्ठव को नहीं। विश्वास करना चाहिए कि इस स्थिति में परिवर्तन होगा और हिन्दी-समीक्षा उस संतुलित स्थिति पर पहुँच सकेगी जिस पर वह पश्चिमी देशों में पहुँच चुकी है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यिक निर्माण के कार्य में लेखकों और कवियों के जन-संपर्क का आग्रह किया जाय, उनकी उद्भावना-शक्ति का मूल्य परखा जाय। उन्हें किन्हीं आदेशों या फरमानों से आक्रान्त न किया जाय; और साथ ही समीक्षा में वह तटस्थ अनुशीलन आरम्भ किया जाय, जो साहित्यिक परम्परा के सहयोग से, अधिक-से-अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सके।

इस समाजवादी समीक्षा-पद्धति से खौफ खाकर हिन्दी में कतिपय ऐसे भी समीक्षक

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ऐसे ही समीक्षक हैं।

दिखाई देने लगे हैं, जो साहित्य के नितान्त वैयक्तिक उद्भव स्रोतों का उल्लेख करते हैं, साहित्यिक सृष्टि को दिवा-स्वप्नों का पर्याय मानते हैं, और श्रेष्ठ निर्माण के लिए महती कुण्ठा की अनिवार्यता बताते हैं। रचना के क्षेत्र में भी ऐसे नये लोग आ रहे हैं जो प्रयोगों और प्रतीकों के बाहुल्य से हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर देना चाहते हैं। ऐसी रचनाएँ पहली दृष्टि में बड़ी अनोखी, चमत्कारक और यदा-कदा असाधारण रचना-क्षमता का परिणाम भी प्रतीत होती हैं। पर थोड़ी सी गम्भीरता से विचार करने पर इन रचनाओं का हल्कापन अपने-आप प्रकाश में आ जाता है। ये रचयिता और समीक्षक यह कहते हैं कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत अनुभूति से है। इनका यह भी आरोप है कि प्रचारार्थ प्रस्तुत की गई समाजवादी रचनाएँ अपने उद्देश्य से आप ही वंचित हो जाती हैं। उनकी पहुँच पाठकों के अंत स्तल तक होती ही नहीं। परन्तु, प्रतिपक्षी पर आरोप करते हुए यह न भूल जाना चाहिए कि निरी वैयक्तिक अनुभूति किसी भी स्थिति में साहित्यिक प्रतिमान नहीं मानी जा सकेगी। साहित्य की मूलवर्ती सामाजिक और सांस्कृतिक सत्ता को किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकेगा। मनोवृत्तियों और अनुभूतियों का ऐसा प्रकाशन, जो सामाजिक संवेदना का विषय न हो, काव्य-प्रतिमान के रूप में गृहीत न होगा। भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों, परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती; और दिवा-स्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।[1]

मनोविश्लेषण की भूमिका पर काम करने वाले कुछ ऐसे समीक्षक अवश्य हैं जो कतिपय साहित्यिक रचनाओं की मूलभूत मनोवैज्ञानिक त्रुटियों और अस्वस्थताओं का उद्घाटन करते हैं। रुग्ण-साहित्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए यदि मनोविश्लेषण की विधि का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुचित नहीं। साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया पर भी यह सिद्धान्त प्रकाश डालता है। परन्तु इससे अधिक इस सिद्धान्त की उपयोगिता साहित्य-समीक्षा में क्या होगी, यह समझना कठिन है। श्री नरोत्तमप्रसाद नागर के कतिपय लेख इस विषय में नया विचारोत्तेजन करते हैं और हिन्दी के समीक्षकों के सम्मुख यह तथ्य रखते हैं कि इस समीक्षा-विधि का किस सीमा तक उपयोग किया जा सकता है। अभी यह क्षेत्र अधिकाधिक अनुशीलन के लिए रिक्त पड़ा है।

आज हमारे साहित्य में थोड़ा-बहुत गत्यवरोध तो है ही। हिन्दी-आलोचना में भी कुछ अंशों तक लक्ष्यहीनता और दिग्भ्रम के चिह्न दिखाई देते हैं। यदि रचनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य एक दूसरे को प्रकाश न देते हों, तो यह एक चिन्तनीय स्थिति होगी। पर यदि वे एक-दूसरे को गुमराह करने अथवा एक-दूसरे की प्रगति में अड़चन डालने का काम करते हों, तब तो यह और भी अनिष्टकारक बात होगी। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धिकता और तर्कवाद की भूल-भुलैया में पड़कर हमारे साहित्यिक स्रष्टा और समीक्षक दोनों ही कुछ भटक गए हैं। यदि यह सच है, तो इस भूल-भुलैयाँ से छुटकारा पाने का सरल और सीधा उपाय क्या है? सीधा और सरल उपाय है पूर्णतः प्रकृतिस्थ हो जाना, नए सिरे से आत्म-शोध करना और उस समस्त बौद्धिक आवरण को दूर कर देना जो हमारे व्यक्तित्व को उलझाता और केवल उलझाता है। कहीं अच्छा

१. इस पद्धति के समीक्षकों में श्री अज्ञेय, डॉ० नगेन्द्र, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री नलिन विलोचन शर्मा आदि की गणना की जा सकती है।

हो यदि हम जीवन और काव्य-साहित्य-सम्बन्धी उन मूलभूत तथ्यों को पहचान लें और पहचान-कर आत्मसात् कर लें, जो तथ्य एक साथ ही मानव व्यक्तित्व के और उसके समस्त कृतित्व के उन्नायक हैं। साहित्य और साहित्यिक समीक्षा भी मानव-कृतित्व का ही एक अंग है। अतएव यदि हमारा व्यक्तित्व हमें आवृत करने वाले वितंडावादों से मुक्त है और यदि उसमें मूलभूत जीवन-विकास के प्रति वास्तविक श्रद्धा और आस्था है तो उससे हमारा साहित्यिक कृतित्व अवश्य उपकृत होगा और हमारी समीक्षा-दृष्टि को भी निश्चय ही नई ज्योति प्राप्त होगी।

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी

पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव

हिन्दी के आदि कवि चन्द वरदाई (चन्द बलद्दिउ) का 'पृथ्वीराज रासो' १२वीं शती के दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान तृतीय तथा उनके महान् प्रतिद्वन्द्वी कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द गाहड़वाल, गुर्जरेश्वर भीमदेव चालुक्य और ग़ज़नी के अधिपति सुलतान मुईज़ुद्दीन शाह शहाबुद्दीन गोरी के राज्य, रीति-नीति, शासन-व्यवस्था, सैनिक, सेना, सेनापति, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर, व्यापार, मार्ग आदि का एक प्रमाण, समता-विषमता की शृङ्खलाओं से जुड़ा हुआ, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक वृत्तों से आच्छादित, पौराणिक कथाओं से लेकर कल्पित कथाओं का अक्षय तूणीर, प्राचीन काव्य-परम्पराओं तथा नवीन का प्रतिपादक, भौगोलिक वृत्तों की रहस्यमयी गुफा, सहस्रों हिन्दू-मुस्लिम योद्धाओं के पराक्रम का मात्र-कोष, प्राकृत अपभ्रंशकालीन सार्थक अभिव्यंजना करने में क्षम सफल छन्दों की विराट पृष्ठभूमि, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं की संक्रान्तिकालीन रचना, गौड़ीय भाषाओं की अभिसन्धि का उत्कृष्ट निदर्शन समकालीन युग का सांस्कृतिक प्रमाण, उत्तर भारत का आर्थिक मानचित्र, विभिन्न मतावलम्बियों के दार्शनिक तत्त्वों का आख्याता तथा मानव की चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषक यह अपने ढंग का एक अप्रतिम महाकाव्य है, परन्तु हिन्दी-रचनाओं में सम्भवतः सबसे अधिक विवादग्रस्त है।

पाश्चात्य लेखक पढ़ा गए कि हिन्दुओं के यहाँ मुस्लिमों की अपेक्षा इतिहास लिखने की कोई परम्परा नहीं थी—इसी आधारशिला पर खड़े होकर विद्वत् वर्ग 'रासो' की परीक्षा करने उतरा, क्योंकि उसकी परम्पराओं की छाप परवर्ती साहित्य पर थी और राजस्थान के परवर्ती इतिहास को भी उसने प्रभावित कर रखा था। इधर दुर्भाग्यवश महाकाव्य का प्रणेता चन्द कर बैठा था अक्षम अपराध ऐतिहासिक काव्य लिखने का। फिर उस बेचारे के काव्य का पोस्टमार्टम परम आवश्यक हो गया, बाल की खाल नोच-नोचकर रासो को अनैतिहासिक सिद्ध करने वाले प्रमाण खुर्दबीन लगाकर ढूँढे गए। पृथ्वीराज के दरबार में कुछ वृत्ति तथा सम्मान पाये हुए काश्मीरी जयानक द्वारा प्रणीत तथा अधूरे प्राप्त 'पृथ्वीराज विजय' मात्र के आधार पर डॉ० बूलर द्वारा रासो को आधुनिक जाल ठहराते देख डॉ० हर्बर्ट मोरीसन ने अपने गुरू के आप्त वाक्य की मीमांसा की जिसे योग मिला मेवाड़ के कविराज शामलदास तथा महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-जैसे इतिहासकारों का। डॉ० बूलर के मत की प्रतिक्रिया शीघ्र हुई और कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में इस काव्य के सुचारु मनन और अध्ययन में लगे हुए श्री बीम्स, ग्राउज, डॉ० हार्नले-जैसे मेधावी विद्वान् विरत हो गए। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बाबू श्यामसुन्दरदास, म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित आदि की शंख-ध्वनि नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गई, इसीलिए न कि ये इतिहासकार नहीं थे वरन् थे साहित्यकार। रासो के

ऐतिह्य पर सन्देह प्रकट करने वाले इतिहासकारों ने इतिहास-विरोधी बातों का रासो से संकलन करके दस-पाँच अकाट्य तर्क पेश किये, परन्तु साहित्यकारों को कवि का उत्तराधिकारी मान बैठने वालों के न्यायालय में क्या इतना सौजन्य न था कि वे यह भी बतलाते कि इस काव्य में ऐतिहासिक तथ्य कितने हैं। रासो की ऐतिहासिक विवेचनाओं की विशाल राशि के संतुलन में अनैतिहासिक तत्त्व नगण्य सिद्ध होंगे—जिनका परवर्ती प्रक्षेप होना भी असम्भव नहीं—यह मेरा एक साहित्य-सेवी के नाते प्रस्ताव है।

इधर बम्बई से एक सिंह-गर्जन हुआ है। जैन ग्रन्थागारों में सुरक्षित १२वीं शती में रचित पृथ्वीराज और जयचन्द के संस्कृत प्रबन्धों में आये चंद बलद्दिउ (चंद वरदाई) के चार अपभ्रंश छन्दों के आधार पर जो सभा वाले 'रासो' में किंचित् विकृत रूप में वर्तमान हैं, विश्व-विख्यात वयोवृद्ध साहित्यकार मुनिराज जिनविजय ने घोषणा की है कि पृथ्वीराज के कवि चंद वरदाई ने अपनी मूल रचना अपभ्रंश में की थी। इस गर्जन से स्तम्भित होकर चन्द वरदाई तक के अस्तित्व को अस्वीकार कर देने वाले इतिहासकार चुप हैं, गुम-सुम, खोये हुए से, किसी नवीन तर्क की आशा में शिलालेखों और ताम्रपत्रों की जाँच में संलग्न। खैरियत ही हुई कि शिलालेख मिल गए, नहीं तो कौन जानता है पृथ्वीराज, जयचन्द और भीमदेव का व्यक्तित्व भी इन इतिहासकारों ने खतरे में डाल दिया होता। वे कभी-कभी भूल जाते हैं कि उनके ऐतिहासिक सिद्ध करने वाले तत्त्वों द्वारा दिये गए प्रमाणों के अभाव में लिखित साहित्य से ही नहीं वरन् लौकिक-साहित्य के आधार पर भी इतिहास का कलेवर भरा जाता है। 'रासो' अपने ऐतिह्यों का मूल्यांकन करने के लिए फिर उनसे माँग कर रहा है और यदि उन्होंने पक्षपात को न अपनाया तो कल्हण की 'राजतरंगिणी-सदृश 'रासो' भी उन्हीं के द्वारा एक अपवाद मान लिया जायगा।

ऐतिहासिक वाद-विवादों के कोलाहल से दूर 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी-साहित्यकारों की अमूल्य विरासत है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक अनूठी रचना है। इस काव्य के आदि तथा अन्त में कवि ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'रासो' में सात हजार रूपक हैं, परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' में १६३७६ छन्द पाये जाते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि रासो का आकार मूल से सवा दो गुना अधिक बढ़ गया है। पंजाब-विश्वविद्यालय के श्री वुलनर द्वारा शोधित 'रासो' की रोटो वाली प्रति में छन्द-संख्या आर्या छन्द से लगभग सात हजार है और बीकानेर की प्रति में पाँच हजार ही बतलाई जाती है। ये दोनों संस्करण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, परन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक आक्षेपों का प्रश्न है वे इनमें भी अंशतः वर्तमान हैं। प्रकाशित 'रासो' में प्रक्षेपों के घटाटोप की सम्भावना को भलीभाँति जानते हुए भी वर्तमान स्थिति में उन्हें पृथक् करने की कठिनाई के कारण उस सम्पूर्ण सामग्री को काव्य की कसौटी पर लाने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

वस्तु-वर्णन—काव्यों में विस्तृत विवरण के दो रूप होते हैं—एक वस्तु वर्णन द्वारा और दूसरा पात्र द्वारा भावाभिव्यंजना से। वस्तु-वर्णन की कुशलता इतिवृत्तात्मक अंश को बहुत कुछ सरस बना देती है। 'रासो' में ऐसे फुटकर वर्णनों का ताँता लगा हुआ है जिन्हें कवि ने वर्णन-विस्तार हेतु चुना है। संक्षेप में उनका उल्लेख इस प्रकार है—

व्यूह-वर्णन—भारत की हिन्दू सेनाओं का व्यूह-बद्ध होकर लड़ने का विवरण मिलता है और कभी-कभी मुस्लिम सेना को भी किसी भारतीय व्यूह को अपनाये युद्ध करता हुआ बतलाया

गया है। व्यूह-वर्णन के ढंग की परम्परा कवि को महाभारत से मिली प्रतीत होती है। एक स्थल देखिए—

> **इम निसि वीर कढिय समर, काल फन्द अरि कढ्ढि।**
> **होत प्रात चित्रंग पहु, चक्राव्यूह रचि ठढ्ढि॥**
> **समर सिंह रावर, नरिंद कुण्डल अरि घेरिय।**
> **एक-एक असवार, बीच बिच बाइक फेरिय॥**
> **मद सरक्क तिन अग्ग, बीच सिल्लार सु भीरह।**
> **गोरंधार विहार, सोर छुट्टै कर तीरह॥**
> **रन उदै-उदै वर अरुन हुए, दुहू लोह कड्ढी विभर।**
> **जल उकति लोह हिल्लोर; कमल हंस नंचै सु सर॥**

मुस्लिम इतिहासकारों ने हिन्दू-सेना को बिना किसी ढंग के अस्त-व्यस्त युद्ध करने वाला वर्णन किया है तथा अपने पक्ष की युद्ध-शैली का विवरण देते हुए कहीं यह उल्लेख नहीं किया है कि उनमें भारतीय युद्ध-पद्धति कभी अपनाई जाती थी।

नगर-वर्णन—अनेक नगरों, ग्रामों और दुर्गों का नाम गिनाने वाले इस महाकाव्य में अन्हलवाड़ा पट्टन, कन्नौज, दिल्ली और गजनी के वर्णन विस्तृत हैं जो सम्भवतः युगीन चार शासकों की राजधानियाँ होने के कारण किये गए प्रतीत होते हैं। इन वर्णनों को अनुमान या काव्य-परम्परा के आधार पर नहीं किया गया है वरन् इनमें एक प्रत्यक्षदर्शी का अनुभव सन्निहित है। पट्टनपुर के वर्णन का एक अंश देखिए :

> **तिन नगर पहुच्यौ चन्द कवि। मनों कैलास समाष लहि॥**
> **उपकंठ महल सागर प्रबल। सघन साह चाहन चलहि॥**
> **सहर दिष्षि अंषियन। मनहु बद्दर वाहनु दुति॥**
> **इक चलंत आवन्त। इक्क ठलवन्त नवनि भति॥**
> **मन दन्तन दन्तियन। इला उप्पर इल भारं॥**
> **विप भारथ परि दन्ति। किए एकठ व्यापारं॥**
> **रजकंब लष्ष दस बीस वहु। दोइ गंजन थादह परयौ॥**
> **अन्नेक चीर सूपरू फिरंग। मनों मेर कंठै भरयौ॥**

पनघट-वर्णन—श्रीमद्भागवत् में कृष्ण की यमुना-तट पर की हुई लीला के वर्णन ने क्रमशः कालान्तर में साहित्य में पनघट-वर्णन की परम्परा का सृजन किया था। रासोकार ने भी पनघट की चर्चा की है। पट्टनपुर और वहाँ की सुन्दरियों का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि अप्सराओं जैसी सुन्दरियाँ कामदेव के रथ से उतरकर सरोवर में अपने घड़े भर रहीं थीं :

> **भरे जु कुम्भयं घनं, इला सुपानि गंगनं।**
> **असा अनेक कुण्डनं, ...॥**
> **सरोवरं समानयं, परीम रंभ जानयं।**
> **बतक्क सार संमयं, अनेक हंस क्रम्मयं॥**
> **भरै सु नीर कुम्भयं, ...।**
> **अरुह काम रथ्थयं, सु उत्तरी समथ्थयं॥**

सूफी कवि जायसी ने भी 'पदमावत' में पनघट का सुन्दर वर्णन किया है। बूढ़े आचार्य केशव ने पनघट पर ही अपने सफेद बालों को कोसा था। रीतिकालीन कवियों ने अपनी काफी प्रतिभा पनघट के दृश्य-वर्णन में खर्च की है।

विवाह-वर्णन—रासो में कई विवाहों का उल्लेख है परन्तु दो विवाह इंच्छिनि ब्याह और प्रिया ब्याह विस्तृत रूप से स्वतन्त्र प्रस्तावों में वर्णित हैं। इनमें हमें ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजने से लेकर, तिलक, विवाह-हेतु यात्रा और बारात, अगवानी, तोरण, कलश, द्वारचार, जन-वासा, कन्या का श्रृङ्गार, मण्डप, मंगल गीत, गाँठबन्धन, गणेश, नवग्रह, कुलदेवता, अग्नि, ब्राह्मण आदि के पूजन, शाखोच्चार, कन्यादान, भाँवरी, ज्योनार, दान, दहेज, विदाई और वधू का नख-शिख सभी विस्तारपूर्वक पढ़ने को मिलते हैं। ये विवाह साधारण व्यक्तियों के नहीं वरन् तत्कालीन युग के प्रतिनिधि शासकों पृथ्वीराज और चित्तौड़-नरेश रावल समरसिंह (सामन्तसिंह) के हैं अतएव इनमें हमें राजसी ठाट-बाट और अनुकूल दान-दहेज का वर्णन मिलता है। हिन्दू के जीवन के सोलह संस्कारों में विवाह-प्रथा भी एक है और इस परम रूढ़िवादी जाति ने अपनी परम्पराओं में परिवर्तन स्वीकार नहीं किये हैं, जो दो-चार कहीं-कहीं दिखाई भी पड़ जाते हैं वे प्रादेशिक के मूल में योग-मात्र हैं। कन्या के श्रृङ्गार-वर्णन में कवि को पुष्पों, वस्त्रों और आभू-षणों की एक संख्या देने का अवसर मिल गया है।

युद्धोत्साह और युद्ध-वर्णन—रासो-जैसे वीर काव्य में इनकी दीर्घ संख्या होना स्वाभा-विक है। ये वर्णन विस्तृत तो हैं ही परन्तु साथ ही वर्णन-कुशलता और अनुभूति के कारण अपना प्रभाव डालने में पूर्ण समर्थ हैं। कवि की प्रतिभा का योग योद्धाओं के उत्साह की सुन्दर अवतारणा करा सका है।

उत्सव-वर्णन—नवरात्र, नवदुर्गा, विजयादशमी, दीपावली, बसन्त और होली का कवि वर्णन करता है परन्तु इनमें दीपोत्सव और होली का संभवतः युग के विशेष उत्सव मानकर पृथक् रूप से वर्णन किया गया है। इन प्रसंगों में पृथ्वीराज की जिज्ञासा पर चन्द ने उक्त उत्सवों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथाएँ बतलाई हैं।

ज्योनार-वर्णन—के मिस कवि ने विधि-विधि के भोजनों के नामों की अपनी जानकारी प्रदर्शित करने का अवसर पाया है। परन्तु जायसी और सूदन की भाँति उसका वर्णन खटकने वाला नहीं है। राजा के भोज में पारुस का विधिवत् वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह प्रधान कथानक का अंश बन गया है। महाराज पृथ्वीराज के राजसी ठाट-बाट के औचित्य का निर्वाह करते हुए कवि ने युग के खाद्य पदार्थों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

षट् ऋतु बारह मास-वर्णन—रासो के देवगिरि समय में वर्षा और शरद् का चित्रण है और ये वर्णन पृथ्वीराज द्वारा यादवकुमारी की प्राप्ति-हेतु विरह में सञ्चारी रूप से आये हैं। पुरुष-विरह-हेतुक ये वर्णन ऋतु विशेष के स्पष्ट सूचक भी हो सके हैं। षट् ऋतुओं का ललित वर्णन कनवज्ज खण्ड में अधिक विस्तार से मिलता है। पृथ्वीराज कन्नौज जाने के लिए प्रस्तुत हैं और यह वसन्त ऋतु है। वे महारानी इंच्छिनी के महल में उनकी सम्मति लेने के लिए गये। रानी ने वसन्त का आगमन और उस ऋतु में अपना विरह-कष्ट वर्णन करते हुए राजा को रोका और वे रुक गए। इसी प्रकार शेष पाँच ऋतुओं में वे अन्य पाँच रानियों के पास ठहरे। कथा के इस प्रसंग में षट् ऋतुओं का रोचक वर्णन पढ़ने को मिलता है। यद्यपि उद्दीपन को लेकर ही

इनकी रचना हुई है परन्तु यह रासोकार के ऋतु-विषयक ज्ञान, निरीक्षण और वर्णन-कौशल का परिचायक है। प्रत्येक ऋतु को कवि ने साकार रूप देने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ वर्षा को ले लीजिये :

अब्दे बद्दल मत्त मत्त विषया दामिन्य दामायते।
दादूरं दर मोर सोर सरिसा पप्पीह चीहायते॥
श्रृङ्गारीय वसुन्धरा मजिलता लीला समुद्रायते।
जामिन्या सम बासुरो विसरता पावस्स पंथानते॥

नख-शिख और शृङ्गार-वर्णन—इनके बारह प्रसंग हैं जिनमें से अधिकांश में पृथ्वीराज से विवाहित होने वाली राजकुमारियों का सौन्दर्य वर्णित है। सबसे विस्तृत और विषद कन्नौज की राजकुमारी संयोगिता का नख-शिख है। इन प्रकरणों में स्नान से वर्णन प्रारम्भ करके, केश धोने, उबटन लगाने, वेणी गूँथने, मोती बाँधने, बिन्दी देने तथा विभिन्न आभूषण धारण करने के साथ-साथ नख-शिख-वर्णन भी मिश्रित है। कहीं-कहीं एक छप्पय छन्द में ही सारा नख-शिख वर्णित है और कहीं विस्तृत रूप में है। प्रसिद्ध उपमानों के अतिरिक्त नवीन सफल और असफल उपमानों की भी योजना है। इन वर्णनों में चमत्कारिक रूपकों का समावेश भी मिलता है! यथा :

ऐरापति भय मानि। इंद गज बाग प्रहरं॥
उर सँजोगि रस मद्दि। रह्यौ दबि करत विहरं॥
कुच उच्च जनु प्रगटि। उकसि कुम्भस्थल आइय॥
तिहि ऊपर स्यामता। दान सोभा सरसाइय॥
विधिना निमंत मिट्टत कवन। कीर कहत सुनि इंच्छिनिय॥
मनमथ्थ समय प्रथिराज कर। करज कोस अंकुस बनिय॥

वय:सन्धि अवस्था बालाओं के जीवन में सौन्दर्य-विकास की एक अप्रतिम घटना और अद्‌भुत व्यापार है। रासोकार ने इसका कुशल चित्रण किया है। एक आंशिक प्रसंग देखिए :

ज्यों करकादिक मकर में। राति दिवस संक्रान्ति॥
यों जुब्बन सैसव समय। आनि सपत्तिय कान्ति
यों सरिता अरु सिन्ध सँधि। मिलत दुहून हिलोर॥
त्यों सैसव जल संधि में। जोवन प्रापत जोर॥

कबन्ध-युद्ध-वर्णन—रामायण के कबन्ध राक्षस की मृत्यु के उपरान्त विश्वावसु गन्धर्व का जन्म, महाभारत में संसार के प्राणियों के विनाशकारी अशुभ चिह्नस्वरूप असंख्य कबन्धों का खड़ा होना और पुराणों की राहु के अमर कबन्ध की गाथा ने क्रमशः साहित्य में कबन्धों के युद्ध करने की परम्परा डाली होगी। रासो जैसे वीर काव्य में उनकी अनुपस्थिति किञ्चित् आश्चर्यजनक होती। कबन्धों के युद्ध अद्‌भुत रस का परिपाक करते हुए वीर और रौद्र भावों को उत्तेजना देने वाले हैं। एक स्थल दिया जाता है :

परत सीस तुट्यौ सु हर। धर उठ्यौ करि मार॥
घरी तीन लौं सीस बिन। कट्टे तीस हजार॥
बिन सीस इसी तरवारि बहै। निघटै जनु सावन घास महै॥
धर सीस निरास हुअंत हसे। सुभ राजन राह रुकंत जिसे॥

अन्य वर्णन—मुख्य कथानक छोड़कर रासो में हमें अनेक वर्णन मिलते हैं जिनमें से कुछ का लगाव प्रधान कथा से बड़े ही सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़ा हुआ है। इन वर्णनों को हटा देने से कोई बाधा पड़ने की सम्भावना भी नहीं है। महाभारत, भागवत और भविष्य पुराण आदि के आधार पर राजा परिक्षित के तक्षक-दंशन, जनमेजय के सर्प यज्ञ और आबू पर्वत के उद्धार तथा दशावतार की कथा ऐसे ही प्रसंग हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे स्थलों की भी एक संख्या है तथा पृथ्वीराज की जिज्ञासा-पूर्ति हेतु कवि समाधित अनेक मनोहर उपाख्यान जुड़े हुए हैं जो उसकी जानकारी, अनुभव, प्रत्युत्पन्नमति तथा अध्ययन के परिचायक हैं। इनमें विनोद की मात्रा भी पर्याप्त है !

वस्तुओं के ये विस्तृत वर्णन और व्यापार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के आलंबन हैं। इनसे भिन्न-भिन्न स्थायी भावों की उत्पत्ति होने के कारण इनमें रसात्मकता का पूरा आभास मिलता है।

भावाभिव्यंजना

रासो युद्ध-प्रधान काव्य है और पृथ्वीराज-सदृश वीर योद्धा का जीवन-वृत्त होने के कारण इसमें उस समय की आदर्श वीरता का चित्रण मिलता है। क्षात्र-धर्म और स्वामि-धर्म-निरूपण करने वाले इस काव्य में तेजस्वी क्षत्रिय वीरों के युद्धोत्साह तथा तुमुल और बे-जोड़ युद्ध दर्शनीय हैं। असार संसार में यश की श्रेष्ठता और प्रधानता को दृष्टिगत करके उसकी प्राप्ति स्वामि-धर्म-पालन में निहित की गई है। स्वामि-धर्म की अनुवर्तिता का अर्थ है प्रतिपक्षी से युद्ध में तिल-तिल करके कट जाना परन्तु मुँह न मोड़ना। इस प्रकार स्वामि-धर्म में शरीर नष्ट होने की बात को गौण रूप देकर यश सिरमौर कर दिया गया है। और भी एक महान् प्रलोभन तथा इस संसार और सांसारिक वस्तुओं से भी अधिक आकर्षक भिन्न लोक-वास तथा अनन्य सुन्दरी अप्सराओं की प्राप्ति है। धर्म भीरु और त्यागी योद्धा के लिए शिव की मुण्डमाला में उसका सिर पोहे जाने तथा तुरन्त मुक्ति-प्राप्ति आदि की व्यवस्था है। 'कर्म बन्धन को मिटाने वाले, विधि के विधान में सन्धि कर देने वाले, युद्ध की भयंकर विषमता से क्रीड़ा करने वाले भीष्म शूर सामन्त स्वामी (पृथ्वीराज) के कार्य में मति रखने वाले हैं, स्वामि-कार्य में लगकर इन श्रेष्ठ मति-वालों के शरीर तलवारों के वारों से खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और शिव उनके सिरों को अपनी मुण्डमाला में डाल लेते हैं। क्षत्रिय शरीर का केवल स्वामि-धर्म ही साथी है जो कर्मों के भोग से छुटकारा दिला सकता है। शूर सामन्तों का स्वामि-धर्म धन्य है, क्योंकि वे लड़ना और मरना ही जानते हैं'—इस प्रकार के विचारों से रासो ओत प्रोत है। उस युग की वीरता का यह आदर्श कि स्वामि-धर्म ही प्रधान है कोरा आदर्श-मात्र न था। उसका संस्थापन सेना के स्थायित्व तथा विशेष रूप से उसकी युद्धोचित प्रवृत्ति की जागरूकता को ध्यान में रखते हुए अति आवश्यक अनुशासन (discipline) को लेकर हुआ था। अनुशासन ही सेना और युद्ध की प्रथम आवश्यकता है। आदिकाल से लेकर आज तक सेना में अनुशासन की दृढ़ता रखने के लिए नाना प्रकार के नियमों का विधान पाया जाता है। यहाँ आज्ञाकारिता को दासता से जोड़ना ठीक नहीं है, क्योंकि उस युग में किराये के टट्टुओं से भारतीय सम्राटों की सेनाएँ नहीं सजाई जाती थीं। युद्ध क्षत्रियों का व्यवसाय था और स्वामि-धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग करना उनका कर्तव्य था। यहाँ दासता और धन के लोभ का प्रश्न उठाना तत्कालीन वीर युग की भावना को समझने में भूल करना है। सम्राट् या सेनापति की आज्ञा-पालन

के अनुशासन को चिरस्थायी और व्रतस्वरूप बनाने के लिए स्वामि-धर्म का इतना उत्कट प्रचार किया गया था कि वह सामान्य सैनिकों की नसों में कूट-कूटकर भर गया था और इसी आदर्श की रक्षा में उनके कट मरने का कार्य दुहाई दे रहा है। दार्शनिक जामा पहने हुए स्वामि-धर्म योद्धा का परम आभूषण था।

इस प्रकार के वातावरण में रहते हुए प्रतिदिन ऐसे ही विचारों और दृढ़ विश्वासों के संघटन में पड़कर तत्कालीन योद्धा की अन्तर्मुखी वृत्ति असार संसार में यश की अमरता और स्वामि-धर्म के प्रति जागरूक हो जाती होगी, तभी तो हम देखते हैं कि युद्धकाल इन योद्धाओं के लिए अनिर्वचनीय आनन्द का क्षण उपस्थित करता था। लड़कर मर मिटने वाले इन असीम साहसी योद्धाओं के उद्गार कितने प्रभावशाली हैं और साथ ही इनका वीरोचित उत्साह भी देखते ही बनता है :

(१) करतार हथ्थ तरवार दिय। इह सुतत्त रजपूत कर॥
(२) रजपूत मरन संसार बर॥
(३) सूर मरन मंगली॥
(४) मरना जाना हक्क है। जुग्ग रहेगी गल्हाँ॥
सा पुरसाँ का जीवना। थोड़ाई है भल्लाँ॥
(५) जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगना।
क्षणो विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे॥

सात सौ वर्षों से जनता के कंठ में प्रतिध्वनित होने वाले जगनिक के 'आल्हखण्ड' में भी मृत्यु से खेल करने वाले क्षत्रियों की वाणी सुनाई देती है :

(१) बारह बरिस लै कूकर जीयैं, औ तेरह लौं जियैं सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवैं, आगे जीवन कै धिक्कार॥
मरना मरना है दुनियाँ मा, एक दिन मरि जैहै संसार।
(२) स्वर्ग मड़ैया सब काहू कै, कोऊ आज मरै कोउ काल॥
खटिया परि कै जो मरि जैहो, कोउ न लैहै नाम अगार।
चढ़ी अनी पै जो मरि जैहो, तौ जस रहै देस में छाय॥
जो मरि जैहो खटिया परि कै, कागा गिद्ध न खइहैं माँस।
जो मरि जैहौ रन खेतन में, तुमरो नाम अमर होइ जाय॥
मरद बनाये मरि जैबे को, और खटिया पै मरै बलाय॥

कायरों में भी वीरता फूँक देने वाले उस युग को हमारे साहित्यिकों ने उचित ही वीर-गाथाकाल नाम दिया है और हमारा 'पृथ्वीराज रासो' अपने युग के वीरों की वीरोचित गाथा से परिपूर्ण है।

इस वीर गाथात्मक काव्य में वीर रस खोजने का प्रयास नहीं करना होगा। ये स्थल अपने-आप ही हमारे सामने आते रहते हैं और बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारियों की सांगोपांग योजना युद्ध-वीर रस की निष्पत्ति करती हुई अपनी उत्साह-भंगिमा द्वारा दूसरों को भी प्रभावित करती है। एक स्थल देखिये :

हयग्गयं सजे भरं। निसांन बज्जि डूभरं॥
नफेरि बीर बज्जई। मृदंग झल्लरी गई॥
सुनंत ईस रज्जई। छतीस राग सज्जई॥
सुभेरि भुंकयं घनं। श्रवन्न फुट्टि झंझनं॥
उघाह मध्य ते चले। सगुन्न बंदि जे भले॥
ससूर सूरयं कलं। दिनं सु अष्टमी चलं॥

शूरवीरों के सिरताज महाराज पृथ्वीराज और उनके सामंतगण आदर्श योद्धा थे। उन्होंने हिन्दुओं की आदर्श वीरता की प्राचीन पद्धति और नियमों का अपूर्व पालन किया है। स्त्रियों पर वार न करने, गिरे हुए घायलों और पीठ दिखाने वालों को न मारने आदि के नियमों का यथेष्ट संयमपूर्वक उनके द्वारा निर्वाह रासो में मिलता है। परन्तु इन सबसे बढ़कर जो बात पृथ्वीराज ने कर दिखाई वह भी इतिहास की एक अमर कहानी है। वह है शत्रु को प्राण-दान और प्राण-दान ही नहीं वरन् ऐसे प्रबल शत्रु को जो, कई बार अपमानित और दण्डित होकर भी फिर-फिर आक्रमण करता था, बन्दी बनाने के उपरान्त मुक्त कर दिया और मुक्त ही नहीं वरन् आदर-सत्कार के साथ उसे उसके घर भिजवाया। भारत के इतिहास का राजपूत-काल ही ऐसी वीरता के नमूने पेश करने में समर्थ है।

उत्साह और रति की मैत्री अस्वाभाविक है तथा एक स्वर से काव्य-शास्त्र के आचार्यों द्वारा ठुकराई गई है परन्तु रासो में इनके मेल के कई स्थल हैं। यह कह सकना अभी कठिन है कि इन विरोधी रसों के सामंजस्य की परम्परा रासो-काल की धरोहर थी, जो जायसी आदि को जागीर रूप में मिली अथवा ये स्थल परवर्ती प्रक्षेप हैं और सूफी कवियों के वर्णन से प्रेरणा पा लिखे जाकर कभी जोड़ दिये गए हैं।

रासो में जो स्थिति उत्साह की है वही क्रोध की भी है। युद्धकाल के सभी प्रसंगों में उसकी कुशल अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। कहीं-कहीं उसके साथ जुगुप्सा भी है। यथा :

बज्जे बज्जन लाग दल उभै हंकि जगि वीर।
विकसे सूर सपूर बढ़ि कंपि कलत्र अधीर॥
छुट्टियं हथनालि दुअ दल गोम ब्योमह गज्जियं।
उड्डियं आतस झार झारह धोम धुंधर सज्जियं॥
छुट्टियं बान कमान पानह छाह आयस रज्जियं।
निरषंत अच्छरि सूर सुब्बर सज्जि पारथ मज्जियं॥
परि सीस हक्कहि धर हहक्कहि अंत पाइ अलुज्झरं।...

वीभत्स का प्रसंग पृथक् नहीं वरन् युद्ध के अन्तर्गत ही आता है। योगिनियों का रुधिर पीना, गीधों का चिल्लाना आदि स्वाभाविक दृश्यों का इनमें चित्रण पाया जाता है :

पत्र भरें जुग्गिनि रुधिर, गिध्धिय मंस डकारि।
नच्यौ ईस उमया सहित, रुण्डमाल गल धारि॥

युद्ध-भूमि में भयङ्कर वेश वाले योगिनी, डाकिनी, भूत, प्रेत, पिशाच, भैरव आदि के नृत्य और किलकारियाँ, कबन्धों का दौड़ना, पलचरों का गाना आदि बहुधा भय की प्रतीति भी कराने लगता है परन्तु यह सहचारिता उचित और संभव है।

स्वतन्त्र रूप से भयानक रस का परिपाक ढुण्ढा दानव के प्रसङ्ग में मिलता है। ढूँढ़कर मनुष्यों को खाने वाले विकराल ढुण्ढा दानव ने सारा अजमेर नगर उजाड़ डाला, उसके भय से उस नगर के समीपस्थ वन में किसी जीव का प्रवेश न था और दिशाएँ भी शून्य हो गई थीं, उसकी घोर हिंसकता के आगे मानव तथा अन्य जीवों की क्या चर्चा, सिंह-सदृश हिंसक जन्तु भी पलायन कर चुके थे। यथा :

सो दानव अजमेर बन, रह्यौ दीह घन अन्त।
सुन्न दिसानन जीव को, थिर थावर जग मन्त॥
तहँ सिंह न अग्ग न पंखि बनं। दिसि सून भई डर जीव घनं॥
तिहि ठाम गजं बर बाजि ननं। तिहँ ठाम न सिद्धय साधकनं॥

पाँच सौ हाँथ ऊँचा, हाथ में विकराल खड्ग लिये ढुण्ढा मुँह से ज्वालाएँ फेंका करता था :

अंगह मान प्रमान। पंच सै हाथ उनै कह॥
इह ऊँचो उनमान। विनय लच्छिनह विवेकह॥
हथ्थ खड्ग विकराल। मुष्ष ज्वालंघन सद्दह॥

ऋषि द्वारा पृथ्वीराज को अन्धे किये जाने के श्राप में भी भयानक रस की अवतारणा मिलती है। इनके अतिरिक्त युद्ध-भूमि में भूतों-प्रेतों का नृत्य-गाना आदि दृश्य भी इस रस के प्रसंग हैं।

हास्य के स्थल रासो में अति थोड़े हैं। एक-आध स्थान पर वर्णन और वेश के कारण उसकी संभावना हुई है। कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में महाराज जयचन्द और चन्द बरदाई के प्रश्नोत्तरों में वह उद्भूत हुआ है। कवि को अपने से अधिक पृथ्वीराज का पराक्रम बखानते देखकर जयचन्द ने उससे श्लेष वक्रोक्ति द्वारा पूछा कि मुँह का दरिद्री, तुच्छ जीव, जंगलराव (भील; पृथ्वीराज) की सीमा में रहने वाला वरद (बैल; वरदायी) क्यों दुबला है :

मुह दरिद्द अरु तुच्छ तन, जंगलराव सु हद्द।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरौ बरद्द॥

उद्भट कवि ने उन्हें उत्तर दिया कि चौहान ने अपने घोड़े पर चढ़कर चारों ओर अपनी दुहाई फेर दी, अपने से अधिक बलवानों के साथ उन्होंने युद्ध किया, शत्रुओं में किसी ने पत्ते पकड़े, किसी ने जड़ें और किसी ने तिनके, अनेकों भयभीत होकर भाग खड़े हुए; इस प्रकार शत्रुओं ने सारा रण चुन लिया और बैल दुबला हो गया :

चढ़ि तुरंग चहुआन आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मण्डयौ जास जानयौ सबर बर॥
केइक गहि तकि पात, केइ गहि डार मूर तर।
केइक दन्त तुच्छ भिन्न, गए दस दिसनि भाजि डर॥
भुअ लोकत दिन अचिरज भयौ, मान सबर बर मरदिया।
प्रथिराज षलन षद्धौ जु षर, सु यौ दुब्बरौ बरदिया॥

जयचन्द ने फिर व्यंग्य किया और कवि ने फिर फब्ती कसी। अन्त में महाराज ने निरुत्तर होकर कवि को वरद के स्थान पर विरुद वाले कहकर संबोधित किया, परन्तु कवि ने पूर्व कही हुई

'वरद' की महिमा की विवेचना करते हुए उन्हें ऐसी उपाधि देने के लिए धन्यवाद दिया। यह स्थल व्यंग्यात्मक हास्य का अनूठा स्थल है।

आश्चर्य पैदा करने वाले स्थल 'रासो' में अनेक हैं। शापवश मनुष्य का मृत्यु के उपरान्त असुर हो जाना और असुर का मनुष्यों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाना वीरों का वशीकरण, देवी की सिद्धि और साक्षात्कार, गड़े खजाने से दैत्य और पुतली का निकलना, मन्त्र-तन्त्र की विलक्षण करामातें, वरुण के वीरों की उछल-कूद, वीर गति पाने वालों का अप्सराओं द्वारा वरण, आत्माओं का भिन्न लोकवास, कबन्धों का युद्ध आदि इसी प्रकरण के प्रसंग हैं। कवि ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है जैसे ये अघटित घटनाएँ न होकर सत्य और साधारण हों।

वीर-गाथा-काव्य होने के कारण शान्त रस का 'रासो' में प्रायः अभाव-सा ही पाया जाता है और वीर रस का विरोधी होने के कारण भी निर्वेद की व्यंजना के लिए अवसर भी नहीं है। युद्धोपरान्त एक स्थल पर शिव और पार्वती के वार्तालाप के प्रसंग में जन्म-मरण की व्याख्या करते हुए, कर्मानुसार जीव के जन्म के बन्धन में पड़ने और आत्मा का माया आदि प्रपंचोपशम से निराकार अद्वैत ब्रह्म में समाहित होने का उल्लेख है। मम्मट और विश्वनाथ की काव्य-कसौटी पर 'रासो' का यही एक प्रसंग शम का सिद्ध होता है। इस रस का संकेत करने वाले दो प्रसंग और हैं—एक तो ढुण्ढा दानव की कठोर तपस्या और दूसरा दिल्लीश्वर अनंगपाल का वैराग्य। ढुण्ढा ने जीवन्मुक्ति हेतु तपस्या नहीं की थी और अनंगपाल का वैराग्य सात्विक न था, वे सर्वस्व त्याग कर विरक्त हुए परन्तु उस त्यागी हुई वस्तु की प्राप्ति हेतु फिर झुके, युद्ध किया, पराजित हुए तब पुनः तपस्या करने चले गए—अस्तु ये दोनों स्थल शान्त रस के विधायक नहीं कहे जा सकते।

वीर और रौद्र रस-प्रधान 'रासो' में शृङ्गार की स्थिति गौण नहीं है। युद्ध-वीर स्वभावतः रति-प्रेमी पाये गए हैं। किसी की रूपवती कन्या का समाचार पाकर अथवा कन्या द्वारा उसे अपने माता-पिता की इच्छा के विपरीत आकर वरण करने का सन्देश पाकर उक्त कन्या का अपहरण करके उसके पक्ष वालों से भयंकर युद्ध और इस युद्ध में विजयी होकर कन्या का पाणिग्रहण तथा प्रथम मिलन आदि के वर्णनों में हमें वियोग और संयोग के चित्र मिलते हैं। नायक और नायिका के परस्पर गुण रूप आदि श्रवण-मात्र से अनुराग और तज्जनित वियोग कष्ट के वर्णन काम-पीड़ा के प्रतीक हैं। संयोग के अनन्तर वियोग का वर्णन आचार्यों ने भी स्वीकार किया है परन्तु संयोग से पूर्व ही वियोग का कष्ट वांछित प्रेमी या प्रेमिका को प्राप्त करने में बाधाएँ और कामोत्तेजना को लेकर ही पैदा होता है। वैसे ऊषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती आदि के प्रेम की काव्य-परम्परा का पालन भी 'रासो' में होना असम्भव नहीं है।

विवाह के पूर्व और उपरान्त सुन्दर राजकुमारियों के नख-शिख-वर्णन तदुपरान्त काम क्रीड़ा और सहवास यद्यपि शृङ्गार रस के ही अन्तर्गत हैं परन्तु उनमें वस्तु-स्थिति का निर्देश संकेत द्वारा न होने के कारण कहीं-कहीं अश्लीलत्व-दोष भी आ गया है। यह रति भाव क्या है, केवल उद्दाम वासनाओं का नग्न चित्रण ही न। इन स्थलों को पढ़ते ही उस युग की विलासिता का चित्र सामने आ जाता है। नायिका-भेद को दृष्टिगत करके काव्य का प्रणयन नहीं किया गया है फिर भी नवोढा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका आदि अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ जाती हैं। शृङ्गार वर्णन में संभोग की प्रधानता है। विप्रलम्भ का एक विशिष्ट स्थल है संयोगिता से पृथ्वीराज का प्रथम वियोग और अन्तिम मिलन। इस प्रसंग का प्रारम्भ और अन्त प्रायः परम्परा

भुक्त है परन्तु उसका निम्न वर्णन अति मार्मिक है :

घर घयार बज्जिग विषम। हल्लिग हिन्दु दल हाल ॥
दुतिय चन्द पूनिम जिमे। वर वियोग बढ़ि बाल ॥
वर वियोग बढ़ि बाल। लाल प्रीतम कर छुट्टौ ॥
है कारन हा कन्त। आस असु जानि न फुट्टौ ॥
देषन्त नैन सुझ्झै न दिसि। परिय भूमि संथार ॥
संजोगी जोगिन भई। जब बज्जिग घरियार ॥

उपर्युक्त छन्द में 'विषम', 'देषन्त नैन सुझ्झै न दिसि' और 'संजोगी जोगिन' बड़े ही सार्थक प्रयोग हैं। निर्जीव वस्तु घड़ियाल अथवा उसके शब्द को किसी की समता विषमता से क्या प्रयोजन हो सकता था परन्तु प्रियतम के प्रवास-हेतुक वियोग की निर्दिष्टि के कारण लक्षण का आरोप करके कवि ने संयोगिता की मानसिक अवस्था में विषमता घटित करके उसे वियोगावस्था का प्रारम्भिक चरण बना दिया है। वियोग के इस प्रकरण में प्रवत्स्यत् प्रेयसी संयोगिता के वर्तमान-प्रवास-हेतुक-वियोग का संकेत करके कवि ने उस वियोगिन के भूत-प्रवास-हेतुक-विप्रलंभ का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। दोनों प्रकार के वियोगों की मिलन-सन्ध्या बड़े कौशल से प्रस्तुत की गई है।

शोक के प्रसंग रासो में इने-गिने हैं। कमधज्ज नरेश के भाई बालुकाराव की मृत्यु पर अशुभ स्वप्न देखने के उपरांत उसकी स्त्री का विलाप, कन्नौज-युद्ध में प्रमुख सामन्तों के मारे जाने पर पृथ्वीराज का शोक, ग़ज़नी के कारागार में बन्दी पृथ्वीराज का नेत्र-विहीन किये जाने के उपरान्त पश्चाताप तथा अन्तिम युद्ध का परिणाम वीरभद्र द्वारा सुनकर चन्द कवि का दुःख इसी प्रकरण के हैं परन्तु करुण का सबसे प्रधान स्थल सती होने वाला दृश्य है जो इतना शान्त और गम्भीर है कि हृदय पर एक वीतराग त्याग का प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। मरण-महोत्सव की परम उल्लास और आतुरता से प्रतीक्षा करने वाले उस सामन्त युग में विशेष रूप से क्षत्राणियों में सती-प्रथा समाहृत थी। उनके लिए अग्नि-पथ प्रेम-पथ का विधान था। वीर हिन्दू नारी का आत्मोल्लास से जलती हुई अग्नि-चिताओं में प्रवेश परम प्रशांत पर अति मर्म भेदी है। यह आत्मोत्सर्ग की पूर्ण आहुति स्वतन्त्र भारत की हिन्दू ललनाओं के चरित्र की विशेषता थी। स्वतन्त्रता की महान् देन रासो-काल में स्त्रियों के इस आदर्श बलिदान के रूप में सुदृढ़ थी। एक स्थल द्रष्टव्य होगा—

विविह तरुनि दिय दान। अवर सामन्त सूर भर ॥
अथ अस्स हय लीय। मिल्लिय रह हित्त धाम भर ॥
चित चिंतै रव रवनि। गवनि पावक प्रज्जारिय ॥
प्रेम प्रीति किय पेम। नेम गेमह प्रति पारिय ॥
उज्जलिय भाल आयास मिलि। हर हर सुर हर गोम भो ॥
जहँ जहाँ सुवास निज कंत किय। तहँ तहँ तिय पिय मिलन भौ ॥

परिस्थिति विशेष में नव रसों के एक साथ उद्रेक कराने की सिद्धि भी रासोकार ने दिखाई है। भागवत और भक्ति काव्य की प्रेरणा कवि से कुशल चित्रण करा सकी है। कन्नौज-दरबार में छद्मवेशी पृथ्वीराज को पहचानकर सुन्दरी दासी कर्नाटकी ने लज्जा से घूँघट खींच लिया

परन्तु चंद के इशारे से तुरन्त ही उसे पलट दिया। इस घूँघट बन्द करने और खोलने के व्यापार-मात्र ने पंग-दरबार में नव रस उत्पन्न कर दिए :

बर अद्भुत कमधज्ज। हास चहुआन उपन्नौ॥
करुना दिसि संभरी। चंद बर रुद्र दिपन्नौ॥
बीभछ्छ वीर कुमार। वीर बर सुभट विराजै॥
रोष थाल झंपतह। द्रिगन सिंगार सु राजै॥
संभयौ संत रस दिष्ष बर। लोहा लंगरि वीर कौ॥
मंगाइ पान पहुपंग बर। भय नव रस नव सीर कौ॥

यहाँ उल्लेख अलंकार का चमत्कार भी जान लेना चाहिए।

अलंकार

अलंकार का प्रयोग भाव-सौन्दर्य की वृद्धि हेतु किया जाता है। शब्दालंकारों में रासो में अनुप्रास और यमक का प्रयोग बहुलता से पाया जाता है। अनुप्रासों के सभी शास्त्रीय भेदों के उदाहरण इस काव्य में मिल जाते हैं। उदाहरण देखिए :

(१) जंग जुरन जालिम जुझार भुज सार भार भुअ॥
(२) चढ़ि कंध कमंधन जोगिनी। सद्द मद्द उनमद्द फिरि॥
(३) त्रैनैनं त्रिजटेव सीस त्रितयं त्रैरूप त्रैसूलयं॥

वाच्यार्थ विचित्रता से रिक्त शब्दाडम्बर-मात्र वाला वर्णानुप्रास भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो जाता है।

यमक का प्रयोग अनेक स्थलों पर है परन्तु संयम के साथ :

(१) सारंग रुकि सारंग हने। सारंग करनि करष्षि॥
(२) धवल वृषभ चढ़ि धवल। धवल वंधे सु बद्य वसि॥

श्लेष वक्रोक्ति की चर्चा भावाभिव्यंजना के अन्तर्गत की जा चुकी है।

अर्थालंकारों के अन्तर्गत जहाँ कवि ने काव्य-परम्परा का ध्यान रखते हुए प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया है वहाँ अप्रचलित और अप्रसिद्ध उपमान भी उसने साहस के साथ रखे हैं। राजस्थान के कवियों में यह परम सराहनीय साहस पाया जाता है। रासोकार के अप्रचलित अप्रस्तुत कहीं क्लिष्ट होने के कारण और कहीं लोक में उतनी प्रसिद्धि न पाने के कारण अर्थ को सरल करने के प्रयास में उसे दुर्बोध भी कर बैठे हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

(१) जरयौ ससिफूल जरयौ मनिवद्ध। उग्यौ गुरदेव किधौं निसि अद्ध॥
(२) जगमगत कंठ सिरि कंठ केस। मनु अट्ठ ग्रह चंपि ससि सीस बैसि॥
(३) ग्रह अट्ठ सतारक पीत पगे। मनों सु तिके डर भान उगे॥

परन्तु नवीन उपमान अपनी अर्थ-सुलभता और लोक-प्रसिद्धि के कारण अर्थ-गौरव की भी निःसन्देह वृद्धि कर सके हैं :

(१) मुष कढ्ढिन घूँघट अस्सु बली। मनों घूँघट दै कुलबद्धु चली॥
(२) यों मिले सब्ब परिगह नृपति। ज्यों जल झर बोहिथ्थ फटि॥
(३) जनु छैलनि कुलटा मिलै। बसुत दिबस रस षंक॥
(४) दिषंत मेन लग्गयं। जिहाज जोग भग्गयं॥

कहीं-कहीं ग्रामीण प्रयोग भी मिलते हैं। यथा :

(१) सुर असुर मिलि जल फोरयं।

(२) साज सज्जि चल्यौ सु फुनि। जनु ऊलो दरियाव ॥

उपमा के प्रयोगों द्वारा रासोकार ने अपना अभीष्ट सिद्ध करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। एक निरवयवा-लुप्तधर्मा-मालोपमा देखिए :

इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ भारथ्थ भीम बर ॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ द्रोनाचारिज बर ॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ दससीस बीस भुज ॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ अवतार चारि सुज ॥
जुध बेर इस्स तुट्टै जुरिन। सिंघ तुट्टि लषि सिंघनिय ॥
प्रथिराज कुँवर साहाय कज। दुरजोधन अवतार लिय ॥

उपमा के बाद 'रासो' में रूपक का स्थान है। वैसे तो उसके सभी विभेद मिलते हैं परन्तु कवि को सांगरूपक सम्भवतः विशेष प्रिय था। इसके प्रयोग में उसे आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है :

(१) आसा महीव कव्वी। नव-नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं ॥
सागर सरिस तरंगी। बोहथ्थयं उक्तियं चलियं ॥

(२) काव्य समुद्र कवि चन्द कृत। मुगति समप्पन ज्ञान ॥
राजनीति बोहिथ सुफल। पार उतारन यान ॥

[अर्थात्—कवि के महान् आशा रूपी सागर में उत्ताल तरंगें उठ रही हैं जिसमें उक्ति रूपी बोहिथ (जहाज) चलाये गए हैं।

कवि चन्द कृत काव्य रूपी समुद्र, ज्ञान रूपी मोती समर्पित करने वाला है और राजनीति रूपी बोहिथ उस काव्य रूपी सागर से सफलतापूर्वक पार उतारने वाला यान है।]

समस्त वस्तु-विषय-सावयवों और एकदेश-विवर्ति-सावयवों की स्वाभाविक रंजना कवि के शास्त्र-ज्ञान की परिचायिका है। एक निरवयव रूपक भी देखिये :

चंद वदनि मृग नयनि। भौंह असित कोवंड बनि ॥
गंग मंग तरलति तरंग। बैनी भुअंग बनि ॥
कीर नास अगु दिपति। दसन दामिक घरमकन ॥
छीन लंक श्रीफल अपीन। चंपक बरनं तन ॥
इच्छति भतार प्रथिराज तुहि। अहनिसि पूजत सिव सकति ॥
अध तेरह बरस पदंमिनी। हंस गमनि पिष्षहु नृपति ॥

उत्प्रेक्षाओं की रासो में भरमार है, परन्तु वे अत्यन्त सफल बन पड़ी हैं। रूप-शृङ्गार और युद्ध-वर्णन में वस्तूत्प्रेक्षाओं की प्रचुरता समझनी चाहिए। अप्रचलित और अप्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग यहीं पर कवि ने जी खोलकर किया है। एक वाच्या-अनुक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा देखिये :

छुटि अगमद कै काम छुटि। छुटि सुगंध की बास ॥
तुझ मनौ दो तन दियौ। कंचन षंभ प्रकास ॥

यहाँ स्वर्ण खम्भ को प्रकाशित करने वाले दो तुंगों की सम्भावना देखकर और उपमेय स्वरूप उरोजों का कथन न होने के कारण रूपकातिशयोक्ति का भ्रम न करना चाहिए।

प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा दोनों ही मिलती हैं। एक असिद्ध-विषया-हेतूत्प्रेक्षा लीजिये :

सम नहीं इसिमती जोइ। छिन गरुअ छिन लघु होइ॥
देषंत त्रीय सुरंग। तब भयौ काम अनंग॥

यहाँ कवि का कथन है कि संयोगिता की सुन्दरता देखकर ही कामदेव अनंग हो गया परन्तु काम के अनंग होने की कथा शिव द्वारा भस्म किये जाने वाली है।

संयोगिता की रति और स्वेद-कणों को लेकर कवि ने शुक-मुख द्वारा मयंक और मन्मथ की उत्प्रेक्षा की है :

देषि वदन रति रहस। बुन्द कन स्वेद सुम्भ भर॥
चंद किरन मनमथ्थ। हथ्थ कुड्डे जनु डुक्कर॥
सुकवि चंद वरदाय। कहिय उप्पम श्रुति चालह॥
मनौ मयंक मनमथ्थ। चंद पुज्यौ मुत्ताहय॥
कर किरनि रहसि रति रंग दुति। प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय॥
सुक कहै सुकिय इंछिनि सुनव। पै पंगानिय सुन्दरिय॥

कन्नौज में गंगा-तट पर मछलियाँ चुनाते समय पृथ्वीराज ने संयोगवशात् समीपस्थ जयचन्द के प्रासाद के गवाक्ष पर अनन्य सुन्दरी राजकुमारी संयोगिता को देखा। भ्रमालंकार द्वारा कवि ने महाराज की भ्रांति का अपूर्व चित्रण किया है :

कुंजर उप्पर सिंह। सिंह उप्पर दोय पब्बय॥
पब्बय उप्पर भ्रंग। भ्रंग उप्पर ससि सुम्भय॥
ससि उप्पर इक कीर। कीर उप्पर म्रग दिट्ठौ॥
म्रग ऊपर कोवंड। संध कंद्रप्प बयट्ठौ॥
अहि मयूर महि उप्परह। हीर सरिस हेम न जर्यौ॥
सुर भुअन छंडि कविचंद कहि। तिहि धोषै राजन पर्यौ॥

अतिशयोक्ति में रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग का प्राधान्य है। कहीं वह स्वतन्त्र रूप में है और कहीं अन्य अलंकारों के साथ मिश्रित। एक स्थल देखिये :

अष्ट मंगलिक अष्ट सिध। नव निधि रत्न अपार॥
पाटंबर अंमर बसन। दिवस न सुझ्झहिं तार॥

दिन में सब वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं परन्तु ये वस्त्र इतने महीन हैं कि दिन में भी उनके तार नहीं दिखाई देते। वस्त्र की सूक्ष्मता उपमान है जिसके प्रतिपादन हेतु 'दिवस न सुझ्झहि तार' का प्रयोग करके भेदेप्यभेद: द्वारा बड़ी खूबी से रूपकातिशयोक्ति सिद्ध की गई है।

अप्रस्तुत के सर्वथा अभाव वर्णन वाले असम अलंकार का एक छन्द देखिए :

रूपं नहि कटाछ कूल तटयौ, भायं तरंगं बरं।
न्हावं भावति मीन ग्रासित गुनं, सिद्धं मनं भजनी॥

सोयं जोग तरंग स्त्रवति बरं, षीलोक्य मा ता समा।
सोयं साहि सहाब दीन ग्रहियं, अनंग क्रीड़ा रसं॥

इसमें सांगरूपक के मिश्रण की स्थिति भी समझ लेनी चाहिए।

इनके अतिरिक्त उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतीप, आवृत्ति, दीपक, सन्देह, सार, स्वभावोक्ति और अर्थांतरन्यास के भी सुन्दर निरूपण मिलते हैं। वैसे-रासो जैसे विशाल काव्य-ग्रन्थ में प्रयत्न करने पर सभी अलंकारों के उदाहरण मिलना असम्भव नहीं है। इन विभिन्न शैलियों के माध्यम से कवि ने अपनी रस-निष्पत्ति में यथेष्ट सहायता ली है। रस और अलंकार की सफल योजना को ही यह श्रेय है कि रासो के अनेक अंश मार्मिक, प्रभावशाली और मनोहर हो सके हैं।

छन्द

काव्य-शास्त्रियों का छन्दों पर यह अनुशासन नहीं है कि अमुक प्रकार के काव्य या अमुक रस में अमुक छन्द का ही प्रयोग होना चाहिए। फिर भी प्रबन्ध के लिए अवधी में जायसी और तुलसी की दोहा पद्धति तथा वीर-रस के लिए पृथ्वीराज रासो की छप्पय पद्धति ने पर्याप्त ख्याति पाई।

रासो में ६८ प्रकार के छन्द पाये जाते हैं जो उसका आकार देखते हुए अनुचित नहीं है। उनमें अधिक संख्या प्राकृत अपभ्रंशकालीन मात्रा वृत्तों की है। अनेक छन्दों के नाम नवीन अवश्य हैं और परवर्ती हिन्दी-साहित्य में सूदन और जोधराज को कुछ अंशों में छोड़कर उनका प्रयोग अपवाद है, फिर भी उनके रूप और लक्षणों का निर्धारण पिंगल छन्दः सूत्रम्, गाथा लक्षणम्, वृत्तजाति-समुच्चयः श्रीस्वयम्भूः छन्दः, कवि दर्पणम्, प्राकृत पिंगलम्, छन्दः कोशः, वृत्त रत्नाकर, छन्दार्णव पिंगल, छन्दः प्रभाकर प्रभृति संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के छन्द-ग्रन्थों की सहायता से किया जा चुका है। 'रासो' का छन्द-प्रकरण अपनी एक पृथक् समस्या है, उसके विषय में इस स्थल पर इतना मात्र कथन यथेष्ट होगा कि अभिव्यंजना के विचार से रासोकार ने अपने छन्दों का चुनाव अत्यन्त दूरदर्शिता से किया है।

डॉक्टर सत्येन्द्र

सूरसागर

सूर की रचना—'सूरसागर' सूरदास की रचना है। यही सूरदासजी की ऐसी रचना है, जिसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, जिसे सभी सूरदास की प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।[1]

सूरसागर का स्वरूप—वार्ता में 'सूरसागर' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ के लिए नहीं हुआ, वरन् सूरदास जी के लिए हुआ है।[2] सूरदास स्वयं 'सागर' थे, उनके पदों का संग्रह भी सागर कहलाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'सूरसागर' के पदों के सम्बन्ध में मतभेद है। सूरदास जी सम्बन्धी 'वार्ता' में यह उल्लेख है कि उन्होंने 'सहस्रविधि' पद लिखे। इसी के उपरान्त श्री हरिराम जी द्वारा सम्पादित 'वार्ता' में एक प्रसंग यों है—

"सो तब सूरदास जी मन में विचारे जो—मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियो है सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन और प्रकट करने।···········

·········वाही समय श्री गोवर्द्धनाथ की आपु प्रकट होय के दरशन दे के कह्यो जो—सूरदास जी! तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो है, सो तो पूरन होय चुक्यौ है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं।"[3] ये पचीस हजार कीर्तन 'सूरस्याम' की छाप से युक्त थे।

सूरदास के अन्तर्साक्ष्य से पदों की संख्या निर्धारित करने के लिए सूरसारावली के पद एक की ये पंक्तियाँ दी जाती हैं:

श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायौ,

---

1 डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है "गत पृष्ठों की विवेचना के फलस्वरूप सूरदास की केवल एक प्रामाणिक रचना, सूरसागर रह जाती है। इस रचना की सूचना वार्ता से भी मिलती है।"—सूरदास, पृ० ६७।

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त शेष सभी लेखक तथा विद्वान 'सूरसागर' के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाओं को भी सूरदास कृत मानते हैं।

२ "और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो--आवो सूरसागर! सो ताको आशय यह है, जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है। तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला कौ बरनन कियौ है।—'प्राचीन वार्त्ता रहस्य' तृतीय भाग पृष्ठ २३

३ 'प्राचीन वार्त्ता रहस्य' द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६।

ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार 'सूर' सारावलि भावत अति आनन्द ॥

इन कथनों से यह विदित होता है कि सूरदास ने सहस्रावधि अथवा सवा लाख अथवा एक लाख पद रचे। वार्ता के प्रसंग से एक बात तो यह स्पष्ट विदित होती है कि इस वार्ता के प्रचलित होते समय तक सूरदास जी के पदों की संख्या तो सवालाख मानी जाने लगी थी पर उसमें 'पच्चीस हजार' पद ऐसे थे जो सूरदास के नहीं थे। हो सकता है यह बात पदों में 'सूर-स्याम' छाप की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गई हो। किन्तु साधारणतः तो यही अनुमान होता है कि सूरदास के पदों में किसी अन्य के रचित पद भी सम्मिलित हो चुके थे। इसकी पुष्टि इसी वार्ता के एक अन्य प्रसंग से होती है :

> "पाछें देशाधिपति ने आगरे में आयके सूरदास के पदन की तलास कीनी। जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकूँ रुपैया और मोहोर देय। सो वे पद फारसी में लिखायकें बाँचै। सो मोहोर के लालच सो पण्डित कवीश्वरहू सूरदास के पद बनाय के लायें।"[1]

सूरदास के लाख सवा लाख पदों की गणना में सम्भवतः ऐसे भी अन्य कवियों द्वारा रचे जाली पद भी सम्मिलित हो गए होंगे। पर इतना होने पर अभी तक जो पद सूरदास-कृत पाये गए हैं, वे सब ८-१० हजार से अधिक नहीं हैं।

सूरदास की रचनाओं का संग्रह अकबर के समय में ही होने लगा था। अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ सं० १६६७ का लिखा हुआ है।[2] यह प्रति राठौर वंश की मेड़तिया शाखा के महाराज किशनदास के पठनार्थ लिखी गई थी।[3] किन्तु अभी तक ऐसा कोई भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है। जिसमें सूर के समस्त पद सम्मिलित हों। प्रकाशित और प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में तो उनके रचित पद हैं ही, पर उनके बहुत से पद तो वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनों में ऐसे मिलते हैं, जो कहीं भी सम्मिलित नहीं हैं। अतः यह सम्भव नहीं कि सूरदास द्वारा रचित पदों की ठीक संख्या बताई जा सके। इस दिशा में अभी खोज चल रही है और चलती रहनी चाहिए। वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनादि में मिलने वाले भी समस्त पदों का संग्रह होना चाहिए। जहाँ तक सूरदास के पद-निर्माण की सामर्थ्य का प्रश्न है यह कहा जाता रहा है कि वे कभी पुराना पद गाते ही नहीं थे। इस प्रकार 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने हिसाब लगाकर यह निष्कर्ष निकाला है :

"यदि इन पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है। हमने सूरदास के पदों की जो आनुमानिक गणना की है, वह कम-से-कम है और प्रामाणिक आधार पर है, अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है।"[4]

---

१. वही पृष्ठ सं० २७। भावप्रकाश वाला यह वार्ता-प्रसंग सं० १७२८ से १७७२ में हरिराय द्वारा लिपिबद्ध किया गया होगा। 'दे० सूर-निर्णय' पृष्ठ २३ अतः अठारहवीं शताब्दी तक के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सूरदास की मौलिक रचनाओं में प्रक्षिप्त पद मिल गए थे।

२, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृष्ठ १५८।

३. वही पृष्ठ ग।   ४. सूर-निर्णय, पृष्ठ १७४।

१.	उनकी ये संख्या इस प्रकार है—१८ वर्ष से ३१ वर्ष की आयु तक वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व—	४५०० पद (प्रतिदिन एक)
२.	श्रीनाथ कीर्तन में आठ पहर के आठ गीत प्रतिदिन—प्रतिवर्ष २८८० पद आधे पद कुम्भनदास के निकाल दें तो १४४० वर्ष में, अतः १५६७ से १५७७ तक ११ वर्ष में—	१५८४० पद
३.	परमानन्ददास के कीर्तनियाँ नियुक्त होने पर सूरदास के वार्षिक पद एक तिहाई २९६०, कम-से-कम ९०० सं० १५७७ से १६०२ (अष्टछाप स्थापना का संवत्) तक २५ वर्ष—	२२५०० पद
४.	अष्टछाप की स्थापना के उपरांत वार्षिक संख्या का ⅓ सूर ने रचा होगा—२३६० पद अतः १६०२ से १६४० तक—३९ वर्ष—	१४०४० पद
५.	सं० १६०२ से विट्ठलनाथ जी ने अनेकों वर्षोत्सव बढ़ाये—समस्त उत्सवों के दिनों का परिमाण ९ मास, इसके २७० पद—३९ वर्ष के उत्सवों के पद—	१०५३० पद
६.	शयनोत्तर दीनता-आश्रय के पद—ये महाप्रभु के समय से ही—७३ वर्ष के ये पद—	२६२८० पद
७.	लीला सिद्धान्त आदि के अन्य पद और जोड़ें तो लाख-सवा लाख तक संख्या पहुँचेगी ।[१]—	९३३५० पद

सूर-सागर का विषय—सूर-सागर सूर के मानस-रत्नों का सागर है, किन्तु उसका भी एक आधार रहा है। वह आधार मुख्यतः 'भागवत' है, स्वयं 'सूर' ने कई स्थानों पर स्पष्ट स्वीकार किया है—उदाहरणार्थ स्कंध १, पद २२५ में यह स्वीकृति है :

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ ।।

फिर भी 'भागवत' और 'सूर-सागर' की तुलना से यही विदित होता है—

"सूर-सागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है अनुमान में भी उनमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथा-वस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूर-सागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।"[२]

अतः विषय की दृष्टि से 'सूर-सागर' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—

१. विनयादि

२. भागवतादि के आधार पर अन्य पौराणिक कथाओं का स्वतन्त्र वर्णन ।

३. कृष्णलीला—इस कृष्णलीला में ही कवि ने 'भागवत' से स्वतन्त्र कई नई उद्-भावनाएँ की हैं—जैसे—"राधाकृष्ण-मिलन, पनघट का प्रस्ताव, दान-लीला, खण्डिता समय,

---

१. 'सूर-निर्णय' पृष्ठ १७०—१७४

२. सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा-कृत—पृ० १०३-१०४ ।

मान लीला, वसन्त और फाग का हिंडोल लीला।"[१] अनय भक्ति की प्रधानता, राधा का महत्त्व, गोपिकाओं का स्वरूप भी सूर ने अपनी प्रतिभा से नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस कवि का मुख्य लक्ष्य सूर-सागर में 'कृष्णलीला वर्णन' है। यही दशम स्कन्ध का विषय है।

'सूर-सागर' के विषय का विस्तृत परिचय 'सूर-सौरभ' के आधार पर संक्षिप्त करके दिया जा सकता है।[२] वह इस प्रकार है :

प्रथम स्कन्ध—इसमें भक्ति की सरस व्याख्या उपलब्ध होती है।

प्रथम स्कन्ध में विनय एवं भक्ति के पदों की ही प्रधानता है।

विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त इस स्कन्ध में श्री मद्भागवत के निर्माण का प्रयोजन, शुकदेव की उत्पत्ति, व्यास अवतार महाभारत की कथा संक्षिप्त परिचय, सूत शौनक संवाद भीष्म की प्रतिज्ञा, भीष्म का देह-त्याग, श्री कृष्ण-द्वारिका-गमन, युधिष्ठिर का वैराग्य, पाण्डवों का हिमालय-गमन, परीक्षित का जन्म, ऋषि का शाप, कलियुग को दण्ड देना आदि प्रसंगों का भी भागवत के प्रथम स्कन्ध के अनुसार वर्णन है।

द्वितीय स्कन्ध—श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध की कथा के अनुसार इसमें भी सृष्टि की उत्पत्ति, विराट पुरुष, चौबीस अवतार, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस स्कन्ध के प्रारम्भ में भक्ति-महिमा, सत्संग महिमा, भक्ति-साधन, आत्म-ज्ञान तथा भगवान् की विराट रूप में आरती का वर्णन है।

तृतीय स्कन्ध—जिनमें भागवत के तृतीय स्कन्ध के अनुसार उद्धव-विदुर-सम्वाद, विदुर को मैत्रेय से भगवान् के बताये हुए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुष्यों की उत्पत्ति, देवासुर जन्म बारह अवतार, कर्दमदेवहूति का विवाह, कपिल मुनि का अवतार, देवहूति का कपिल से भक्ति सम्बन्धी प्रश्न, भक्ति-महिमा और देवहूति की हरि-पद-प्राप्ति आदि कथाओं का वर्णन है।

चतुर्थ स्कन्ध—यज्ञ पुरुष अवतार पार्वती विवाह ध्रुव कथा, पृथु अवतार तथा पुरंजन आख्यान का वर्णन पाया जाता है।

पंचम स्कन्ध—में ऋषभदेव अवतार, जड़ भरत की कथा तथा उनका रहूगणों के साथ सम्वाद वर्णित हुआ है।

षष्ठ स्कन्ध—में भागवत के आधार पर अजामिल-उद्धार की कथा, इन्द्रा द्वारा बृहस्पति का अवतार, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरु की महिमा तथा गुरु कृपा से इन्द्र को पुनः सिंहासन की प्राप्ति आदि का वर्णन है।

सप्तम स्कन्ध—में भागवत के आधार पर नृसिंह अवतार का वर्णन किया गया है। परन्तु श्री भगवान् द्वारा शिव की सहायता और नारद की उत्पत्ति की कथाएं भागवत के इस स्कन्ध में नहीं मिलतीं।

अष्टम स्कन्ध—से गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र मंथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है।

---

१. सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा पृष्ठ १०६

२. सूर-सौरभ : प्रो० मुन्शीराम शर्मा सोमकृत पृष्ठ १४-२० (तृतीय भाग)

नवम स्कन्ध—में श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीक और सौभरि ऋषि के उपाख्यान, भागीरथ द्वारा गंगा का भूगोल से आगमन, परशुराम-अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में गौतम अहिल्या का तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है जो भागवत के नवम स्कन्ध में नहीं है। सूर को भगवान् कृष्ण का रूप अधिक प्रिय है। वैसे ही जैसे तुलसी को राम का। पर सूर ने राम-चरित्र का भी हृदय-हारी चरित्र-चित्रण किया है। राम के बाल-रूप-वर्णन में तो, अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल, वे तल्लीन हो गए हैं, सीता का विरह-वर्णन भी अद्वितीय है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध—सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर के कवित्व की कोमलता, कमनीयता और कला, भगवद्भक्ति, भावुकता और भव्यता, वैलक्षण्य, विलास, व्यंग्य, और विदग्धता सबका स्रोत यहीं तो है, जहाँ से यह भिन्न-भिन्न भाव-धाराएँ फूट-फूटकर सूर-सागर में समाविष्ट होती हैं और उसके नाम को चरितार्थ करती हैं। इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिलित संख्या के पाँच गुने से भी अधिक है। भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है। इसमें भगवान् कृष्ण की जन्म-लीला, मथुरा से गोकुल आना, छटी, पूतना-वध, शकटासुर और तृणावर्त का वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्ण-छेद, घुटनों के बल चलना, बाल-वेश, चन्द्र-प्रस्ताव, कलेवा, माटी खाना, माखन-चोरी, गो-दोहन, वत्स-बक-अघासुर वध, ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरण, राधाकृष्ण का प्रथम साक्षात्, ब्रीड़ा राधा का श्याम के घर जाना, श्याम का राधा के घर जाना, गो-चारण, धेनुक-वध, कालिय-दमन, दावानल-पान, प्रलम्ब-वध, मुरली चीर हरण, पनघट, गोवर्धन-पूजा, दान-लीला, नेत्र-वर्णन, रास-लीला, राधाकृष्ण का विवाह, मान-लीला, हिंडोल-लीला, वृषभ-केशी-भौमासुर-वध, होरी-लीला, श्रीकृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा जाना, मुष्टिक चाणूर-वध, कंस-वध, उग्रसेन को सिंहासनासीन करना, वसुदेव-देवकी के दर्शन करना, यज्ञोपवीत, कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसंगों के वर्णन में जितनी रुचि रमी है उतनी अन्यत्र नहीं। प्रेम ही सूर का प्रधान क्षेत्र था, और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और वरिष्ठ वर्णन सूर-सागर में है उतना और कहीं नहीं।

दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध—दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में जरासंध से युद्ध, द्वारिका-निर्माण, कालयवन-दहन, मुचकुन्द का उद्धार, द्वारिका-प्रवेश, रुक्मिणी-हरण, प्रद्युम्न-विवाह, ऊषा-अनिरुद्ध-विवाह, नृगराज का उद्धार, बलराम का ब्रज-गमन, सांब-विवाह, कृष्ण का हस्तिनापुर जाना, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व का द्वारिका पर आक्रमण, शाल्व-वध, दन्त-वक्र और बल्वल का वध, सुदामा-दारिद्रय-भंजन, कुरुक्षेत्र में आगमन और नन्द-यशोदा तथा गोपियों से मिलना, वेद-स्तुति, नारद-स्तुति, सुभद्रा-अर्जुन का विवाह, भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा आदि विषयों का वर्णन है, जो भागवत के ही अनुसार है।

एकादश स्कन्ध—इसमें श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजने, नारायणावतार तथा हंसावतार का वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध—इसमें बौद्धावतार, कल्कि-अवतार तथा राजा परीक्षित और जनमेजय की कथाएँ हैं। अवतारों का वर्णन भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुसार है।

सूर-सागर के काव्य की पृष्ठभूमि—सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार संवत्

१५३५ में हुआ, सन् १४७८ ई० में। मृत्यु सं० १६४० के लगभग हुई[1] सन्, १५८३ ई० में। १०५ वर्ष इस काल में भारतीय इतिहास की एक शताब्दी व्यतीत हुई और एक नहीं कई परिवर्तन इस काल में हमें दिखाई पड़ते हैं—सूरदास का समय अकबर के राज्य-काल तक आता है उससे पूर्व की एक शताब्दी बहुत धार्मिक हलचलों और ऐतिहासिक उथल-पुथलों की थी। समस्त युग सामन्तवादी था। छोटे-छोटे राज्य छोटे-छोटे सामन्त। प्रत्येक राज्य और प्रत्येक सामन्त की अपनी अलग आन-बान-शान। इनमें परस्पर भी युद्ध होते थे, और अब तक—अकबर से पूर्व तक विदेशी माने जाने वाले दिल्ली के मुसलमानी शासकों से भी युद्ध होते थे। छुट-पुट मुसलमानी राज्य दक्षिण में भी स्थापित हो गए थे। इनमें भी इस युग की सामन्तवादिनी भावना थी। दिल्ली की केन्द्रीय-शक्ति मुसलमानी-शासन-स्थापन होने के बाद एक बादशाह के बाद दूसरे के हाथों में प्रायः इतनी जल्दी-जल्दी गई थी, और राजकीय लड़ाइयाँ जहाँ-तहाँ आए दिन इतनी अधिक होती रहती थीं कि साधारण जन न तो उनमें रस ही पाता था, न बल। राजा-बादशाहों के लिए भी यह उचित ही था कि वे प्रजा को पीड़ित न करें—आए दिन यदि प्रजा का विनाश होगा तो राजा के हाथ क्या लगेगा। फलतः प्रजा को भी युद्धों से वैराग्य था, युद्धों से नहीं राजनीति से भी। वे अपने कार्य में व्यस्त रहते, जो भी राजा होता उसे कर देकर अपनी शान्ति वे खरीदते रहे। इस काल की राजनीति-विषयक साधारण जन की भावना वही थी जो मन्थरा ने विरक्त होकर कैकेयी के समक्ष प्रकट की थी :

> कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।
> चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

राजनीति से विरक्त जनता अपने व्यवहारों में ही मग्न नहीं होती गई, अपने व्यसनों में भी डूबी। व्यसन था धर्म, और यह व्यसन इस युग में जीवन और व्यवहार का मुख्याधार बन गया था। राज्य और राजनीति से विरक्त मन के लिए ही धर्म आधार नहीं था, वह तो राज्य और राजनीति से भी गहराई के साथ चिपक गया था। राज्य और राजनीति से चिपके इसी धर्म का अत्याचार प्रजा और जनता को भोगना पड़ता रहा था, और इस धार्मिक अत्याचार का कोई-न-कोई प्रभाव सूरदास जी ने भी अनुभव किया ही होगा। यदि इस युग की राजनीति और राज्य धर्म के आवरण से युक्त न होते तो इस काल का ही नहीं, भारत के ही इतिहास का रूप कुछ भिन्न होता, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी कारण साधारण जन राजनीति से विरक्त ही नहीं हुआ, विमुख भी हो चला। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का नारा बुलन्द भी हुआ, पर वह जम नहीं सका। इसी कारण साधारण जन को अपनी अभाव-पूर्ति के लिए अपनी राज्य-भक्ति की भावना की तुष्टि के लिए अपने मनोनुकूल राजा की आवश्यकता प्रतीत हुई—

> भारतीय प्रजा क्या चाहती थी—वह चाहती अपने लिए राजा, क्योंकि वह राजा में विश्वास करती थी, राजतन्त्र में पली थी, राजतन्त्र का वह युग था।
>
> ऐसा राजा जो उनका प्रतिपालन करे—राजा की सत्ता का इस युग में यही तो प्रधान धर्म था।
>
> ऐसा राजा, जो उन्हें कल्याण का मार्ग बताय—अन्यथा विदेशी मुसलमान शासक भी राजा थे ही, उन्हें यह भी राज्य-भक्ति प्रदान करता।

---

१. सूर-निर्णय पृष्ठ १०४।

ऐसा राजा, जिसका पार्थिव वैभव भी महान् हो—राज-कोष का सत्ता के वैभव से इस सामन्तवादी युग में गठ-जोड़ा था।

ऐसा राजा, जो धर्म की धुरी को भी धारण करने वाला हो, क्योंकि मुसलमानी शासन ने धर्म और राजा को मिला दिया था।

ऐसा राजा, जो भगवान् का अंश ही न हो, उनका अवतार ही हो—राजा में भगवान् अंश होता है यह तो भारत में बद्धमूल धारणा थी ही, किन्तु इस धारणा से तो वे मुसलमान-शासक को भी अपनी भेंट देते ही थे, पर भगवान् के उस अंश पर अश्रद्धा जो हो रही थी तो भगवान् का अवतार ही उनकी तुष्टि कर सकता था।

राजा ऐसा भी हो जो उनका गुरु हो सके—इस युग में सन्त मत के द्वारा गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था—'निगुरा' व्यक्ति हीन दृष्टि से देखा जाता था। कबीर को भी इसी भावना के आगे हारकर गुरु करना पड़ा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रतिभा ने और गोसाईं विट्ठलनाथ की व्यावहारिक बुद्धि ने इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक मूर्त रूप 'पुष्टिमार्ग' में खड़ा कर दिया—

महाप्रभु और गोसाईं तथा उनके पुत्र भगवान के अवतार ही नहीं स्वयं भगवान् हुए।[1] इनके द्वारा त्रिविध भगवान् का सम्बन्ध प्रस्तुत हुआ—

१ मूल भगवान्—स्वयं कृष्ण
२ विग्रह भगवान्—कृष्ण जी की विविध मूर्तियाँ
३ गुरु भगवान्—वल्लभाचार्य जी तथा गोसाईं जी[2]

---

१. हरि गुण एक रूप नृप जान—सूरदास। विट्ठलनाथजी के जन्म के समय सूरदास ने यह पद गाया—

श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।
श्री लछमन सुत द्विज के राजा, कीजै कहा बड़ाई,
बहुरि कृष्ण अवतार लियौ है, सदन तुम्हारे आई।
कोटि-कोटि कलि जीव उद्धारन, प्रगटे श्री जदुराई,
चिरजीवौ अक्काजी कौ सुत; श्री विट्ठल सुखदाई।
गिरिधरलाल कौ ढाढ़ी कहावें, 'सूरदास' बलि जाई।

२. सूरदास ने सेवा-विधि का उल्लेख जिस पद में किया है, उसमें इस एकसूत्रता का स्पष्ट आभास है—

भजो गोपाल भूलि जिन जीवौ,
मनुषा देह कौ यहि है लहावौ।
गुरु-सेवा करि भक्ति कमाई···
उठिकै प्रात गुरन सिर नावें
प्रात समै श्रीकृष्ण ही ध्यावें···
जो ठाकुर को करे प्रनाम···
सेवा की यह अद्भुत रीति
श्री विट्ठलेश सों राखै प्रीति····आदि।

इनमें राज्य-वैभव की प्रतिष्ठा भी बड़ी युक्ति से की गई। भगवान् के विग्रह को 'ठाकुर' कहा गया। 'ठाकुर' इस युग में राजा के लिए ही प्रयोग में आता था। सूरदास जी ने भगवान् को ठाकुर बताकर उनके राज्य-शासन का ही उल्लेख रूपक से किया है।[1] वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी की सेवा के विधान में पूर्ण राजसी वैभव का समावेश किया। ठाकुर जी के विविध वर्णन राजसिक वैभव और ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। मणि, मोती, हीरा, मूँग, स्वर्ण से कम का उल्लेख तो हुआ ही नहीं। और यह वर्णन काल्पनिक नहीं यथार्थ था, क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदायों के मन्दिरों में वह उपलब्ध था।

इस विधि के राजनीतिक राज्य-विधान के अन्तर्गत एक धार्मिक राज्य-विधान इस युग में खड़ा हो गया। धार्मिक और स्वेच्छा पर निर्भर करने वाला होकर यह मन में गहरा प्रभाव प्रस्तुत करने वाला था—इसी ने भक्तजनों को 'तन मन धन सब गुसाईं जी के अर्पण' करने को बाध्य किया।

सूर-सागर का विश्लेषण—इस पृष्टभूमि पर सूर-सागर बना और इस सबकी झिलमिलाहट सूर-सागर में विद्यमान मिलती है : सूर-सागर के काव्य के विश्लेषण से हमें उसमें तीन तत्त्व मिलते हैं—

१—पुराण-कथा, २—वर्णन-वैभव, ३—भाव-सम्पत्ति

इसमें 'पुराण-कथा' तो भागवत के अनुसार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अतः उसका सम्बन्ध मुख्यतः मूल कृष्ण से है। वह कृष्ण जो परम तत्त्व हैं और जिनके अवतार वल्लभ और विट्ठल हैं। पर उसमें जो वर्णन-विस्तार, विशदता और राजसिकता है, वह मन्दिरों और आचार्य गुरुओं के वैभव के आधार पर हैं। भगवान् के रूप की और शृङ्गार की कल्पना में पौराणिक शृङ्गार के बीज के साथ विस्तार उस शृङ्गार का है जो प्रतिदिन मन्दिर में ठाकुरजी का किया जाता था। वार्ता में स्पष्ट है कि सूरदासजी अपने कीर्तनों में जैसा शृङ्गार ठाकुरजी का होता था, वैसा ही वर्णन करते थे।[2] इस कथा और वर्णन-वैभव के साथ 'भाव-सम्पत्ति का बड़ा मनोरम समागम है। यह भाव-सम्पत्ति आचार्य और गोसाइंयों के प्रति भक्ति की प्रेरणा से प्रभावित थी। स्वयं सूरदास ने अपनी भाव-सम्पत्ति की कुञ्जी एक पद में दी है, उसकी पुष्टि और व्याख्या 'वार्ता' से भी होती है कि सूरदास की रचना का मूल मर्म महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति ही थी।[3] यह व्यक्तिगत धरातल पर इतनी गहरी थी कि सूर की कृष्ण-लीला के मौलिक वर्णनों

---

१. यथा-हरि सौं ठाकुर और न जन कौ।
तथा
हरि के जन की अति ठकुराई। आदि

२. देखिए प्राचीन वार्ता रहस्य में सूरदास की वार्ता का 'वार्ता प्रसंग ६' "ये तीनों भाई कहे जो—ये सूरदास जी, जैसा शृङ्गार नवनीत-प्रिया जी को होत है, तैसे ही वस्त्र-आभूषण वरणन करत हैं।—पृ० ३०

३. वार्ता प्रसंग यों है—"सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गुसाईं जी के पास ठाढ़े हुते। उनमें से चत्रभुजदास ने कह्यौ जो—सूरदास जी परम भगवदीय हैं, और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं, परन्तु सूरदास जो ने श्री आचार्य जी महाप्रभुन को जस बरनन नांही कियो।

में वात्सल्य के चित्र जैसे विठ्ठलनाथ के दो बाल-जीवन के चित्र प्रतीत होने लगते हैं। इस गोवर्द्धन और गोवर्द्धनधारी के ढाढी-कीर्तनियाँ सूर के इन वात्सल्य वर्णनों में जो तन्मयता और भक्ति है, और उसमें काव्य-वस्तु को जो यथार्थता है, वह उनके किसी अन्य वर्णन में नहीं है। इसी कारण सूर के सूर-सागर में काव्य-वृत्ति का विकास कुछ इस प्रकार सिद्ध होता हुआ दिखाई पड़ता है :

यथार्थ-स्तर—भावमय स्तर—बौद्धिक स्तर

भाव-तन्मयता भाव-माधुर्य भावं-समृद्धि

वात्सल्य संयोग वियोग

सूर-सागर का समस्त काव्य वात्सल्य तथा शृङ्गार-रस से युक्त है। इन रसों की क्रमशः स्थिति उपरोक्त विधि से ही है : वात्सल्य, उसके उपरान्त संयोग-शृङ्गार तदनन्तर वियोग। 'वात्सल्य' में कृष्ण की बाल-क्रीड़ाएँ हैं। जिनमें भक्ति की भाव-संयोजना के साथ बालक के मानसिक विकास का सूत्र भी परिलक्षित होता है। इस वात्सल्य के यथार्थ में आरम्भ से ही गोपियों के प्रेम का अवलम्ब दृष्टिगत होता है। पहले यह गोपी-कृष्ण-प्रेम अत्यन्त साधारण धरातल पर है : गोपियाँ कृष्ण को चाहती हैं, कृष्ण गोपियों के घर में घुसकर उपद्रव करते हैं, माखन चुराते हैं। कृष्ण इस समय बालक ही हैं किन्तु उनका कृष्ण पर प्रेम यशोदा के प्रेम से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रेम कुछ विकसित होते ही 'राधा' सामने आ जाती है और गोपियों के प्रेम की पृष्ठभूमि पर ही राधा-कृष्ण के प्रेम की लीला होने लगती है। इसकी चरम परिणति रास में होती है, तभी 'वियोग' हो जाता है, इस वियोग का चरमोत्कर्ष 'भ्रमर-गीत' में होता है। वात्सल्य में भावतन्मयता है, कृष्ण की बाल-लीलाओं के अवलम्ब के साथ। संयोग में भाव-माधुर्य है वयः सन्धि और अंकुरित यौवन के साथ-मुरली और रास का इस संयोग में विशेष स्थान है। इन सबमें भाव का ही अस्तित्व प्रधान है इस काल की क्रीड़ाओं में किसी का भी अवलम्ब यथार्थ नहीं, प्रत्येक यथार्थ के संकेत में शृङ्गारिक कल्पना से भावोद्रेक है जिसमें मधु और माधुर्य है—जिसमें गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण दोनों ही महकते हैं—तब वियोग में यह भाव-मुग्धता तो कम हो जाती है, बौद्धिक पक्ष प्रबल हो उठता है। बौद्धिक होकर गोपियाँ अपने प्रेम-उन्माद के लिए युक्तियों तथा तर्कों का भी सहारा लेती हैं।

सूर-सागर का काव्य—इस विश्लेषण से सूर के काव्य के तन्तुओं का परिचय मिल जाता है। किन्तु सूर का काव्य इन तन्तुओं से निर्मित होते हुए भी, इन्हीं में नहीं है। इन तन्तुओं को जो मानव-कल्याण की महत् भावना अभिमण्डित किये हुए है, वह न समय की परिधि से घिरी हुई है, न सम्प्रदाय की सीमाओं से। मानव में उसके शारीरिक सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ मानसिक मुग्धता अवतीर्ण करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि इस काव्य के द्वारा सम्पन्न होती है। उस पर आज विचार नहीं किया जा सकता।

यह सुनि के सूरदास जी कहे जो—मैं तो सगरो जस श्री आचार्य जी को ही बरनन कियो है। जो मैं कछु न्यारो देखतो तो न्यारो करतो। परि तैंनें मोसों पूछी है, सो मैं तेरे पास कहत हौं, सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियो सो पद राग विहाभरी—भरोसो इन दृढ़ चरणन केरो। पृ० ४२ प्राचीन वार्ता रहस्य।

डॉ० रांगेय राघव

रामचरितमानस

महाकवि तुलसीदास के चिरस्मरणीय महाकाव्य का नाम ही राम के चरित्र के मानसरोवर में पाठक को अवगाहन कराता है। मानसरोवर तुलसी के युग में एक प्रचलित नाम था। लोग जानते थे कि यह हिमालय के उत्तरस्थ प्रदेश में एक झील है, जो पुरातन काल से ही अति पवित्र है, कलियुग में तो किसी तीर्थ से कम नहीं। उस झील में तुलसी ने अपने पाठक को भक्ति की लहरों में निमज्जित कर दिया। तुलसी के ग्रन्थ का रूप एक काव्य का रूप नहीं, एक पुराण का रूप है। पुराण के रूप और काव्य के रूप में मूल भेद है। आगम और निगम करके जो ग्रन्थ प्रचलित हैं वे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचारक दृष्टिकोण को सामने रखकर लिपिबद्ध किये गए हैं। अतः उनमें प्रश्नोत्तरी का रूप सबसे सहज माना गया है। यह परम्परा पहले संस्कृत में रही। परवर्ती काल में दत्तात्रेय, नाथ, कबीर नामक पन्थों में होती हुई यह तुलसी के काव्य में भी प्रस्फुटित हुई। आज बहुत से जिज्ञासु कहते हैं कि तुलसी के इस पुराणकाररूप को देखना व्यर्थ है। वस्तुतः यह एक संकीर्णतावाद है जो परिस्थिति को पूर्णतया अध्ययनपूर्वक देखने के पहले अपने सिद्धान्त बनाकर उस पर सबको फिट करके अपना ही राग अलापना चाहता है। परन्तु इतिहास व्यक्तियों के स्वभावों की कारीगरी नहीं, वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण चाहता है। इसीलिए किसी भी कवि का मर्म समझने के लिए उसके उस रूप को अवश्य जान लेना चाहिए, जिसके द्वारा उसने संसार से और उसकी सामाजिक प्रक्रिया से अपना सम्बन्ध निर्धारित किया है। क्योंकि यदि एक ओर वह समाज से प्रभावित हुआ है, तो दूसरी ओर उसने समाज को प्रभावित भी किया है। तुलसी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरांश में ही नहीं, अपनी मृत्यु के बाद भी शताब्दियों तक गहरा प्रभाव डाला है। इस प्रभाव डालने का कारण जहाँ एक ओर उनकी सुन्दर काव्य-शक्ति है, दूसरी ओर उनके काव्य का धार्मिक स्वरूप भी है। तुलसीदास का काव्य एक कवि की प्रेरणा-मात्र का फल नहीं, वरन् वह एक गहरे अध्ययन और चिन्तन का वह जागरूक स्वरूप है जिसे महाकवि प्रस्तुत करना चाहते थे।

तुलसी ने १६वीं शती में अपना काव्य रचा। इस युग में निस्सन्देह रामकथा को लेकर लिखना अपना एक ध्येय रखता था। रामायण का ग्रन्थ प्रसिद्ध था और एक नहीं उस समय अनेक रामायण थीं। श्री रामदास गौड़ ने निम्नलिखित रामायणों का उल्लेख किया है—संवृत-रामायण, अगस्त्य रामायण, लोमस रामायण, मञ्जुल रामायण, सौपद्य रामायण, रामायण महामाला, सौहार्द रामायण, रामायण मणिरत्न, सौर्य्य रामायण, चान्द्र रामायण, मैन्द रामायण, स्वायम्भुव रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण चम्पू तथा अध्यात्म रामायण। इसके अतिरिक्त रामायण की कथा १८ पुराणों और महाभारत में भी आई है। इन सब रामायणों की कथाओं में थोड़ा बहुत भेद भी है। एक

महत्त्वपूर्ण भेद है कि महाभारत की रामायण-कथा में तो सीता का अग्नि-प्रवेश ही नहीं होता जो वाल्मीकि रामायण में होता हुआ दिखाया गया है। तुलसीदास ने इनमें से कितनों को पढ़ा होगा यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता, परन्तु वे गहरे विद्वान् थे यह हमको सदैव स्मरण रखना होगा। इन सब रामायणों के अतिरिक्त स्वयंभूदेव (७६० ई०) ने भी रामायण लिखी थी। यह कवि जैन था। परन्तु 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' जो रामायण तुलसीदास ने लिखी है, उसका मूलाधार है—वह लिखता हूँ जो मैंने अपने गुरु से सूकरखेत में सुनी थी। इसका कारण था कि तुलसीदास राम की कथा की शृङ्खला-मात्र को अपना कर्तव्य नहीं बनाये हुए थे, वे और गम्भीर रहस्यों को ढूँढकर उनका हल प्रस्तुत करना चाहते थे। महाकवि रवीन्द्र बहुधा कहते थे कि बीसवीं शती में एक युग-व्यापक महाकाव्य लिखना कठिन है। सम्भवतः तुलसी के युग में भी यही प्रश्न था। एक ओर सूर कृष्ण पर निर्भर थे, दूसरी ओर सूफी कवि अपनी कहानियाँ गढ़ते थे। तुलसी को एक युग-व्यापी विषय की आवश्यकता थी। उसने सफलता से रामायण को लिया और अमरता की देहली पर गौरव के पुष्पों को चढ़ाकर न केवल उसने अपने देवता को प्रसन्न कर लिया, वरन् अपने पीछे के दर्शनियों का हृदय भी गन्ध से भर दिया। इस प्रकार राम-कथा की एक विराट् परम्परा के अन्तिम जाज्वल्यमान चरण बनकर तुलसीदास उपस्थित हुए, जिन्होंने राम-कथा के अतिरिक्त सामाजिक नियमन और शास्त्र-प्रतिपादन, दर्शन-विवेचन के लिए प्रश्नोत्तरी का ढाँचा लेकर एक धर्मपुराण लिखा जिसका काव्य-सौन्दर्य भी श्रेष्ठ था और जिसका सन्देश भी युगानुरूप-सा ही दीखता था।

यहाँ तुलसी के काव्य का भेद अन्य रामायणों से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण में नारद ने वाल्मीकि को राम के पूर्णत्व का उपदेश दिया। किन्तु वह एक महापुरुष का ही वर्णन था जिसमें सब महान् गुण हों। निस्सन्देह वाल्मीकि रामायण में यह अंश क्षेपक है, क्योंकि वाल्मीकि के लिए जो श्रेष्ठ विशेषण आये हैं वे वाल्मीकि ने स्वयं अपने लिए नहीं लिखे होंगे। अश्वघोष के समय में भी आख्यानक प्रचलित थे। 'उनमें बहुत झूठ है, अतः उन्हें नहीं सुनना चाहिए,' यह अश्वघोष ने उन आख्यानक काव्यों के विषय में कहा था। चमत्कार रामायण कथा में बढ़ते गए हैं यह हम महाभारत कथा का ऊपर उल्लेख करके प्रकट कर चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में चमत्कार भरे पड़े हैं। राम-कथा तो बहुत पुरानी है, कब की है, उसकी तिथि तो निश्चित नहीं की जा सकती, परन्तु वह उस बर्बर युग (अर्थात् दास प्रथा वाले युग) की है जो महाभारत से पहले का था। उसका रूप प्रत्येक आने वाले युग में चमत्कारों से बढ़ता गया और वाल्मीकि रामायण, जो लगभग शुङ्गकाल की है, उसमें स्थिर हो गया। वास्तव में उस समय तक रामायण-कथा का प्रायः संपादन हो चुका था। वाल्मीकि रामायण के उस संपादन पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि यह तत्कालीन समाज के प्रकाश में काफी रँगी गई। राम को एक महान् नायक के रूप में उपस्थित किया गया। परन्तु वह मनुष्य ही रहा, याद रहे कि उस समय तक सामंतवाद के प्रसार ने प्रायः ही वे गण नष्ट कर दिये थे जो दास-प्रथा के बल पर रक्त गर्व के सिद्धांत को लेकर अवशिष्ट थे। दासयुग के वे एक तंत्र राज्य भी महाभारत-युद्ध के बाद अपने-आपको एकतंत्र के रूप में जीवित रखने में असमर्थ हो गए थे। उस समय उच्चकुलों ने दास-प्रथा को कायम रखने के लिए ग्रन्थों की रचना की थी। वे गण इसलिए नष्ट हो गए—

(१) नदियों का व्यापार बढ़ने से व्यापार का संतुलन बदल गया। वाणिज्य बढ़ा। व्यापारियों को बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। दास-प्रथा अब व्यापारी के लिए लाभदायक नहीं थी, क्योंकि कच्चा माल इधर से उधर ले जाने की बनिज में, गणाधिपति उतना लाभ नहीं दे सकते थे जितना किसान। इसलिए 'सर्फ' अधिक लाभदायक हुआ अर्थात् किसान।

(२) रक्त-गर्व और कुल-गर्व सामंत-काल में भी रहा अवश्य, और जन्मना ही रहा। परन्तु उसमें विवाहादि की ढील आई और गर्व के कारण एक दूसरी जाति के आवागमन में रोक-टोक नहीं रही।

(३) यात्रा की रक्षा के लिए बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती गई साम्राज्य बनते गए।

(४) दास और शूद्र, जो दलित थे उन्होंने सिर उठाया। दास जो पहले उत्पादन-प्रणाली में जुतता था वह अब पारिवारिक दास हुआ, और शूद्र किसान बना। इसको ब्राह्मणों ने बदलती परिस्थिति में स्वीकार कर लिया और वे फिर से समाज के नियंता बने।

(५) महाभारत-युद्ध के बाद बर्बर अर्थात् दास युग के समाज का ढाँचा बदला। पुराना चातुर्वर्ण्य बदला। पहले आर्य ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होते थे, तथा शूद्र सब अनार्य थे, या अन्य जातियाँ अलग पुकारी जाती थीं जैसे राक्षस, नाग इत्यादि। अब वही चातुर्वर्ण्य सामंतीय व्यवस्था के लिए अपने-आप बदला। अब सब जातियों का परस्पर मिलन हुआ। सब पुजारी वर्ग ब्राह्मण,योद्धावर्ग क्षत्रिय, व्यापारीवर्ग वैश्य और कमकरवर्ग शूद्र हुआ। और चार मुख्य भागों में बटा समाज अपनी वर्गाधीन स्वतंत्रता का उपभोग करता, असंख्य उपजातियों के लिए रहा। यह भी यों हुआ कि सामंतीय समाज भी 'जन्मना' के आधार पर ही था। यद्यपि उसने बाह्य रूप को बदल दिया था।

(६) बर्बर युग के असाम्य पर सामंत-काल एक प्रगति बनकर आया। अब सामंत में ईश्वरत्व का आरोप हुआ और एक चरित्र-नायक का निर्माण हुआ। जिसने अपने पुरुषार्थ के बल पर संसार को सुखी करने का प्रयत्न किया। वह असाधारण व्यक्तित्व का पुरुष हुआ जिसने अपनी स्त्री को प्रजा के लिए त्याग दिया। स्त्री के अधिकार समाज में नहीं थे, उन्हें वह ठीक करने में असमर्थ था परन्तु वह अपने को समाज का अंग मानकर, कर-ग्रहण के अधिकार की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए, बराबर सन्नद्ध रहा। वह अत्याचारी तथा-आक्रमणकारी का शत्रु था। वह राम था। वही रामायण का नायक बना।

इन परिस्थितियों में वाल्मीकि रामायण के वर्तमान स्वरूप का सम्पादन हुआ। बर्बर (दास)-युगीन सभ्यता को सामंतीय कलेवर पहनाकर उपस्थित किया गया। सामंत-काल के उदय के इस युग में एक ओर शम्बूक को दबाया गया, दूसरी ओर सीता के प्रति करुणा दिखाई गई। वस्तुतः स्त्री के प्रति सहृदय आन्दोलन कालिदास और भवभूति में भी रहा और दूसरी ओर ब्राह्मणधर्म-विरोधियों ने शंबूक के पक्ष का समर्थन बौद्ध-पंथों में किया। यह हुई कुछ बाद की बात। सामंत-काल के उदय के साथ समाज में जिस नई स्फूर्ति की अवतारणा हुई, वह वाल्मीकि रामायण ने प्रदान की और घर-घर उसका आदर हुआ, क्योंकि उस काव्य ने सामंतीय समाज के जितने पारिवारिक, राज्य संबंधी तथा सामाजिक संबंध थे, सबको निरावृत रूप से सहन बनाकर निर्धारित किया और लोकोत्तर-रंजन की ऐसी भावना भरी जिसने आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

उसके बाद के सब रामायण-ग्रन्थ पुराणकार ब्राह्मणों के खाने-कमाने के धंधे थे, इसलिए उनका आदर नहीं हुआ। स्वयंभू जैन था और उसने काव्य-मात्र के दृष्टिकोण से राम-कथा को प्रस्तुत किया, अपभ्रंश में लिखा यह ग्रन्थ भाषा के परिवर्तित हो जाने पर अपना महत्त्व खो बैठा, क्योंकि अपभ्रंश को संस्कृत (चाहे वह लौकिक ही क्यों न हो) की भाँति आदर प्राप्त नहीं था। उस समय तुलसी ने राम-कथा लिखी।

परन्तु तुलसी के समय में और वाल्मीकि रामायण के संपादन-काल में बहुत बड़ा भेद था। तब सामंतवाद का उदय था अब सामंतवाद ह्रासोन्मुख था। ह्रास के भी दो रूप थे। एक रूप तो वह था कि समाज सामंतों से अत्यंत पीड़ित हो चुका था। दूसरे जो वाल्मीकि रामायण के समय में चातुर्वर्ण्य में ब्राह्मण श्रेष्ठ बनकर बैठा था, वह अब खतरे में था। पहले की व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोऽपरि मानते ही समाज का ढाँचा ठीक चल गया था। इस बार की परिस्थिति में ब्राह्मण का दर्जा गिर गया था। वाल्मीकि रामायण में भी ऋषियों की हड्डियाँ दिखाकर राम को उकसाया गया था। परन्तु वे ऋषि धर्म-प्रचारक थे। अपना साम्राज्य-विस्तार करने के क्षत्रियों के साधन थे।

अब ब्राह्मण साधक नहीं थे, वे समाज के बोझ थे, जो किसी भी परिस्थिति में अपने जाते हुए अधिकारों को रोकना चाहते थे। ऐसे समय में तुलसीदास ने राम-कथा को अपना आधार बनाया। तुलसीदास का विचार था कि रामायण भूल जाने से ही समाज उच्छृंखल हो गया है। वे ठीक थे। सामंतीय व्यवस्था के मूल प्रतिपादक ग्रन्थ की अवहेलना (या न समझना) के कारण ही समाज का ढाँचा ढीला पड़ गया है। अतः यदि फिर से राम-कथा लिखी जाय, अर्थात् समाज का सामंतीय ढाँचा पेश किया जाय, तो संभव है कि कलि से रक्षा हो सके। और यही सोचकर तुलसी ने अपना महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सामंतीय रचना की कला-कृति को पुनः प्रस्तुत किया गया, किन्तु इतिहास स्थिर नहीं रहता। सामंत-काल जितना बदल चुका था उतना ही इस काव्य में भी भेद आ गया, और तुलसी के काव्य में व्यक्ति के पौरुष की महत्ता नहीं आई, क्योंकि वह तो सामंत-काल के उदय के समय की सामाजिक प्रगति थी, जो अब नहीं रही थी, वरन् उसके स्थान पर भक्ति के आवरण में श्रद्धा की भेंट माँगी गई और व्यक्ति के स्थान पर ईश्वर को प्रतिष्ठापित किया गया। यों परिवर्तन की सामाजिक पृष्ठभूमि उपस्थित हुई।

यहाँ हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से अपना मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। वे अपने इतिहास में तथा तुलसीदास नामक ग्रन्थ में महाकवि तुलसी और सूर को एक भयभीत युग में साहस की श्वास फूँकने वाले व्यक्ति कहते हैं। वह व्यक्ति आन्दोलन को निराशा की आशा के रूप में प्रदर्शित करते हैं। सविनय हमारा यहाँ सैद्धांतिक विवेचन मेल नहीं खाता। आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है और इसीलिए उन्होंने इस्लाम के आगमन को भारतीय (अर्थात् ब्राह्मण) संस्कृति के ऊपर पदाघात मानकर निराशा का प्रसार स्वीकार कर लिया है। तथ्यों की कमी के कारण ऐसा कह जाना कोई असंभव बात नहीं है। परन्तु यदि सर्वरूपेण देखा जाय तो भक्ति-आन्दोलन इस्लाम के आगमन से प्रथम ही चल पड़ा था, और भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे, उस समय थे——

निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अड्यार और आलवारों से

प्रारंभ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में संबल पाता रहा, फिर भागवत संप्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानांतर लिंगायतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहज यान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति-संप्रदाय उच्चवर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था। जाति-प्रथा के विरुद्ध था। अपने युग की परिस्थितियों के कारण यह समाज में आमूल परिवर्तन नहीं कर सका था। परन्तु उसने संस्कृत भाषा को उखाड़ा। कबीर ने संस्कृत पर आक्रमण किया। परन्तु वे समस्त आन्दोलन व्यक्तिपरक थे। समाज के उत्पादन-क्षेत्र पर उनका असर गहरा न हो सका। वे केवल थोड़ी ही रियायतें दिलवाने में समर्थ थे। उस समय हिन्दू और मुसलमान दो खेमों में बँटे हुए नहीं थे। युद्ध होते थे, परन्तु जो उन्हें 'राष्ट्रीयता' का रूप देकर मन को भुलाने का प्रयत्न करते हैं, वे इतिहास का विवेचन ठीक तरह से नहीं करते। इस युग में राष्ट्र का अर्थ एक राजा का राज्य समझा जाता था, वह कोई 'सांस्कृतिक इकाई वाला प्रदेश' नहीं समझा जाता था। वीर-गाथा-काल के जो कवि या चारण हिन्दू और मुसलमान राजाओं का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते थे। वे उसी तन्मयता से अपने आश्रयदाता की उस कीर्ति-गाथा को भी गाते थे जिसमें एक हिन्दू दूसरे हिन्दू सामन्त को हराता था। कबीर ने हिन्दू मुसलमान दोनों पर आक्रमण किया। योगी अपने को अलग कहते ही थे। तुलसीदास ने आकर देश की परिस्थिति को यों समझा—मुस्लिम शासक भारत पर छाये हैं। सारे हिन्दू सामन्तों ने सिर झुका दिया है। वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है। ब्राह्मण के अधिकार क्षीण हो रहे हैं। प्रजा पीड़ित है। किसान को खेती नहीं है। यह सब क्या है? शास्त्र और पुराण इसे ही कलियुग कहते हैं। यह कलियुग कैसे समाप्त हो सकता है? यदि कोई अच्छा शासक हो। वह कैसे मिले? जातीय उत्थान करके वर्णाश्रम धर्म को फिर से स्थापित करने से ही यह सम्भव हो सकता है। परन्तु इस समय इतने पन्थ हैं कि जनता भरमाई हुई है। अतः समस्या की सुलझन कहाँ है? एक ओर ज्ञानमार्गी हैं दूसरी ओर भक्तिमार्गी। ठीक है। भक्ति और ज्ञान का समन्वय आवश्यक है। परन्तु जो ज्ञानमार्गी या जो भक्तिमार्गी वेदत्रयी को स्वीकार नहीं करता, वह त्याज्य है। इसी बात का अत्युग्र रूप था—'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही''।

तुलसीदास ने इस्लाम के विरोध में स्वर उठाया और वर्णाश्रम धम को फिर से स्थापित करके भीतरी शत्रुवाद (पन्थवाद) का नाश किया। यह तुलसीदास का ऐतिहासिक कार्य था। भक्ति-सम्प्रदाय की विराट नदी सिमट गई। इसके बाद उच्चवर्गों को सन्तोष मिल गया। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि निम्न-वर्गों ने तुलसी को इतना महत्त्व क्यों दिया? इसलिए कि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के उत्तर-काण्ड में जिस आदर्श सामन्तीय राज्य की कल्पना की वह इस्लामी शासकों और उनके छुटभैये हिन्दू सामन्तों की लूट के सामने स्वर्ग-सी दिखाई देती थी। तुलसीदास के नये दृष्टिकोण के बाद ही भारत में कमकर अर्थात् मेहनतकश लोगों ने सिख, मराठा, जाट आदि के रूप में विशाल मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया जो कि हिन्दू सामन्तों के कन्धों पर टिका हुआ था। शिवाजी ने जो जयसिंह को पत्र लिखा था उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तब तक शिवाजी समझ चुके थे कि मुग़लों का अत्याचार हिन्दू साहाय्य के कारण ही है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिवाजी का जनवाद सामन्तीय जनवाद था आधुनिक नहीं। यह उनके युग की बन्दिश थी। तुलसीदास ने उच्च जातियों के धर्म शास्त्रियों को पूर्णतया

स्वतन्त्र कर दिया, क्योंकि जो उन्होंने प्रचार किया वह इतना अधिक समर्थ था कि फिर उच्चवर्गों को भीतरी (निम्न जातियों के) वर्णाश्रम-विरोधी-आन्दोलनों का डर आता रहा। वे रीतिकाल अर्थात् विलासवाद में डूब गए।

तुलसी में यह बातें मुख्य थीं—

१—उन्होंने 'रामचरितमानस' ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद भाषा में लिखा और जनवाद को सहायता दी। किन्तु उन्होंने संस्कृत को भाषा में अधिक भरा।

२—उन्होंने दास भाव से भक्ति को अपनाया और उच्छृङ्खलता का नाश किया।

३—उच्छृङ्खल सामन्तों और विदेशी म्लेच्छ यवनों का विरोध करके एक आदर्श सामन्त का रूप रखा, जो न्याय करने वाला था। उन्होंने कालिदास के रघुवंश के सामन्त को ठीक माना जो सूर्य की तरह (कर लेकर) जल शोषण करे परन्तु फिर भी बादल बनकर (रक्षा आदि) बरस कर प्रजा को लाभ पहुँचाये। इससे तात्कालिक शोषण में ग्रस्त जनता बल पा सकी।

४—तुलसी ने वर्णाश्रम का प्रचार किया। ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया। वेद-विरोधी सम्प्रदायों पर गहरी चोट की। समाज में जो निम्नवर्गों का आन्दोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था, उसे गहरी चोट दी, बल्कि उस आन्दोलन को ही नष्ट कर दिया। और समस्त वेदानुयायियों को एक करके इस्लामी संस्कृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। अपनी समस्त रचनाओं में कहीं भी तुलसी ने मुसलमानों के प्रति एक भी सुन्दर शब्द नहीं कहा। केवट इत्यादि के रूप में निम्न जातियों का महत्त्व बढ़ाया वह इसलिए कि वे राम के प्रति 'वफादार' थे।

५—राक्षस-जैसे शत्रुओं में केवल एक विभीषण था जिसके व्यक्तित्व को तुलसी ने बहुत उठा दिया। वाल्मीकि रामायण में विभीषण एक राजनीतिज्ञ के रूप में है, वह न्याय देखकर राम की ओर आता है, किन्तु तुलसीदास का मानस-विभीषण एक भक्त है और भक्ति के कारण वह राम का उपासक है।

अनेक अन्य बातें हैं जिनमें जैसे-जैसे घुसा जायगा, नये-नये तथ्य प्राप्त होंगे। हम संक्षेप में तुलसी के दो पक्ष पाते हैं—१. जनवाद २. प्रतिक्रियावाद।

जनवाद में उनको ऊपर बताये १. ३. के सहारे खड़ा किया जाता है। २. ४. ५ उनके दूसरे रूप को प्रकट करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जिसे हम आज जनवाद या प्रतिक्रिया कहते हैं, वे तुलसी के युग में दूसरे रूप में थे।

सामंतीय व्यवस्था में ब्राह्मणों के अत्याचारों से दबी प्रजा ने भक्ति-आन्दोलन चलाया था तब विरोधी ब्राह्मणवाद और अब्राह्मणवाद थे। तुलसी के समय में परिस्थिति बदल चुकी थी। सबको इस्लाम के सर्वोपरि शासन ने दबा लिया था। इसीलिए तुलसीदास ने दो काम किये :

(१) भारतीय संस्कृति को उठाया। यहाँ भारतीय का अर्थ ब्राह्मणवादी संस्कृति से है। इस्लाम के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया।

(२) अन्दरूनी द्वेष मिटाये। वर्णाश्रम स्थापित किया और प्रजा में सामंतीय ढाँचा प्रतिष्ठापित किया।

बहुधा लेखक कहते हैं, तुलसी ने जन-भाषा में लिखकर पंडितों की धरोहर को नष्ट किया और यह एक बड़ा विद्रोह था। और वह यह भी कहते हैं कि तुलसी पहले बहुत दरिद्र थे।

वे जनता के पीड़ित व्यक्ति थे, उनकी जाति-पाँति का भी पता नहीं था। परन्तु दोनों बातें लचर हैं। हम यह जानते हैं कि रामानुजाचार्य की भक्ति-परम्परा में मुसलमान शाहजादी के लिए श्री रंगम के भगवान् रंगनाथ उठाकर मैलकोटै ले जाये गए थे क्योंकि शाहजादी दर्शनार्थ आकर राह में ही मर गई थी, अतः भगवान् को भक्त के पास ले जाया गया था। रामानुज ने ही चमारों को तिरुनारायणपुरम् के मन्दिर में घुसा दिया था। रामानन्द ने इसी परम्परा में कबीर को अपना शिष्य बनाया था? भागवत सम्प्रदाय का आधार ही रियासतें देना था। तुलसी में उसको पूर्णरूपेण छोड़ देने की शक्ति नहीं थी। वे जानते थे कि हू-बहू ब्राह्मणवाद अब बिलकुल अपने प्राचीन रूप में लागू नहीं किया जा सकता। युग ने जो सिर उठाया था, क्या तुलसी उसको झुका सकते थे?

भक्ति-सम्प्रदाय का मूल मानवतावाद था। भक्त तो ईश्वर से बढ़े हुए थे। तुलसी ने दासत्व सिखाया, भगवान् को राजा बनाया। परन्तु उन्होंने भी भक्त को राम से बड़ा बताया है। इसका कारण है कि तुलसी ने राम की भक्ति में राम का पूर्ण रूप नियोजित किया है और जो राम को मान लेता है, उसे सबसे ऊपर मान लेने में तुलसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है। इसी परम्परा में भाषा भी है। भाषा तो प्रचलित थी ही। केवल ब्राह्मण-धर्म अपने संकोचों में बद्ध था। इस्लाम के विरुद्ध ब्राह्मणों को नेता बनाकर समस्त प्रजा का संगठन करने के लिए ब्राह्मणवाद को भी नये रूप की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने हिन्दी को लिया। कट्टर लोगों ने प्रारम्भ में विरोध किया, परन्तु उनके जीवन के अन्तिम काल में ही ब्राह्मणों ने उनके सामने सिर झुका दिया और स्वीकार किया कि तुलसी ने धर्म के उद्धार के लिए ही भाषा को अपनाया था। ब्राह्मणों की संकुचित सीमा को तोड़कर ही तुलसी ने ब्राह्मण संस्कृति को सशक्त बनाया। इसीलिए तुलसी ने केवल भाषा के तद्भव रूप को ही नहीं लिया उसमें उन्होंने तत्सम शब्दों को भी घुसेड़ा।

तुलसी ने क्या किया यह यदि जानने की आवश्यकता हो तो कुछ मुसलमानों की महफ़िल में जाइये। क्या मुसलमान सम्प्रदायों को कबीर, रैदास आदि से कहीं विरोध है या उनकी भाषा से ही। तुलसी में वह पक्ष देखते हैं? पहली बात तो साफ हुई। रहा उनका दारिद्रय, तो संसार में अनेक दलित लोगों ने उच्चवर्गों के स्वार्थ की ही बात की है। तुलसी जो दारिद्रय से पीड़ित लोगों के लिए रोते थे, वे इसलिए कि वे उसे वर्णाश्रम धर्म के लोप से आये हुए कलि के शासन के रूप में लेते थे और यही उनकी सदैव प्रार्थना रही है।

अभी हाल में ही हिन्दी के एक आलोचक महोदय ने लिखा है "गंगा-यमुना से सींची हिन्दी इलाके की धरती में कवियों और सुधारकों की कमी कभी न रही। ऋग्वेद के कवि ऋषियों से लेकर 'प्रसाद' और 'निराला' तक हमारी जाति की गौरवमयी काव्य-परम्परा रही है।"[1]

वे नहीं जानते कि गंगा-यमुना के प्रदेश में ऋग्वेद के कवि बहुत बाद में आये थे और उस गौरव में आर्य दम्भ ही था जिसने वर्ण-व्यवस्था का मूल स्वर उठाया था। वह गौरव सबका नहीं था। तुलसीदास को लेखक महोदय ने ऐसे स्थान पर रखा है, तुलसी की प्रशंसा करते हुए— तुलसी से पहले भी जनभाषा खूब समृद्ध थी। तुलसी ने केवल ब्राह्मण धर्म को जन-भाषा में लिखा था और इसलिए वे खूब संस्कृत भी भर लाये थे।

---

१. (जनयुग २४–८–५२)

अब तुलसीदास के विषय में रामचरितमानस में कुछ तथ्य देखना और आवश्यक है।

(१) उन्होंने परशुराम-क्रोध-दलन दिखाकर ब्राह्मणों की निन्दा की।

(२) ब्रह्मचर्य दम्भी नारद को गिराया। इनके सरल उत्तर हैं—

(१) उन्होंने असहिष्णु ब्राह्मणवाद का विरोध किया जो क्षत्रियों से मिलकर चातुर्वर्ण्य स्थापित नहीं करता था।

(२) उन्होंने नारद के ब्रह्मचर्य में अब्राह्मणवादी योगियों पर प्रहार किया जो भक्ति के नाम पर राम के सामने सिर नहीं झुकाते थे। याद रहे राम को अगम अतीत कहकर भी तुलसी ने मोर-मुकुट वाले कृष्ण को सिर नहीं झुकाया था। उन्हें आदर्श सामन्त के हाथ में धनुष-बाण चाहिए थे। यहाँ तुलसी का भागवत के भक्ति सम्प्रदाय से भेद था। भागवत का भक्ति सम्प्रदाय दक्षिण में बना था जो समाज में प्रेम चाहता था, रियायतें देना चाहता था। कृष्ण का लोकरंजनकारी स्वरूप उसमें लीलाओं से दब गया था। तुलसी ने लीला से ऊपर कर्तव्य रखा और अपने युग की बदली हुई परिस्थिति में नया तथ्य प्रतिपादित किया।

जनयुग में पृष्ठ ७. २४–८–५२ में उसी लेखक ने कहा है कि 'ढोल गँवार' वाली चौपाई क्षेपक है। वह 'मानस' में नहीं है। यद्यपि ऐसा सोचने का उन्होंने कोई आधार नहीं दिया, वे इस बात को बहुत ठीक समझते हैं। सोचना यह है कि तुलसी ने यह भी लिखा कि नहीं :

विप्रचरन सेवक नर-नारी

× × ×

पूजिय विप्र सील गुन हीना।

× × ×

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख सम्पदा समाज
सहस शेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज।

अर्थात् रामराज्य की प्रशंसा की गई है।

× × ×

मातु पिता गुर विप्र न मानहिं
आपु गये अरु घालहिं आनहिं।

× × ×

अवगुन सिन्धु मन्दमति कामी
वेद विदूषक परधन स्वामी।
विप्र द्रोह पर द्रोह विसेषा
दम्भ कपट जिय धरें सुवेषा॥

फिर वे भागवत सम्प्रदाय की सहिष्णुता में कहते हैं :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

परन्तु यहाँ भी निर्णय वेद का ही है :

निर्णय सकल पुरान वेद कर।

राम पुरवासी, ब्राह्मण और गुरु को बुलाकर कहते हैं :

> नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई,
> सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई ।

परन्तु संग ही यह भी कहते हैं :

> सोई सेवक प्रियतम मम सोई,
> मम अनुसासन मानै जोई ।

इनसे प्रकट होता है कि हर रियायत की वास्तविकता क्या थी ।

रामचरितमानस में तुलसी के दो रूप हैं । वे भक्तिपक्ष में अपने युग के मानवतावाद से प्रभावित रहे हैं, परन्तु शास्त्रों की मर्यादा को उन्होंने साथ-ही-साथ स्थापित किया है । कलि का विरोध करके भी वे विरोध करते-करते घबरा गए हैं । उस स्थान पर उन्होंने भक्ति को माना है, क्योंकि भक्ति में तर्क नहीं आते, ज्यों-का-त्यों सब स्वीकार कर लिया जाता है । वेद-पुराणों के जिन आदेशों के विरुद्ध नीच जातियों ने ईश्वर को अपना कहकर 'भक्ति' को चलाया, उसी भक्ति के इस स्वरूप को तुलसी ने भी लिया, क्योंकि उसमें तर्क नहीं थे । परन्तु तर्क-हीनता पर उसको लादा जिसका समस्त नीच जाति के संतों ने विरोध किया था—अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराण को ।

उस समय तुलसी ने रामचरित गाकर सामंतों को भी शिक्षा दी । हिन्दू-मुसलमान शासक भ्रातृ-हत्या और पितृ-हत्या में रँगे थे । तुलसी ने आदर्श सामंत परिवार की सृष्टि की । कैकेई, जो वाल्मीकि में राज्यलोभग्रस्ता है, उसे भी तुलसी ने भक्त बनाया है, क्योंकि कैकेई की गलती को तो उन्होंने भगवान् की लीला के अन्तर्गत रख दिया है । इस जरा-सी बात के पीछे एक बहुत बड़ा तथ्य है । बर्बर (दास युगीन) कालीन समाज से छूट मिली थी तो सामंतीय समाज ने कई जातियों को भीतर ग्रसकर आत्मसात् कर लिया था । धर्म-शास्त्र जाति-प्रथा को जटिल बनाते जा रहे थे, तुलसी ने वह काम पूरा किया और बीच की गलती को भगवान् की लीला कहकर प्रचारित किया । इस जाति-जटिलता के दो कारण थे, एक तो इस्लामानुयायी जातियों ने भारत का समुद्र-व्यापार छीन लिया, दूसरे यहाँ के धर्मों पर प्रभाव डालना शुरू किया ।

रामचरितमानस में भी लोक-रंजन और कर्तव्य-पथ की इति उसी व्यक्तिपरक मोक्ष की भावना में हुई जो युग में प्रचलित थी । वास्तविकता यह थी कि धरती पर सब ठीक होते ही तुलसी ने दर्शन के क्षेत्र में उसी 'परवाद' को स्वीकार किया । रामानुज की लीला को भक्ति बनाकर लिया गया और माया का विरोध करके भी उसकी सत्ता स्वीकार की जब कि रामानुज में माया को लीला का ही दूसरा स्वरूप माना गया । जो तुलसी को विशिष्टाद्वैत मत का अनुयायी मानते हैं, उन्हें यह समझना आवश्यक है ।

हमने संक्षेप में तुलसी की युग पूर्ववर्ती विचार-धारा और विशेषताओं को देखा । यहाँ हम उनके काव्य के रूप और काव्य पर विचार करेंगे ।

तुलसी ने चौपाई और दोहे को लिया । चौपाई और दोहा लिखने की भाषा में पुरानी परम्परा थी । पहले चौपाई का दीर्घान्त होना आवश्यक नहीं था । स्वयंभू से तुलसी तक इतना विकास हो गया कि चौपाई ने अपना स्वरूप स्थिर कर लिया । चौपाई छोटी होती है, झट जीभ पर चढ़ती है । महाकाव्य के लिए छोटे छन्द का होना अत्यन्त आवश्यक होता है । तुलसी ने

उसी छन्द को चुना।

तुलसी को मानव स्वभाव का बहुत गहरा ज्ञान था। इसीलिए वह बहुत सफल कथाकार हुए हैं। तुलसी में आश्चर्यजनक गुण था कि वे वस्तु को अपना बनाकर आत्मसात् कर लेते थे। उन्होंने श्रीमद्भागवत के वर्षा-वर्णन को प्रायः ज्यों का त्यों—

'दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं' वाले प्रसंग में उतार लिया है, परन्तु वह ऐसे सहज किया है कि पूरी-की-पूरी नकल होने पर भी तुलसी की प्रशंसा करने की इच्छा होती है, उन्हें नकलची कहने की नहीं। तुलसी ने जन-जीवन की जगह-जगह झाँकी दी है जो अत्यन्त सफल है। मजाक और व्यंग्य के तो वह गुरु थे। निःस्सन्देह बुद्ध के बाद सिवाय तुलसी के और कोई इतना प्रभावशाली नहीं हुआ जो समस्त उतर भारत को अपनी वाणी से गुँजा देता। सारांश में हम कह सकते हैं:—

१—तुलसी ने जनभाषा का प्रयोग करके पुराने असहिष्णु ब्राह्मणवाद को हराया।

२—तुलसी ने जनभाषा का प्रयोग करके नए ब्राह्मणवाद को प्रतिष्ठापित किया।

३—तुलसी ने भक्ति-सम्प्रदाय की सहिष्णुता को अपनाया और तर्क का विरोध करके मानवतावाद के साथ एक विरोधी वस्तु वेदत्रयी को भी स्थापित किया। परन्तु यह यों सम्भव हुआ कि तुलसी ने सामन्तवाद की सर्वोपरि अवस्था को ही इस्लाम के विरुद्ध लोकरञ्जनकारी शक्ति के रूप में खड़ा किया और तर्क को तिलांजलि दी।

४—तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करने के लिए रामचरितमानस लिखा, परन्तु वह युग के लिए सत्य था। इस्लाम के नाम पर शासन करने वालों और हिन्दू सामन्तों का संगठन प्रजा को उत्पीड़ित कर रहा था। तुलसी ने हिन्दू सामन्तों को और प्रजा को एक होकर इस्लामी शासकों के विरुद्ध उठने का नारा दिया। यही सिखों, जाटों और मराठों में प्रतिफलित हुआ। राष्ट्रीयता (Nationalities) का भी विकास हुआ।

५—सन्त कवि जाति-प्रथा के विरोधी थे, वे दरिद्र, धनी के चक्कर में नहीं थे। उनका दृष्टिकोण ठीक था। क्योंकि दरिद्र नीच जाति थे और धनी ऊँच जाति। अतः वे जाति-संघर्ष के रूप में ही चीज को लेते थे। तुलसी ने जाति के वर्गरूप को भुलाकर वही व्यवस्था स्थापित रखनी चाही। स्पष्ट है कि तुलसी का मुख्य काम ऊपर नं० ४ में कही बात थी और वे उसमें सफल भी हुए।

अन्त में एक बात पर विचार कर लेना और ठीक है। 'तुलसी दरबारी कवि नहीं थे सन्त थे, और उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय', लिखकर अपने जनवाद का परिचय दिया' यह बहुत से लोग कहते हैं।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि स्वान्तः सुखाय से अर्थ केवल निम्न लिखित था—किसी राजा के लिए नहीं अपने सुख के लिए लिखता हूँ। अपना सुख क्या है? यह तो हम ऊपर देख चुके हैं। तत्कालीन कवि धन के लिए राजाओं के चाटुकार और विलासी थे। तुलसी सुधारक थे और संसार-त्यागी थे। वे तो एक धर्मगुरु थे। उन्होंने काव्य लिखा—धर्म पुराण के रूप में, धर्मगुरु बनकर। अतः वे जनवादी परम्परा में नहीं आते जिसमें कबीर थे, परन्तु वे पुराणकार परम्परा में आते हैं।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन तुलसी का निरादर नहीं है। वह सत्य है। यदि हम कहते हैं

कि कबीर ने मनुष्यता का पाठ पढ़ाया परन्तु वे 'शून्य' की खोज में रहते थे, तो हम उनका अपमान नहीं करते, वरन् वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। तुलसीदास प्रसिद्ध हैं, महान् हैं, कवि हैं, अतः उनका गलत विवेचन करके प्रगतिवादियों में उनका नाम लिखाना हमारा कर्तव्य नहीं है। अधकचरे मार्क्सवादी उनको काफी विकृत कर रहे हैं। पाठकों को चाहिए कि साफ-साफ बात देखें। तुलसी ने इस्लामी शासकों का विरोध करके, कुछ बुरा नहीं किया, वे सबसे बड़े शोषक थे। हाँ तुलसी ने जो वर्णाश्रमधर्म प्रतिष्ठापित किया इसका कारण वे यही समझते थे कि इसी से समाज ठीक हो सकता है।

तुलसी को जनवादी प्रकट करके ही क्या उनकी महत्ता प्रकट होती है? विद्यापति, चन्द में कौन-सी जनवादिता थी। यह बात का बतंगड़ ही व्यर्थ है। इतिहास को अपने दृष्टिकोण के लिए विकृत करना ही नहीं चाहिए, आचार्य शुक्ल ने भक्ति को जो निराशा की आशा मानकर गलती की थी, कुछ आलोचकों ने उसी में से तुलसी का जनवाद ढूँढ़ निकाला जिसकी हाँ-में-हाँ मिलाना आजकल के अवसरवादी तथा कथित मार्क्सवादियों का ध्येय हो गया है। हमें उसके प्रति सचेत रहना है, क्योंकि उसके बिना हम कभी तुलसी की वास्तविक महानता को नहीं समझ सकेंगे।

●

विश्वम्भर 'मानव'

बिहारी-सतसई

पिछले एक हजार वर्ष की काव्य-निधि में से यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों को चुनना चाहें, तो उनमें बिहारी-सतसई का नाम आयगा। ये ग्रन्थ हैं—'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'सूरसागर', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी-सतसई', 'कामायनी', 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'दीपशिखा'। इनमें से अधिकतर ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य हैं। जीवन की विविधता का गहराई और सूक्ष्मता के साथ चित्रण करने के कारण प्रबन्ध-काव्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों में परिगणित होने और उसके रचयिता को महाकवियों की श्रेणी में आसन मिलने की, मुक्तककार से अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं। फुटकर प्रसंगों पर लिखने की अपेक्षा मुक्तककार भी उस समय अधिक सफल होते देखे गए हैं जब उनके संग्रह-ग्रन्थों के पीछे किसी प्रकार की एकसूत्रता, जो वास्तव में प्रबन्ध का गुण है, विद्यमान हो। सूरसागर, दीपशिखा और बिहारी-सतसई में यह एकसूत्रता भक्ति, रहस्य और प्रेम को लेकर है।

बिहारी ने मुगल-साम्राज्य के समृद्ध-काल में अपनी काव्य-साधना की। ऐसा युग काव्य-श्री के निखार के लिए सदैव उपयुक्त होता है। उस समय प्रजा सुखी थी और शासकों ने देश में शान्ति स्थापित कर दी थी। वे कलानुरागी थे, इसी से अनेक रूपों में उसका विकास हो रहा था। विद्रोह की भावना एक प्रकार से मिट चुकी थी। यह विद्रोह की भावना ऐसी है कि आँधी की भाँति उठती है, शान्त हो जाती है और फिर उठती है। उस आँधी के फिर उठने में अभी देर थी। जैसा जयसिंह द्वारा बलख से शाहजहाँ की सेना को बचाकर लाने के वर्णन से पता चलता है, आक्रमण के समय हिन्दू-मुसलमान कन्धे से-कन्धा भिड़ाकर लड़ते थे। राजनीतिक बातों में शासन थोड़ा हस्तक्षेप अवश्य करता रहा होगा, क्योंकि एक स्थान पर बिहारी ने 'दुराज' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके विषम परिणाम की चर्चा की है। धर्म की दृष्टि से यह युग साम्प्रदायिक कट्टरता का युग न था। कबीर के समय से ही कवि लोग इस प्रकार की कट्टरता का विरोध कर रहे थे और धर्म को वे बहुत उदार बनाने में समर्थ हुए। बिहारी ने वैष्णव धर्म और निर्गुण मत, दोनों का समर्थन समान भाव से किया है। धर्म के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता उस समय लोगों को थी। एक पुराण-वाचक के प्रसंग में हमारे कवि ने उसे व्यभिचारी दिखलाया है और मन्दिर भी प्रेमियों के मिलन-स्थल बतलाए हैं। इससे सिद्ध होता है कि धर्म में थोड़ा ढोंग उस समय भी बना हुआ था। पर सबसे अधिक मनोरंजक है बिहारी द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र। हो सकता है जिस समाज का वर्णन बिहारी ने किया हो, वह बहुत ही सीमित हो। कुछ वर्णन तो निश्चित रूप से राधा-कृष्ण के काल का है। पर बिहारी के नायक-नायिका उनके अपने काल के भी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ वह कैसा युग रहा होगा जब युवतियाँ काम के बाण से मर्माहत हो अभिसार करती थीं; वन, खेत, कुञ्जों, खण्डहरों में अपने प्रेमियों से मिलती थीं और इस निर्द्वन्द्व

जीवन में कोई अधिक हस्तक्षेप नहीं करता था।

वैसे तो श्रेष्ठ-काव्य के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिए पाठक में सदैव ही एक प्रकार की ग्राहिका-शक्ति चाहिए; पर बिहारी-सतसई के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए तो बिना वैसी क्षमता के काम ही नहीं चल सकता। यह क्षमता काव्य-शास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करती है। है। बिहारी में प्रतिभा तो थी ही, साथ ही इस प्रतिभा को अध्ययन के द्वारा उन्होंने निखारा था और अपने इस अध्ययन का उपयोग उन्होंने पूरी शक्ति के साथ किया था।

बिहारी-सतसई की मूल प्रवृत्ति शृंगारी है। सतसई की रचना की प्रेरणा के सम्बन्ध में जो यह कहानी कही जाती है कि बिहारी ने जयपुर पहुँचने पर एक दोहे की मार से ही अपनी नई रानी के प्रेम में आबद्ध महाराज जयसिंह को अन्तःपुर के घेरे से मुक्त किया, उसे लेकर सभी आलोचकों ने प्रायः एक ही सी बात कही है। यह घटना यदि सच हो, तो भी इससे प्रमाणित यही होता है कि प्रारम्भ से ही बिहारी की प्रवृत्ति शृंगारी थी। उस दोहे को लीजिए—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे का आशय यह नहीं है कि रज और रसहीन कली से ही जो भौंरा इतना बँधा हुआ है, अर्थात् जो नायिका की यौवन-प्राप्ति से पहले ही उसके रूप पर मुग्ध होकर कर्त्तव्य-ज्ञान भूल गया है, उसकी आगे क्या दशा होगी; वरन् यह कि जो समय से पूर्व ही अपने आकर्षण का परिचय दे रहा है, वह रस का समय आने पर अपने अनुराग की दृढ़ता और भी प्रमाणित करेगा। इस प्रकार यह दोहा बोधोदय के लिए न लिखा जाकर रसोदय के उद्देश्य से ही लिखा गया होगा। जयसिंह ने जो बिहारी से मिलना चाहा होगा वह इसलिए कि आदमी कैसा ही हो; पर है रसज्ञ और इसी से अशर्फियों के मोल उन्होंने उनके दोहों को खरीदा, यद्यपि यह मोल बहुत कम था।

संयोग-काल की कोई ऐसी स्थिति नहीं जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। रूप-दर्शन से आकर्षण होता है। रूप के ये वर्णन नायिका के हैं और इस दृष्टि से नायिका से अधिक नायक के आकर्षण का वर्णन होना चाहिए था; पर ऐसा है नहीं। नायक से अधिक यहाँ भी नायिका पर कवि की दृष्टि है। नायिका आकर्षित होती है। आकर्षित होने पर पीड़ा का अनुभव करती है। नायक कहीं मिल जाता है, तो किसी-न-किसी बहाने उस पीड़ा को व्यक्त करने के उपाय ढूँढ़ती है। नायक उसके आकर्षण को पहचान कर उसे भेंट भेजता है जिनमें घुँघचियों की माला, पान और पंखा मुख्य हैं। आजकल की प्रेमिकाएँ शायद इतनी सस्ती भेंट स्वीकार न करें। इस आकर्षण के स्थायी हो जाने पर नायिका गुरुजन-परिजन की आँख बचाकर अभिसार के लिए तैयार होती है। पथ में कोई झंझट खड़ी न हो जाय, इसलिए दूती अधिकतर साथ रहती है। एकांत में नायक-नायिका का मिलन होता है। क्रीड़ा करने से पहले नायिका मदिरापान करती है और थोड़ी देर झूठी 'नाहीं' 'नाहीं' करने के उपरांत सुख से सुरत में लीन होती है। अधिक ढीठ हो जाने पर तो उसे विपरीत-रति के लिए तैयार किया जा सकता है—

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लिपटाइ॥

दीप उजेरैं हू पतिहिं हरत बसनु रति काज।
रही लपटि छबि की छुटनु नैकौ छुटी न लाज॥

इस मिलन में कुछ ऐसी बातों का वर्णन भी बिहारी ने किया है जो कुछ रसिकों को चाहे अच्छी लगें; पर अधिक गम्भीर रुचि वाले व्यक्तियों को शायद ही रुचिकर प्रतीत हों। उदाहरण के लिए नायक पतंग उड़ा रहा है तो नायिका आँगन में उसकी छाया छूने के लिए दौड़ी-दौड़ी फिरती है या नायक नायिका की गोद से बच्चा लेते समय चुप से उसकी छाती को उँगली से दबा देता है या दोनों घरों के बीच में जो दीवाल है उसमें बड़ा छेद करके दोनों रात-भर एक-दूसरे का हाथ पकड़े खड़े रहते हैं या फिर पैरों की उँगलियों के बल खड़े होकर और दीवाल पर थोड़ा उचककर दोनों एक-दूसरे के कपोल चूमकर भाग जाते हैं।

बिहारी का संयोग-वर्णन जैसा सफल हुआ है, वियोग-वर्णन वैसा नहीं। एक तो यह उतना विस्तृत नहीं है, दूसरे स्वाभाविकता का स्थान यहाँ उक्तियों के चमत्कार और अतिशयोक्तियों ने ले लिया है। किसी मनोदशा का वर्णन कहाँ काव्य का रूप ग्रहण करता है और कहाँ वह खिलवाड़ बन जाता है, इसका ज्ञान बहुत कम साहित्यिकों को होता है। लगता है जीवन के संयोग-पक्ष का बिहारी को जैसा अनुभव था, वियोग-पक्ष का वैसा नहीं। मिलन और विरह जीवन की दो ऐसी गम्भीर स्थितियाँ हैं कि जब तक किसी कवि को इनका गहरा अनुभव न होगा, तब तक वह अपने काव्य में भी इनकी अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक ढंग से न कर पायेगा। वियोगावस्था में पहुँचते ही बिहारी की नायिका कभी प्राण बचाने के लिए चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती फिरती है, कभी जुगनुओं को अंगारे समझकर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। साँस लेती है तो कभी छः-सात हाथ इधर कभी छः-सात हाथ उधर खिसक जाती है। रोती है तो आँसू छाती पर पड़ते ही भाप बनकर उड़ जाते हैं। कोई उस पर गुलाब-जल छिड़क देता है तो वह बीच ही में सूख जाता है। दुर्बल इतनी हो गई है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे देखना चाहे तो नहीं देख पाती। पड़ौसी उससे परेशान हैं। जाड़े की रातों में गीले कपड़े आगे कर उसके पास तक पहुँच पाते हैं और ग्रीष्म में तो उसके पड़ौस में रहना असम्भव हो गया है!

ऐसा नहीं है कि वियोग के स्वाभाविक वर्णन बिहारी में बिल्कुल पाए जाते ही न हों, पर वे अस्वाभाविक वर्णनों से इतने दबे हुए हैं कि सहसा लक्षित नहीं होते। नीचे के दोहों को ही देखिए जिनमें शारीरिक दशा और मानसिक हलचल को किस स्वाभाविकता और मार्मिकता से व्यक्त किया गया है—

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिनु हूँ, नीठि पिछानी जाइ॥
जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि, लगी रहैं, आँखें लागति नाँहि॥

पर वियोग के उपरान्त बिहारी ने नायक को परदेश से लौटाकर प्रेम का अन्त संयोग में ही किया है। इससे पता चलता है कि उनकी दृष्टि जीवन के सुख-पक्ष की ओर ही थी।

प्रेम के जिस वातावरण का सृजन बिहारी ने किया है, वह आज हमें कुछ विलक्षण लग सकता है। और अधिक अच्छा नाम न मिलने से हम इसे रीतिकालीन प्रेम कहते हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रेम की भावना का विकास क्रमशः हुआ है। वीरगाथा-काल में प्रेम उस व्यक्ति के

प्रति उमड़ता दिखाई देता है जो नायिका को स्वयंवर-भूमि या युद्ध-भूमि में तलवार के बल पर जीत सकता था। सन्तों का प्रेम-सम्बन्ध निर्गुण के प्रति रहा। सूफियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की। तुलसी, सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने लौकिकता से बहुत ऊँचे उठकर भगवान् के चरणों में अपने भाव का निवेदन किया। इधर आधुनिक युग के छायावाद-काल में एक दूसरे ही ढंग से निर्गुण को प्रेम का आलम्बन बना महादेवी आदि ने आत्म-निवेदन किया। और आगे चलकर व्यक्तिगत प्रेम की तीव्र अनुभूति बच्चन और शान्ति मेहरोत्रा में पाई गई। फिर भी हिन्दी साहित्य के आदि युग से लेकर यहाँ तक प्रेम का आलम्बन चाहे बदलता रहा हो; पर ये सारी अभिव्यक्तियाँ हैं सरल ही। केवल हिन्दी के आधुनिकतम काव्य में प्रेम-भावना युग की परिस्थितियों और जीवन के प्रति बदले दृष्टिकोण के कारण उलझन-मय हो गई है, यों अन्य भावनाओं से संघर्ष प्राचीन प्रेम-भावना में भी पाया जाता है; पर वह बहुत सीधा-सादा है। अन्तर्द्वन्द्व की कमी बिहारी में भी नहीं, उदाहरण के लिए उनकी नायिका प्रायः लाज और प्यार तथा गुरुजन-परिजन के भय और प्रणय के बीच फँसी रहती है। पर नवीनतम काव्य को छोड़कर मनोवैज्ञानिक उलझनों के सूक्ष्म विश्लेषणों की ओर प्राचीन कवियों का ध्यान गया ही नहीं। इस सारे प्रेम-व्यापार के बीच बिहारी की प्रेम-भावना भिन्न प्रकार की है—लौकिक और स्थूल, पर इस भावना के सबसे प्रौढ़ विश्लेषक और समर्थक भी वे ही हैं। बिहारी रीतिकालीन प्रणयानुभूति के प्रतिनिधि कवि हैं।

बिहारी सतसई में भक्ति की चर्चा होते हुए भी, बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। किसी विशेष वाद में उनकी आस्था थी, ऐसा इन दोहों से प्रकट नहीं होता। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नृसिंह को स्मरण किया है। कहीं-कहीं तो पुष्ट तर्कों के आधार पर सगुण से बढ़कर निर्गुण का समर्थन वे कर बैठे हैं। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद दोनों की पुष्टि में भी उन्होंने कुछ-न-कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी वे जोर देते पाए जाते हैं, ऐसी दशा में पाठक के लिए यह निर्णय करना कठिन है कि उन्हें किस मत के अन्तर्गत वह माने। उनका विशेष झुकाव राधा-कृष्ण की लीलाओं की ओर यों है। भक्तों के समान वे कृष्ण पर विश्वास करते, उनके यश का वर्णन करते और उन्हें उलाहना देते पाए जाते हैं। पर मेरी दृष्टि से बिहारी भक्त नहीं थे, केवल कवि थे। जैसे प्रत्येक महाकवि अपने प्रिय विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी समान सामर्थ्य के साथ लेखनी चलाता है, वैसे ही बिहारी ने भी प्रेम के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर लिखा। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त हुआ ही न था। राधा और कृष्ण के जीवन को जैसा घोर शृङ्गारी और वासनात्मक उन्होंने चित्रित किया है, उससे तो इस बात में और भी सन्देह नहीं रह जाता। बिहारी अनुराग के कवि थे, विराग के नहीं। भक्तों के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भाव-मग्नता उनमें सामान्यतः नहीं पाई जाती—

कीजै चित सोई तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन गनौ न गोपीनाथ॥
यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥
पतवारी माला पकरि और न कछु उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

प्राचीन कवियों में सेनापति जैसे एकाध कवि को छोड़कर प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन पाया ही नहीं जाता। प्रकृति को वहाँ कहीं आध्यात्मिक भाव की व्यंजना के लिए, कहीं रहस्य के लिए, कहीं उपदेश के लिए और कहीं अलंकार-विधान के लिए प्रयुक्त किया गया है। बिहारी ने भी अप्रस्तुत के रूप में प्रकृति से अनन्त मर्म-छवियों को चुना; पर सन्तोष की बात है कि षड्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत उन्होंने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उसमें व्याप्त अनेक भावनाओं को भी चित्रित किया है। लोक की क्रीड़ा को चित्रित करने के उपरान्त प्रकृति में चलने वाली क्रीड़ा पर भी उनकी दृष्टि गई—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधवी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु-अंध॥
रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु॥

प्रकृति और मनुष्य को वे एक-दूसरे के पास लाए और स्थान-स्थान पर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि मनुष्य के व्यवहार का बहुत बड़ा अंश प्रकृति से प्रभावित रहता है। वर्षा और शिशिर दोनों का प्रभाव मानव-हृदय पर देखिए—

तिय-तरसौंहैं मन किए, करि सरसौंहैं नेह।
धर-परसौंहैं ह्वै रहे, झर-बरसौंहैं मेह॥
तपन-तेज, तपु-ताप-तपि, अतुल तुलाई माँह।
सिसिर-सीतु क्यौंहुँ न कटै, बिनु लपटैं तिय-नाँह॥

प्रकृति-सम्बन्धी कुछ चित्र तो बिहारी के ऐसे हैं जो हिन्दी के आधुनिक-काव्य की तुलना में भी कम शक्तिशाली नहीं ठहरते। नीचे के दोहों में जो ग्रीष्म का वर्णन है उसमें प्राचीन-काल के अलंकार-विधान की मार्मिकता और सूक्ष्मता तो है ही, आधुनिक-युग की मूर्तिमत्ता और चेतनता भी विद्यमान हैं। इन दोनों खण्ड-दृश्यों से प्रकृति की कैसी सजीवता झलक रही है! ग्रीष्म और छाया दोनों ही जैसे यहाँ स्पन्दन और गति से युक्त हो उठे हैं। पहले दोहे में तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही प्रकृति के क्षेत्र से चुने गए हैं। यह विशेषता आधुनिकतम हिन्दी-काव्य में, एक महादेवी की 'दीपशिखा' को छोड़कर शायद ही कहीं पाई जाती हो—

नाहिंन ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम लेत उसास॥
बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह॥

हास्य बिहारी में नहीं के बराबर है। ढोंग से इन्हें भी चिढ़ थी, इसी से कथा-वाचकों और अधकचरे वैद्यों को लेकर उन्हें ऐसी स्थिति में दिखाया गया है जिससे हँसी आती है। बिहारी निश्चित रूप से नगर के जीवन और नागरिक रुचि के पक्ष में थे। नागरिकों के प्रति गाँववालों के व्यवहार से ये बहुत क्षुब्ध दिखाई देते हैं; अतः जहाँ कहीं हास्य की स्थिति आई

भी है, वहाँ उसमें व्यंग्य के समावेश के कारण और गाँववालों के प्रति थोड़ी हीन-भावना रखने के कारण ऐसे स्थल शुद्ध हास्य के नहीं रह पाए हैं। हमारा अनुमान है कि भारत के गाँवों और वहाँ के निवासियों के स्वभाव का बिहारी को बहुत अच्छा अनुभव न था। हास्य के कुछ उदाहरण लीजिए—

> बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
> बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥
> परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि पुलकी सुखदानि।
> कसु करि राखी मिश्र हूँ मुहँ-आई मुसकानि॥
> कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
> रूप-रहचटैं लगि लग्यौ, माँगन सबु जगु आनि॥

भावना के क्षेत्र से हटकर कवि लोग कभी-कभी अपने जीवन के अनुभवों को भी चित्रित करते देखे जाते हैं। ऐसी बातें इस धारणा को लेकर लिखी जाती हैं कि शेष संसार उनसे लाभ उठावे। मात्र अनुभव को चित्रित करने वाली ऐसी रचनाएँ सूक्तियाँ कहलाती हैं जिनमें बहुत-सी नीति की बातें भी सम्मिलित रहती हैं। जहाँ तक होता है बात को सीधे-सीधे कह दिया जाता है। पर तथ्य कैसा ही हो उसे हृदयंगम कराना तो होता ही है; इसी से ऐसी उक्तियों में तर्क और अलंकार के सहारे चिंतन के पल अंकित किए जाते हैं। बहुत सी बातें बिहारी ने सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कहीं हैं। कुछ सूक्तियाँ कला, प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लेकर भी हैं—

> मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि।
> खाए खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि॥
> कैसैं छोटे नरनु तैं, सरत बड़नु के काम।
> मढ़यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम॥
> बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
> कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ॥

बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नहीं। वह अभ्यास-साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नहीं खिलता जैसे वसन्त में डालियों पर फूल खिलते हैं। कवि के भाव को ठीक से समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है। यह कला कई बातों पर निर्भर करती है जैसे (१) रस (२) अलंकार (३) नायिका-भेद (४) शब्द-शक्ति (५) प्रसंग-विधान, और (६) भाषा। पाठक को यदि इनमें से एक का भी अच्छा ज्ञान नहीं है, तो वह बिहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित ही रहेगा। उदाहरण के लिए इस दोहे को देखिए जिसका अर्थ इस प्रकार की बातों के ज्ञान के बिना खुल ही नहीं सकता—

> लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
> भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

बिहारी के भाव-पक्ष और कला-पक्ष की सीमाएँ हो सकती हैं और हिन्दी-साहित्य में उनके स्थान पर आलोचकों में मतभेद भी; पर मुझे जो उनके सम्बन्ध में सबसे अच्छी बात लगती है वह यह कि उन्होंने अपने से पूर्व छः सौ वर्ष के काव्य को धर्म के प्रभाव से मुक्त करके जीवन

की ओर मोड़ा। यही काम आज के युग में यदि किसी ने किया होता तो वह 'काव्य में विद्रोह' कहलाता। लौकिक जीवन के एक बड़े पक्ष के सौन्दर्य, क्रीड़ा और आनन्द का जैसा सजीव वर्णन बिहारी में पाया जाता है, वैसा आज तक के किसी कवि के काव्य में नहीं। यह जीवन कहीं-कहीं गन्दला है, पर धरती का जीवन ऐसा ही है, क्या किया जाय। इतना तो निश्चित ही है कि उनके काव्य का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकरप्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्ष की कड़ी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमें से बिहारी का नाम निकाल दिया जाय तो।

गजानन माधव मुक्तिबोध

कामायनी

सभ्यता-समीक्षा और इड़ा

युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रयास करते हुए, हमारे दृष्टि-मार्ग में दो विशेष प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह जिसमें युग-प्रवृत्तियों का मात्र प्रतिबिम्ब हो अर्थात्, आपेक्षिक रूप से, युग-प्रवृत्तियों को जागरूक प्रकार से न किया जाकर, एक विशेष मानसिक निष्क्रियता के वशीभूत हो, मात्र उनका संस्कृत अथवा विकृत प्रतिबिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि जिसमें इन युग-प्रवृत्तियों के अभिप्राय, गर्भितार्थ, उनके प्रभावकारी अथवा विनाशकारी आशय-आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाकर वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है। निश्चय ही, ऐसे साहित्य का उद्देश्य है मानव-चेतना का परिष्कार।

किन्तु, बहुत बार यह भी देखा गया है कि महान्-से-महान् साहित्यकार (जैसे टास्टाय) सारे समाज की चित्रात्मक समीक्षा कर चुकने के बाद, जीवन-सम्बन्धी जिन अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचता है (उनका सर्वमान्य होना या न होना अलग बात है, किन्तु) उनसे डर तो यह हो जाता है कि कहीं वे अन्तिम निष्कर्ष हानि-प्रद तो नहीं है? यह भय स्वाभाविक भी है। समीक्षा जीवनगत तथ्यों की हुआ करती है। अतः, (साहित्य में चित्रात्मक समीक्षा का स्थान बहुत ऊँचा होते हुए भी) समीक्षित तथ्यों के उपरान्त, जब साहित्यकार उन तथ्यों पर आधारित सामान्यी-करणों के क्षेत्र में अपनी स्वभाव-गत तथा प्रभाव-गत प्रवृत्तियों के वशीभूत हो, साहसपूर्ण अथवा दुःसाहसपूर्ण कदम उठाते हुए, अन्तिम निष्कर्षों की ओर दौड़ लगाता है तब उसके चरम-निर्णयों को जरा सावधानी से जागरूकतापूर्वक लेना और उनका उचित विश्लेषण करना एकदम आवश्यक हो उठता है। साहित्य-समीक्षाकार की सफलता, उसके स्वयं के जीवन-विवेक की अनुभव-जन्य व्यापकता के साथ ही, उन तत्त्वों पर मूलतः आधारित है जिन्हें 'दृष्टिकोण' शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। चूँकि मानव-चेतना का परिष्कार न केवल साहित्यकार ही करता है, वरन् भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के अधिकारियों द्वारा भी वह सम्पन्न होता है (उनके सहकार्य के बिना, यह असम्भव भी है) अतएव, समीक्षक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि समीक्ष्य वस्तु और उसके निर्माता के निर्णय, सामान्यीकरण और अन्तिम निष्कर्ष अद्यतन तर्क-शुद्ध और अनुभव-सिद्ध ज्ञान के प्रतिकूल तो नहीं जा रहे हैं? (चूँकि चेतना परिष्कार का सम्बन्ध मानव-स्थिति के उत्थान, उच्चतर रूपान्तर और विकास से है, इसलिए) समीक्षक का दायित्व साहित्यकार के प्रति न्याय, सहानुभूति-औदार्य आदि तक ही सीमित न रहकर, उसके आगे बहुत बढ़ जाता है। यही कारण है कि देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में, समीक्षक की दृष्टि समीक्ष्य साहित्य के अन्तःसौन्दर्य में ही समाहित न होकर, साहित्यकार के अन्तिम निष्कर्षों की

मंज़िल के अन्दर जाकर यह देखने की कोशिश करती है कि क्या यह मंज़िल न्यायोचित, उपादेय और लाभप्रद है !!

इस प्रकार के समीक्षा-सम्बन्धी प्रयास 'कामायनी' के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त हैं, चाहे वे सफल रहें या असफल। कामायनी में इड़ा, श्रद्धा और मनु को लेकर, प्रसादजी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उनका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। पुरुष, स्त्री, व्यक्ति, समाज, सभ्यता, मुक्ति आदि सभी विषय प्रसादजी की विश्लेषणमयी काव्यानुभूति के अन्दर आ जाते हैं।

मुख्य प्रश्न

कामायनी के सम्बन्ध में सबसे बड़ा सवाल है इड़ा के प्रति प्रसादजी के रुख का। पूरी कामायनी में बुद्धि (जिसकी प्रतीक-चरित्र इड़ा है) के बारे में कठोरता बरती गई है। बुद्धि का प्रसंग आते ही, प्रसादजी आलोचनातुर हो उठते हैं। अपनी भूमिका में भी, प्रसादजी ने बुद्धि के विरुद्ध श्रद्धा के प्रति अपने पक्षपात की ओर इशारा कर दिया है। कामायनी के कथानक में भी, इड़ा (न्याय का पक्ष लेते हुए भी) पराजिता बतलाई गई है। स्वयं इड़ा, श्रद्धा के सम्मुख, निविड़ आत्मालोचन से ग्रस्त हो जाती है। इन सभी बातों से, स्वभावतः, निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रसादजी बुद्धिवाद-विरोधी श्रद्धावाद के समर्थक हैं। लेकिन सवाल यह भी है कि बुद्धि और उसके व्यवहार-क्षेत्र को हीन-भाव से देखने के क्या माने हैं ? क्या अपने इस रुख से प्रसाद जी तत्सामयिक सांस्कृतिक विचार-विकास-श्रृङ्खला के बहुत पीछे की कड़ी की ओर तो नहीं जा रहे हैं ? रवीन्द्र और उनके पूर्व रामकृष्ण-रामतीर्थ, महाराष्ट्र के चिपलूणकर-आगरकर बुद्धि की निर्माणकारी सत्ता को मानते थे। भारत के राष्ट्रीय उत्थान का, रमण और जगदीशचन्द्र बोस और रामानुजन की कीर्तिगाथाओं का, गाँधीवाद-प्रणीत राष्ट्रवाद के भव्य उत्कर्ष का वह काल था। ऐसे समय, नई सभ्यता का निर्माण करने वाली स्वप्न-दर्शी इड़ा के तिरस्कार का अर्थ ? साम्राज्य-वाद-विरोधी राष्ट्रवादी आन्दोलन के रामराज्य के स्वप्न से प्रसाद प्रभावित क्यों नहीं हो रहे थे ? क्या वे राष्ट्र-निर्माण के मानवीय प्रयासों से नाराज़ होकर इड़ा से विद्रोह कर बैठे थे ? अथवा, इड़ा के पीछे कोई और रहस्य है ?

इड़ा-प्रणीत सभ्यता

एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि तत्सामयिक राष्ट्रवादी आन्दोलन की सामाजिक भूमि से, उसकी वास्तविकताओं से, प्रसादजी का आदर्शवाद प्रभावित न था। हाँ, उस सामाजिक राष्ट्र-वादी वास्तविकता का जो उन्होंने विश्लेषण किया वह कामायनी में चित्रित होकर आज भी उतना ही सच है जितना कि प्रसादजी के ज़माने में था। निश्चय ही, इड़ा-आगमन-पूर्व मनु के सभ्यता-निर्माण के प्रयास का तथा इड़ा-प्रणीत सभ्यता के ह्रास-मूलक स्वरूप का चित्र प्रसादजी के व्यक्ति-गत अनुभव की कठोर शिला पर आधारित है। अगर यह न होता, तो प्रसादजी विश्लेषणों और सामान्यीकरणों की तीव्रता और प्रचुरता का प्रदर्शन न कर पाते। विश्लेषण और सामान्यीकरण तथ्यों का हुआ करता है। ये तथ्य निश्चय ही लेखक के सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभवों की सुदृढ़ शिला पर खड़े हुए हैं—वे कल्पना-मूलक नहीं हैं। अगर वे कल्पना-मूलक होते तो न उस विश्लेषण और न उस सामान्यीकरण में गहराई आ पाती, न आवेग, न तीव्रता ! किन्तु, प्रसादजी की विश्लेषणात्मक अनुभूति प्रतीकों, उपमाओं, चित्रों आदि के तीव्र आवेग के बीच, ऐसे-ऐसे सत्य सामान्यीकरणों को जन्म देती है कि दंग रह जाना पड़ता है। मज़ा यह है कि वे

सामान्यीकरण, निष्कर्ष तथा निर्णय हमारे देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में और भी अधिक सत्य हो गए हैं। कामायनी में वर्णित सभ्यता-प्रयासों के पीछे, प्रसादजी का अपना जीवनानुभव, अपने युग की वास्तविक परिस्थिति, अपने समय की सामाजिक दशा बोल रही है यह निर्विवाद है।

कामायनी में इड़ा के स्वरूप की पहचान उस सभ्यता के रूप के विश्लेषण द्वारा भी हो सकती है, जिसके निर्माण में इड़ा का भी योग था। कामायनी में अंकित, इस सभ्यता-विश्व की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विभेद, वर्ग-संघर्ष, शासनादेश-घोषणा, विजयों की हुँकार, युद्ध, रक्त-अग्नि की वर्षा, भय की उपासना, 'प्रणति भ्रान्त', 'भीति-विवश कम्पित' होकर काम करते जाना, भूख से विकल दलित, 'राष्ट्र' के भावों का नियमों में रूपान्तर, नियमों का दण्डों में रूपान्तर, और दण्डों के कारण, सबका कराहना नियम-स्रष्टाओं द्वारा आतंक-विप्लवों की वृष्टि, सुविभाजनों का विषम होना, नियमों का नित्य टूटना और बनना, अन्धकार में दौड़, विनाश का मुख हमेशा खुला होना, मस्तिष्क का हृदय से विरोध, ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया में परस्पर-विरोध-वैषम्य, श्रद्धा का अन्ध-श्रद्धा में रूपान्तर (श्रद्धा वंचक बनकर अधीर, मानव-सन्तति ग्रह-रश्मि-रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर) दलित दारिद्रय, कलह, असफलता-मूलक आँसू, अहंकार, दंभ, कष्ट, सन्ताप और मृत्यु इत्यादि।

प्रसादजी द्वारा वर्णित यह सभ्यता शापग्रस्त सभ्यता है (देखिए, इड़ा सर्ग में शाप-वाणी)। इस सभ्यता के विष-बीज मनु के इड़ा-आगमन-पूर्व प्रारम्भिक प्रयासों में लक्षित हो चुके थे। इस ह्रास-मूलक सभ्यता के प्रधान कारण ये हैं—(१) विभेद, वर्गों की खाई (२) शासन-कर्ता की आतंकवादी नीति, "भय की उपासना" और सत्तावाद, (३) "श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें, अपने बल का है गर्व उन्हें" (४) बनावटी नियम, कृत्रिम सीमाएँ और दण्ड (५) शोषण तथा दारिद्रय।

इस सभ्यता का, व्यक्तिगत मानसिक स्तर पर, इस प्रकार प्रभाव है—(१) मनुष्य का "कृत्रिम स्वरूप" (२) ज्ञान, इच्छा और क्रिया में परस्पर विरोध-विषमता (३) दंभ, लालसा, असफलता, आँसू, अहंकार आदि-आदि।

प्रसादजी मूलतः यह मानते हैं कि सामंजस्य-विरोधी विघटन की प्रक्रिया, जो सामाजिक स्तर पर वर्ग-विभेद की खाई के रूप में कार्य कर रही है, ठीक वही प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर भी गतिमान है। किसी "संकुचित असीम अमोघ शक्ति की भेद से भरी भक्ति" ही यह विघटन की प्रक्रिया है, जो जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय है। प्रसादजी विघटन की इस प्रक्रिया को मूलतः (१) वर्ग-भेद-वर्ग-संघर्ष (२) अहंकार मानते हैं।

सारी कामायनी में नवीन सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास, और सफलताओं पर कोई सर्ग नहीं। श्रीवृद्धि और विज्ञानोन्नति, और सत्ता ये चार बातें नई सभ्यता की सफलताओं में गिनाई जा सकती हैं। किन्तु अपने जन्म से ही यह बालक रोग-ग्रस्त रहा। प्रसादजी बार-बार यह कहते हैं कि यह समाज विनाश के मुँह में चला जा रहा है।

प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा के प्रधान तत्व ये हैं—(१) वर्ग-भेद का विरोध और भर्त्सना, अहंकार की निन्दा। यह प्रसादजी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (२) शासक-वर्ग की जन-विरोधी आतंकवादी-नीतियों की तीव्र निन्दा। यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है (३) वर्ग-भेद का विरोध करते

हुए भी, मेहनतकशों के वर्ग-संघर्ष का तिरस्कार—यह एक प्रतिक्रियावादी तत्व है। (४) वर्ग-हीन सामंजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद—यह तत्व, अपने अन्तिम अर्थों में, इसलिए प्रतिक्रियावादी है कि (क) वर्ग-वैषम्य से वर्ग-हीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपाय-हीनता का आदर्शीकरण है आदर्शवादी-रहस्यवादी विचाधारा (ख) इस उपाय-हीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरजीव है। (ग) इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास इसीलिए रखती है। (घ) इस विचार-धारा के द्वारा, यथार्थ और आदर्श के बीच अनुल्लंघनीय खाई पड़ जाती है।

ध्यान रहे कि प्रसादजी के सम्मुख उनके अपने 'आज' की ही दुनिया थी। वे इस 'आज' की वास्तविकताओं से इतने ज्यादा परिचित थे कि वे स्वयं भारतीय कीर्ति के उद्गाता होकर भी, राष्ट्रीय उत्थान और साम्राज्यवाद-विरोधी वायुमण्डल के बावजूद, इस बात को कतई न भूल सके कि यह नवीन पूँजीवादी समाज और राष्ट्र भयानक रूप से रोगग्रस्त है। इड़ा सर्ग की शापवाणी सुनिये। यह शापवाणी सन् १९५२ की वास्तविकताओं को भी ठीक चित्रित करती है—सिवाय एक बात के। नई ऐतिहासिक शक्तिसम्पन्न, विकासमान श्रमिक वर्गों की बल-वृद्धि और आत्म-विश्वास समयी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति वे देख न सके। उनके जमाने में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में, इस क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का कोई निर्णायक (और व्यापक) प्रभाव भी न था। प्रसादजी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने नवीन राष्ट्रीय पूँजीवादी यथार्थ के ह्रासग्रस्त स्वरूप की तीव्रतम शब्दों में निन्दा की। भारतीय समाज के अन्दर, मार्क्सवादी विचार-धारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण, तथा—तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर, वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व को चिरन्तन मान बैठे।

इड़ा का स्वरूप

ऐसी सभ्यता की फ़िलासफ़ी की एक प्रतीक इड़ा, मनु के अतिचारी कार्यों की न्यायपूर्ण भर्त्सना के बावजूद, (और अपनी निविड़ आत्म-आलोचना के बावजूद) प्रसादजी की अन्तिम सहानुभूति खो बैठी। यह इड़ा बुद्धि की प्रतीक नहीं। (प्रसादजी ने उसे बुद्धि का प्रतीक-चरित्र माना है) वह तो पूँजीवादी समाज की मूल विचार-धारा की प्रतीक है। इड़ा बुद्धि-प्रधान अवश्य है। वह विज्ञानोन्नति और वर्ग-विभाजन के आधार पर, नवीन सभ्यता खड़ी करती है। जीवन के लिए संघर्ष (struggle for existence) और योग्यतम की विजय तथा शेष का तिरोधान (survival of the fittest) उसका प्रमुख सिद्धान्त है। इस संघर्ष को वह 'चिति-केन्द्रों का संघर्ष' कहती है। यह संघर्ष, इड़ा के अनुसार, लोगों को आपस में मिला देता है (लोग संगठित हो जाते हैं) किन्तु, इस संघर्ष के कारण, व्यक्ति-चेतना राग-पूर्ण होकर भी द्वेष-पंक में सन जाती है, तथा वह गिरती पड़ती अपनी मंजिल की ओर चली चलती है। यही जीवन-उपयोग है, यही बुद्धि-साधना है; और अपना जिसमें श्रेय हो, वही सुख की आराधना है (देखिए—संघर्ष सर्ग, पृष्ठ २००-२०१)

इड़ा स्वयं भी रहस्यवादी है। वह 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' वाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानती है। किन्तु, (पूँजीवादी) नियम-विधान के प्रतिकूल जाने

वाले के लिए, उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती कि वर्ग-भेद के आधार पर उसके 'सुविभाजन विषम' क्यों हो गए हैं और नियम क्यों टूटते हैं और नये क्यों बन जाते हैं। वह अपनी अवनति, अपना ह्रास स्वीकार करती है और श्रद्धा को अमूर्त समरसता का सिद्धान्त मान लेती है।

निश्चय ही, श्रद्धा और प्रसादजी 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त को बिलकुल नहीं मानते। यह एक घनघोर प्रतिक्रियावादी मान्यता है, जो मनुष्यता के मानवीय स्वरूप के एकदम विपरीत है। वह सिद्धान्त स्वार्थ-लोलुप साम्राज्यवादी पूँजीवाद का वैचारिक अस्त्र है। इस वैचारिक मनोभूमि से ग्रस्त इड़ा और उसकी नवीन सभ्यता श्रद्धा और प्रसादजी के लिए अत्यन्त गर्हणीय है। किन्तु, अपनी उपायहीनता के कारण, इस सभ्यता को उन्हें चिरन्तन मान लेना पड़ता है। उसकी विषमता और सन्ताप को कम-से-कम करने के लिए, अच्छे शासक की जरूरत है। सो, श्रद्धा अपना पुत्र इड़ा को सौंप देती है। वर्ग-संघर्ष के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए भी, श्रद्धा वर्गहीन सामंजस्यपूर्ण समाज का समर्थन करती है, किन्तु इड़ा का सामंजस्य वर्ग-मैत्री के आधार पर स्थित है। (इस अर्थ में, इड़ा का चरित्र श्रद्धा से हजार गुना प्रतिक्रियावादी है)।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गई है कि श्रद्धा के इड़ा-विरोध का अर्थ अ-बुद्धिवाद नहीं, न बुद्धि-विरोधीवाद है। इड़ा में निर्माणात्मक प्रतिभा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी हैं—जिसे श्रद्धा ही क्या, कोई भी मानववादी स्वीकार नहीं कर सकता। अतः, ऐसी इड़ा का तिरस्कार कर, प्रसादजी अपने युग-विचारों को पीछे की ओर नहीं ले जा रहे थे, वरन् वे, वास्तविकताओं के विश्लेषण के द्वारा, हिन्दी-भाषा-भाषी विश्व के ज्ञान-कोष में वृद्धि ही कर रहे थे।

किन्तु, इड़ा को बुद्धि-तत्व का प्रतीक मानकर तथा श्रद्धा को श्रद्धा-तत्व का प्रतीक मानकर, प्रसाद ने जिस प्रकार भ्रम-प्रसार किया वह वस्तुतः अत्यन्त शोचनीय है, विशेषकर इसलिए कि हिंदी जगत् में बुद्धि-विरोधी श्रद्धावाद को भारतीय परम्परा का नाम देकर जो एक प्रतिक्रिया-वायुमण्डल तैयार किया गया, उसके फलस्वरूप हिन्दी के प्रतिक्रियावादी क्षेत्रों में ही कामायनी अधिक लोकप्रिय हो सकी, और उसके अन्तर्गत प्रखर प्रगतिशील तत्वों के प्रति पूर्ण उपेक्षा बरती गई।

क्रान्तिकारी-शुद्ध वैज्ञानिक विचारधारा के अभाव की स्थिति में, साहित्यकार किस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ठीक उसी घनघोर वास्तविकता से समझौता कर लेता है, जिस वास्तविकता का वह भयानक शत्रु है, इसका उदाहरण है स्वयं श्रद्धा और उसके कल्पक-निर्माता प्रसाद जी। मनु-पुत्र को इड़ा के पास सौंपना, और स्वयं हिमालय पर जाकर अमूर्त समरसता और सामंजस्य के वातावरण में रहना क्या आशय रखता है? यदि प्रसादजी के पास युगान्तरकारी वैचारिक अस्त्र होते, तो श्रद्धा के सम्मुख आत्म-आलोचन-ग्रस्त इड़ा के मन को, वैचारिक ऊहापोहों के द्वारा ऐसे स्तर पर भी पहुँचाया जा सकता था, जहाँ से वर्ग-विभाजन-हीन नवीन लोक-राज्य और नवीन जन-सभ्यता के सिंहद्वार की ओर जाने वाले प्रशस्त क्रान्तिकारी पथ के दर्शन हो सकते थे। और मनु-सहित इड़ा-श्रद्धा उस राह पर चल सकते थे। ध्यान रहे कि छायावादी काव्य में कामायनी ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाज-नीति और राजनीति के क्षेत्र में, नये साहस प्रयासों को लेकर निर्द्वंद्व रूप से आगे बढ़ता है। अतः उपरिलिखित मन्तव्य उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

विजयेन्द्र स्नातक

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

कामायनी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। ऐतिहासिक होने के कारण इसका आधार अनिवार्यतः सैद्धान्तिक है। इतिहास को दर्शन का बहिर्विकास स्वीकार करने के कारण कवि का ध्यान भौतिक घटनाओं के मूल में सन्निविष्ट उन सिद्धान्तों की ओर सतत बना रहा है जिनके द्वारा जगत् और जीवन की गतिविधि का यथार्थ रूप में आकलन होता है। मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के साथ इसमें मानव मन के विकास और मुक्ति की मनोवैज्ञानिक कथा भी है अतएव इसका दार्शनिक आधार अपेक्षाकृत व्यक्त और स्पष्ट है। मनु अर्थात् मनन-शक्ति (मन) के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की भावनात्मक सत्ता, विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति तथा इड़ा अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि के संघर्ष और समन्वय का विवेचन ही कामायनी का दार्शनिक आधार है। देव-सृष्टि के ध्वंस के उपरान्त अभिनव मानव-सृष्टि का सूत्रपात करने वाले मनु, वेद, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार एक विख्यात् ऐतिहासिक पुरुष भी हैं और साथ ही उनकी कथा मानव-विकास-रूपक का सुदृढ़ आधार भी है। कामायनी की कथा का परिनिर्वाण मनु अर्थात् मन की आनन्दोपलब्धि के साथ होता है अतएव इसमें आनन्दवाद की प्रतिष्ठा सर्वथा असंदिग्ध है। यह आनन्दवाद दार्शनिक सिद्धान्त या वाद की दृष्टि से प्रसादजी की अपनी मौलिक सृष्टि है जिसके निर्माण में उन्होंने मुख्य रूप से शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन, वेदान्त दर्शन, उपनिषद् तथा वर्तमान युग की साम्यवादी प्रवृतियों का आवश्यकतानुरूप उपयोग किया है। किसी एक मतवाद को पकड़-कर उसी की अन्ध-उपासना प्रसादजी को अभीष्ट न थी।

कामायनी का आधारभूत सिद्धान्त आनन्दवाद है। मन के सामरस्य दशा में अवस्थित होने पर ही आनन्द प्राप्ति होती है। मानव मन का परम ध्येय है शाश्वत आनन्दोपलब्धि। आनन्द प्राप्ति के साधनों में पर्याप्त मतभेद होने पर भी 'आनन्दोपलब्धि' रूप लक्ष्य के विषय में आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में अविरोध पाया जाता है। प्रसादजी ने कामायनी में आनन्द को साध्य मानकर जिस साधना को प्राथमिकता दी है वह है श्रद्धा और इड़ा की समन्वय भावना। श्रद्धा और इड़ा में समन्वय उत्पन्न होने पर इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामरस्य उत्पन्न होता है और यह सामरस्य ही दुख धारा के उपरान्त अनन्त आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। जब मन पूर्णतः श्रद्धावान होकर लक्ष्याभिनिवेशी होता है तभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। अतः श्रद्धा का आनन्दवाद की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योग है।

श्रद्धा शब्द का तात्त्विक अर्थ है विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति। कामायनी में श्रद्धा को विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, दया, सौख्य आदि उदात्त भावों का प्रतीक कहा गया है। वह जगद्धात्री, सर्वमंगला, अमृत धाम आदि रूपों में भी स्थान-स्थान पर वर्णित हुई है। वेद, उप-निषद्, गीता, योगदर्शन, त्रिपुरा रहस्य आदि शास्त्रों में श्रद्धा को लोक-कल्याण-प्रवर्तन की मूल

वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'श्रद्धाहि जगतां धात्री, श्रद्धाहि सर्वस्य जीवनम् ', कहकर ही सन्तोष नहीं हुआ, श्रद्धा के अभाव में जगत् की स्थिति भी सम्भव नहीं मानी गई—'श्रद्धा वैधुर्य योगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः' ! 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' कहकर गीता में श्रद्धा का परम पुरुषार्थ-मोक्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया गया है। श्रद्धा मूलक साधना से श्रद्धानुरूप फल प्राप्ति भर गीता में बताई गई है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' ऋग्वेद में श्रद्धा का गौरव और महत्व विस्तारपूर्वक वर्णित है जिसमें श्रद्धा को अभीष्ट फलदात्री तथा वैभव की अधिष्टात्री देवी कहा गया है—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ऋक् संहिता १०. १४. १४

वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक श्रद्धा अपने गौरवपूर्ण आसन पर समासीन रही और उसके महत्व का आख्यान होता रहा। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने काव्य रामचरितमानस को हृदयंगम कर लाभ उठाने के लिए सबसे पहले श्रद्धा का होना अनिवार्य बताया—

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन कँह मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा अपने तात्विक अर्थ के साथ व्यावहारिक रूप में भी जो उपयोगिता रखती है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। कामायनी में तो श्रद्धा का प्रभाव आदि से अन्त तक छाया हुआ है, उसके प्रति निष्टावान हुए बिना काव्य के मर्म को समझना भी सम्भव नहीं।

मानव-मन के मस्तिष्क पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति है इड़ा अर्थात् बुद्धि। यह वृत्ति व्यवसायात्मिका है जो तर्क-वितर्क में उलझाकर मानव को आनन्द-प्राप्ति के पथ से हटाने में लीन रहती है। ऋग्वेद में इड़ा-सम्बन्धी एक सूक्त है जिसमें इड़ा को बौद्धिक ज्ञान का प्रतीक कहा गया है। बुद्धि का प्रतीक होने के कारण "इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुख मिलना स्वाभाविक है।" यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि इड़ा (बुद्धि) मन को उत्तेजित करने में तो समर्थ है किन्तु मन को परितुष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है। यही कारण है कि श्रद्धाहीन बुद्धि केवल क्लेश, सन्ताप और संघर्ष को ही जन्म देने में निरत रहती है। तर्क-वितर्क और विघटन की ऊहापोह के कारण बुद्धि का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इस संसार में कुछ भी कल्याणकारी निर्माण नहीं कर पाता। कामायनी के इड़ा सर्ग में प्रसादजी ने इसका स्वरूप और स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—

हाँ अब तुम बनने को स्वतन्त्र,
सब कलुष ढालकर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाशन ग्रहण किया
हाँ, जलन, वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने तन्त्र
हो शाप भरा तब प्रजातन्त्र।

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हों अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकोगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

उपर्युक्त पंक्तियों में इड़ा (बुद्धि) की उन मूल प्रवृत्तियों की ओर कवि ने संकेत किया है जिनसे इड़ा का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। द्वन्द्व और संघर्ष के बीच जलन और ईर्ष्या-पंक में लिप्त इड़ा केवल अभिशप्त जीवन का ही पोषण करने में समर्थ है। भेद-बुद्धि उत्पन्न करके वर्णों की सृष्टि करने में लीन यह बुद्धिवाद, प्रेम, ममता, समवेदना और सद्भाव से दूर स्वार्थान्ध एवं संकीर्ण जीवन ही प्रदान करता है। 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' शीर्षक गीत में इड़ा का बाह्य रूप जिस प्रतीकात्मक शैली से कवि ने अंकित किया है वह उसके स्वरूप और कार्य-व्यापार का अच्छा परिचायक है। हृदय की स्निग्ध भावनाओं के अभाव में वह सुख, शान्ति और संतोष देने में सर्वथा असमर्थ रहती है—कामायनी के दर्शन सर्ग में श्रद्धा ने इड़ा को सम्बोधित करके कहा है—

श्रद्धा बोली—वन विषम ध्वान्त
सिर चढ़ रही पायान हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय।

इड़ा के कार्य-व्यापार और स्वरूप का उपरिलिखित वर्णन पढ़कर यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि यदि सचमुच बुद्धि का यही व्यवसाय और प्रयोजन है तो उसकी यथार्थ उपादेयता क्या है? इस प्रश्न के प्रस्तुत होने पर बुद्धि की उपयोगिता की बात निस्सन्देह जटिल बन जाती है। किन्तु बुद्धि मानव-मन के विकास में सर्वथा व्यवधान या व्यर्थ की वस्तु नहीं है। उसे हम अवांछनीय तत्व कहकर छोड़ नहीं सकते। उसका अपना एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि उसके द्वारा राग को परिपक्वता प्राप्त होती है। उसके संसर्ग से श्रद्धा दृढ़ होती है। राग को लक्ष्य के प्रति प्रेषणीय बनाने में बुद्धि का विपुल प्रयोजन है; अतः यह कहना अनुचित न होगा कि बुद्धि नियंत्रित श्रद्धा के द्वारा ही मन समरसता की स्थिति को प्राप्त होता है। श्रद्धा और बुद्धि का यह सामरस्य ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में अभिन्नत्व की सृष्टि करके मन को अखंड आनन्द की दशा में पहुँचाने का साधन है। कामायनी में यदि आनन्दवाद साध्य है तो सम-रसता उसकी प्राप्ति का साधन है इसलिए श्रद्धा और इड़ा के समन्वय तथा सामरस्य दशा की प्राप्ति उन गुत्थियों को सुलझा देती है जो दर्शन की परिभाषा में सच्चिदानन्द प्राप्ति या ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। कामायनी के दर्शन की इस प्रारम्भिक सीढ़ी को पार कर लेने के बाद समरता का रहस्य और उसका प्रभाव जान लेना भी आवश्यक है।

समरसता

समरसता शब्द और समरसता का सिद्धान्त प्रसादजी ने शैव-दर्शन से ग्रहण किया। शिव-तत्व और शक्ति-तत्व का सामरस्य शैव-दर्शन की आधारभूत मान्यताओं में है और इसका प्रतिपादन स्थान-स्थान पर किया गया है। समस्त सुख-दुख के बीच एक रस रूप शिव विद्यमान हैं जिनकी प्रत्यभिज्ञा से समरसता आती है तथा सामरस्य की प्रतीति होने पर द्वैत भी आनन्द-निस्पन्द हो जाता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मा परमात्मनोः ॥

शैवागमों के इस समरसता का वर्णन शिव के विभिन्न रूपों को लेकर किया गया है और उसके द्वारा जगत् के वैषम्य को सार्थक बनाते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि इस वैषम्य में समत्व किस प्रकार स्थापित करके शिवत्व प्राप्त किया जाय। कामायनी में इसी तत्व को प्रसादजी ने श्रद्धा और इड़ा के संघर्ष और समन्वय द्वारा प्रतिपादित किया है। बुद्धिवृत्ति की एकांगिता को श्रद्धा के समन्वय से ही सार्थक बनाया जा सकता है। समरसता का प्रारम्भ इन दोनों के यथोचित मिलन से ही प्रारम्भ होता है। सारस्वत प्रदेश में मानव को उपदेश देती हुई श्रद्धा कहती है कि—

सबकी समरसता का प्रचार,
मेरे सुत सुन माँकी पुकार।

कामायनी के रहस्य सर्ग में त्रिपुर की अवतारणा करते हुए कवि ने समरसता का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इच्छा, कर्म और ज्ञान यह त्रित्व मानव मन की शाश्वत प्रवृत्ति तथा गतिविधि का मनोवैज्ञानिक लेखा है अतः इनमें सामरस्य स्थापित करने की चेष्टा ही मन को परिपूर्णता की स्थिति तक पहुँचाना है। जब तक इन तीनों में अभिन्नत्व न होगा आनन्द की प्राप्ति क्योंकर सम्भव हो सकती है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्या पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

इन तीनों के सामरस्य की स्थिति पर आते ही एक दिव्य स्वर-लहरी का संचार हो जाता है। मनु योगियों की परमानन्द दशा अनाहतनाद में लीन हो मुक्ति-सुख में विचरण करने लगते हैं।

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद के
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

योगियों को निर्विशेष या निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर जैसी विशुद्ध अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति इस सामरस्य दशा में हो जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक होकर जैसे अखण्ड आनन्द में योगी को पहुँचा देते हैं वैसे ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में समत्व आने पर भेद-बुद्धि निःशेष हो जाती है। शैवागमों में इस स्थिति को चिदानन्द प्राप्ति कहते हैं। यह

समरसता के मार्ग से ही उपलब्ध होती है।

समरसता का यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही चरितार्थ नहीं होता वरन् लौकिक पक्ष में भी व्यावहारिकता की दृष्टि से यह पूर्णरूपेण उपादेय सिद्ध होता है। कामायनी में कवि ने वर्तमान वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी प्रभाव को अपने मन में धारण करके उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक संघर्ष और विनाश का चित्रण किया है। कदाचित् इसी कारण समरसता के प्रतिपादन में उसने प्रकृति और पुरुष की अध्यात्म-परक समरसता तक अपने को सीमित नहीं रखा। व्यक्ति और समाज की समरसता का विशद रूप से उसने वर्णन और समर्थन किया है। लौकिक पक्ष में भी इस समरसता को अधिकाधिक व्यवहार्य बनाने का प्रयत्न स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। श्रद्धा के द्वारा कवि ने इस संसार के वैषम्य का वर्णन कराकर शिवत्व या समरसता का निरूपण किया है। श्रद्धा कहती है—"वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एक-रस रहने वाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण व्यापक रहकर प्रत्येक कार्य में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठने वाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणि समूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठने वाली दुख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख स्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागमों के अनुसार यही लोक का कल्याण भी है।" संक्षेप में, जो समरसता लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला साधन है, वही शाश्वत सुख या आनन्द का विधायक भी। आनन्द ही प्रसादजी का परम ध्येय और अभीष्ट है, और वही साध्य है।

आनन्दवाद

समरसता के मार्ग से जिस कोटि की आनन्दोपलब्धि का वर्णन प्रसादजी ने कामायनी में किया है वह सगुणोपासक वैष्णव-भक्तों का आनन्द नहीं है। सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के समान आनन्द का आलम्बन अपनी आत्मा से बाहर चराचर जगत् में स्थापित न करके अपनी अन्तरात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करना इनका लक्ष्य है। योग-शास्त्र का ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधनों का उपयोग भी उसमें विहित है। निर्गुण-भक्ति पद्धति में जिस प्रकार निराकार-निरंजन की उपासना द्वारा अन्तरात्मा दिव्य शक्ति के आलोक से आलोकित हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दवाद की साधना-पद्धति में भी अन्तरात्मा शाश्वत सुख और आनन्द से परिपूर्ण हो उल्लसित हो जाता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए साधक को वराह, नरसिंहावतार आदि बाह्य आलम्बनों की अपेक्षा नहीं होती। उसका आनन्द आश्रय-निष्ठ और आभ्यन्तर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"कामायनी में प्रसादजी ने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनन्द-वाद वल्लभाचार्य के 'काम' या आनन्द के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अन्त-र्भूमि-पद्धति पर है।" अपने आनन्दवाद की सृष्टि प्रसादजी ने प्रमुख रूप से शैवागमों के प्रत्य-भिज्ञा दर्शन के आधार पर की है किन्तु भारतीय दर्शनों तथा उपनिषदों से भी उपयोगी तत्त्वों का उन्होंने चुनाव किया है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन से कुछ तत्वों को ग्रहण किया और कुछ स्थलों

पर इनसे स्पष्ट पार्थक्य रखा। जगत् को ब्रह्ममय स्वीकार करने पर भी उन्होंने अद्वैत मतानुसार उसे मिथ्या या असत् नहीं माना। माया का प्रभाव भी वे अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानते—शैवाद्वैत में माया के स्थान पर शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन है और इसे मानने पर जगत् को मिथ्या मानना आवश्यक नहीं रह जाता। सांख्य या बौद्ध दर्शन की तरह वे संसार को दुखमय भी नहीं मानते—हाँ, जगत् की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उन्हें स्वीकार्य्य है। वे इस दृश्यमान जगत् को आनन्दमूर्ति शिव का निग्रह मानकर सत्य (सत्) स्वयं आनन्दमय मानते हैं। बौद्धों के नैरात्म्यवाद में भी उनका विश्वास नहीं—कामायनी का दर्शन आत्मवाद की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है। कामायनी में ज्ञान को प्रधानता न देकर श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। शांकर मत में 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' है तो प्रसाद मत में 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का सन्देश है।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि कामायनी के आनन्दवाद की सृष्टि में शैवागमों की प्रधानता है, वह सापेक्षिक है, यह समझ लेना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि कामायनी की दार्शनिक विचारधारा सर्वतोभावेन शैव विचार धारा है। यह ठीक है कि प्रसादजी शिव के अनन्य भक्त और आराधक थे अतः शैव दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भाव्य था। किन्तु शैवागमों के साथ वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों का भी वे सतत अनुशीलन करते रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी एक शास्त्र की संकीर्ण विचार-शृङ्खला उन्हें बाँध न सकी। समरसता और आनन्दवाद के मूल उपकरण शैवागमों से लेकर भी वे वेदान्त और उपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्म और उसकी सर्वव्यापकता की उपेक्षा न कर सके। 'महाचिति' अथवा चैतन्य का वर्णन प्रसादजी ने शैवागम के आधार पर ही किया है। चैतन्य के अतिरिक्त इस विश्व में किसी की भी सत्ता नहीं, ऐसा शैवागमों का कथन है। शिव की शक्ति के असंख्य रूप होने पर भी शैवदर्शन में परमेश्वर की पाँच शक्तियों का वर्णन किया गया है। कामायनी में भी शिव के पाँच रूप संहारक, सृष्टा, मायायोगी, मन्त्रवित् और नटराज प्रस्तुत किये गए हैं। शक्ति की दृष्टि से शिव पाँच रूपों में सामने आते हैं—प्रकाशरूपा चित् शक्ति, स्वातन्त्र्य शक्ति (आनन्द शक्ति), तच्चमत्कार (इच्छा शक्ति), आकर्षात्मकता (ज्ञान शक्ति) और सर्वाकार योगित्व (क्रिया शक्ति)। कामायनी के श्रद्धा सर्ग में इस महाचिति शक्ति की महिमा का वर्णन है। महाचिति लीलामय आनन्द कर रही है; उसके नेत्र खुलने पर ही विश्व का सुन्दर उन्मीलन होता है—

कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।

शिव-शक्ति के सविस्तर वर्णन को पढ़कर पाठक के मन में यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि शैवदर्शन है और उसके मूलाधार ग्रन्थ शैवागम हैं। इससे आगे बढ़कर पाठक यह भी सोच सकता है कि शैव-सिद्धान्तों की विवृति के लिए ही प्रसादजी ने मनु और श्रद्धा के इतिवृत्त को कामायनी में अवतरित किया है। किन्तु शैवागमों से कामायनी के दार्शनिक विचारों का मौलिक मतभेद जाने बिना इस प्रकार की धारणा बना लेना उचित नहीं। शैवदर्शन सामाजिक दर्शन नहीं है, वह व्यष्टि दर्शन है। समष्टि विकास के सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यष्टि विकास पर ही उसका बल है। इसके विपरीत कामायनी का दर्शन सामाजिक दर्शन है; व्यक्ति विकास से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता। समष्टि-मूलक-विकास भावनाओं के साथ

उसका विस्तार होता है अतः उसकी परिधि अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती है। कामायनी के कर्म सर्ग में इस सिद्धान्त को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा !
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।

समष्टि-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी के श्रद्धा सर्ग में भी कवि ने उपनिषदों के 'भूमा' शब्द के द्वारा बड़ी ही सुन्दर शैली से किया है। नारद और सनत्कुमार संवाद में भूमा की महिमा वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस संसार में जो भूमा है—व्यापक और महान् सुख है—वही अमृत है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—'नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्'। व्यष्टि-सुख का तिरस्कार करती हुई समष्टि या व्यापक सुख की ओर ही प्रवृत्ति करने वाली वृत्ति ही भूमा है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि व्यष्टिगत सुख को समष्टि-गत-सुख में पर्यवसित कर देना ही भूमा है और यही कामायनी की सामाजिकता का आधार है। श्रद्धा सर्ग के अन्तिम पद की अन्तिम पंक्ति तो समष्टिगत सौख्य की पुकार से गूँज रही है—"समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।" संक्षेप में, कामायनी का यह समष्टि विकास-भाव शैवदर्शन के व्यष्टि-विकास से मेल नहीं खाता और प्रसादजी के दर्शन को अपेक्षाकृत व्यापक बना देता है। इसके अतिरिक्त कामायनी का दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन ही न रहकर व्यावहारिक भी है। उसके व्यावहारिक होने का कारण है उसमें वर्तमान-युग की सामाजिक भावनाओं का ग्रहण और समर्थन। आधुनिक युग की पदार्थ प्रियता, जिसका दायित्व भौतिक विज्ञान पर है—कामायनी के कवि को इष्ट नहीं। वर्ग संघर्ष और सामाजिक वैषम्य द्वन्द्वात्मक संघर्षों का प्रभाव भी कवि के मन पर पड़ा है और अपने समन्वय तथा सामरस्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उसका ध्यान इन समस्याओं की ओर गया है। वर्ग-वैषम्य ने किस प्रकार सामाजिक जीवन को कुण्ठित बनाया हुआ है और उससे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है, यह कामायनी के संघर्ष सर्ग में कवि ने बताया है। बुद्धि की विगर्हणा में भी कवि सांकेतिक शैली से यह काम करना चाहता है कि केवल तर्क-संकुल शुष्क ऊहापोह से जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। भौतिक विज्ञान के प्रभाव में आधुनिक युग में हम इस तथ्य को भूल रहे हैं अतः सर्वांगीण जीवन-दर्शन का निर्माण भी नहीं कर पाये हैं। सर्वांगीण विकास के लिए जिस कोटि के जीवन-दर्शन की आज आवश्यकता है वह भौतिक साधनों तक सीमित रहने से ही उपलब्ध नहीं हो सकता। शुद्ध निर्लेप चैतन्य का शाश्वत और अखण्ड आनन्द-प्राप्ति यदि चरम ध्येय है तो हमें लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में समन्वय और समरसता को स्वीकार करना होगा। श्रद्धा के संसर्ग से बुद्धि (इड़ा) का संस्कार करके शुद्ध चैतन्य द्वारा भावना, ज्ञान और क्रिया में सामरस्य उत्पन्न करके अखण्ड आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

संक्षेप में, कामायनी की कथा ऐतिहासिक होने के साथ एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की सुदृढ़ एवं शाश्वत भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। श्रद्धा वियोजित सन्तुलित बुद्धि के सहयोग से मनु (मानव) उस मार्ग पर चलने योग्य होता है जो जीवन का चरम साध्य है। जब वह लक्ष्य तक पहुँच जाता है तब उसका मन पूर्णरूपेण स्वस्थ, शुद्ध और चैतन्य के आलोक

से पूर्ण होकर आनन्दलीन हो जाता है। ताप, शाप, दुःख, दैन्य, संघर्ष और वैषम्य की जड़ता तिरोहित हो जाती है और आनन्द की अजस्रधारा प्रभावित होने लगती है—

शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है॥

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड बना था॥

गोपालकृष्ण कौल

गोदान

: १ :

साहित्य में कभी-कभी ऐसी कृतियों का सृजन होता है जो साहित्य के इतिहास की धारा के प्रवाह का रुख ही बदल देती हैं; जो अपने युग-जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही अपने प्रभाव से नये युग के द्वार भी खोलती हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' भी हिन्दी-साहित्य में एक ऐसी ही युग-प्रवर्तक रचना है। जैसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चन्दवरदाई का 'पृथ्वी-राज रासो', तुलसी का 'रामचरित मानस', सूरदास का 'सूरसागर', बिहारी की 'सतसई', भूषण की 'शिवा-बावनी' और छत्रसाल पर लिखी हुई कविताएँ, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक अलग-अलग सीमा-चिह्न कायम करते हुए नये-नये युगों का उद्घाटन करते हैं; इसी प्रकार प्रेमचन्द का 'गोदान' भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध काल में अपने युग का अग्रदूत ही नहीं, नये युग का सूत्रधार भी है। यदि चन्द से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों, विषय-वस्तु और रूपविधानों, साहित्य के आलम्बनों और उपकरणों का विस्तृत अध्ययन किया जाय तो प्रेमचन्द का कृतित्व कई बातों में असाधारण और क्रान्तिकारी प्रतीत होगा। प्रेमचन्द से पूर्व के अधिकांश हिन्दी साहित्य के संस्कार, आलम्बन और उपकरण सामन्ती उच्चवर्ग की सीमाओं में घिरे हुए हैं। काव्य का आलम्बन चाहे योद्धा हो या विलासी, चाहे धार्मिक हो या भक्त, और चाहे ईश्वर हो या देवता—सब का जीवन-व्यापार, आदर्श और मर्यादाएँ सामन्ती उच्चवर्ग के विभिन्न स्तरों से ग्रस्त हैं; उनमें देश-काल के व्यवधानों से कुछ रूप-भेद हो सकते हैं, किन्तु सामान्य जनता—कृषक और श्रमिकों—को काव्य का आलम्बन नहीं चुना गया; उनके जीवन-व्यापार से साहित्य में सजीवता नहीं पैदा हुई। तुलसी और सूर के काव्यों में जो लोक-जीवन की छाया मिलती भी है तो वह सामन्ती आदर्शों को उभारकर सामने लाने के लिए शृङ्गारिक उपकरण के रूप में या चमत्कार पैदा करने वाली विरोधी पृष्ठभूमि के रूप में। किन्तु प्रेमचन्द ने युग-जीवन से प्रेरणा लेकर सामान्य जनता और किसानों के देहाती जीवन को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया; उन्होंने भारत की अस्सी प्रतिशत जनता की मूक वाणी को अपनी रचनाओं में मुखरित किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह एकदम नया क्रान्तिकारी कदम था।

: २ :

प्रेमचन्द ने कहानी से पहले उपन्यास लिखना शुरू किया था। उस समय वह उर्दू में लिखते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। डॉ० रवीन्द्रनाथ के कई गल्प मैंने अँग्रेजी में पढ़े थे; जिनका उर्दू अनुवाद कई पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने

१६०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में···।''

इस प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं का समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग पैंतीस वर्ष है। इस समय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनैतिक विकास हो रहा था। ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध जन-भावना का विरोध धीरे-धीरे तीव्र होता जा रहा था। सन् १६०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हुई बम्बई के मजदूरों की हड़ताल की देश-भर में चर्चा हुई थी। उसके बाद भारतीय राजनीति में गांधीजी का तीव्र गति से प्रवेश हुआ और उनकी वाणी का प्रभाव देश-भर में फैल गया। सन् १६२० के सत्याग्रह आन्दोलन में प्रेमचन्द ने भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। इस कार्य की प्रेरणा उन्हें गांधी की वाणी से ही मिली थी। उन्होंने लिखा है—

"···यह सन् १६२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में अच्छा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थीं। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से स्तीफा दे दिया।"

प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव स्पष्ट हैं। उनमें गांधीवादी असहयोग-आन्दोलन, स्वदेशी-आन्दोलन, विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, मद्यनिषेध, सरकारी पदों का त्याग, नारी-जागरण आदि का चित्रण मिलता है। फिर भी प्रेमचन्द उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले राजनीतिक दलों की नीति से असन्तुष्ट थे। सन् १६२३ में 'ज़माना' अखबार के सम्पादक को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"आप ने मुझसे पूछा है मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ, जो आवाम-अलनास की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल-अमल बनाएगी।"

इस असन्तोष का कारण था। प्रेमचन्द देख रहे थे कि उस समय का राष्ट्रीय-आन्दोलन विदेशी हुकूमत से राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने का आन्दोलन है; वर्ग-विभाजित समाज में श्रमिकों और किसानों का शोषण तो जारी ही रहेगा। क्योंकि इस आन्दोलन में जो भी व्यक्ति विदेशी हुकूमत से लोहा लेने को तैयार था, वह राष्ट्रीय-आन्दोलन का एक अंग बन जाता था; फिर यह नहीं देखा जाता था कि वह किस वर्ग का है, शोषित है या शोषक। किन्तु प्रेमचन्द को यह कमी खटकी थी और उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय-आन्दोलन की झाँकियों के साथ-साथ महाजनी सभ्यता और वर्ग-भेद-जन्य शोषण के भी यथार्थ चित्र खींचे हैं। उनकी प्रेरणा को स्रोत केवल गांधीवादी राष्ट्रीय-आन्दोलन ही नहीं, रूस की क्रान्ति भी थी। 'प्रेमचन्द घर में' पुस्तक में श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने लिखा है—

"मैं बोली—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या शोषण बन्द हो जायगा ?

आप बोले—थोड़ा-बहुत तो हर जगह होता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर का शोषण बलवान करें। हाँ, रूस है, जहाँ कि बड़ों का मार-मार कर दुरुस्त

कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ ?

आप बोले—अभी जल्दी इसकी आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो जल्दी हो जाय, तब आप किस का साथ देंगे ?

आप बोले—मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सब से कह दूँगा कि मैं भी मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर हैं।

× × ×

मैं बोली—तो रूस वाले यहाँ भी आयेंगे ?

वह बोले—वे यहाँ नहीं आयेंगे। हमीं लोगों में वह शक्ति आयगी। वह हमारे सुख का दिन होगा। जब यहाँ मजदूरों और काश्तकारों का राज होगा। मेरा ख्याल है कि आदमी की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।"

ऊपर के विचारों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ शोषण हीन किसान-मजदूरों के राज्य की भी कल्पना करते थे। वह इसे ऐसा राज्य समझते थे, जिसमें आदमी की उम्र ही दूनी हो जाती। इसलिए प्रेमचन्द को गांधीवादी लेखक कहना, प्रेमचन्द को गलत समझना है। वह न तो गांधीवादी थे और न मार्क्सवादी, वह सही मानों में जनवादी कलाकार थे, जो साक्षात् जीवन-अनुभव से अपना दृष्टिकोण बनाता है; अन्याय और शोषण का विरोध करता है और जिसकी सजग सहानुभूति जनता—श्रमिकों और किसानों के साथ होती है; जो मानवता की व्यापकता को समझते हुए भी मानवता की वर्ग-जन्य संकीर्णता का विरोध करता है।

: ३ :

जिस समय प्रेमचन्द ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय की साहित्यिक-परम्परा सामन्ती राष्ट्रीयता को अपने साथ भारतेन्दुयुग की विरासत के रूप में ग्रहण किए हुए नई पूँजीवादी राष्ट्रीयता के युग में प्रवेश कर रही थी। साहित्य की प्रवृत्ति और भावधारा कहीं आदर्शवादी और कहीं रोमांटिक थी। आदर्शवाद पर सामन्ती राष्ट्रीयता का प्रभाव था और रोमांटिक भावधारा पर पूँजीवादी व्यक्ति-वैचित्र्य और वैयक्तिक-असन्तोष का प्रभाव था। कविता में छायावाद (रोमांटिसिज्म) का उदय हो रहा था और गद्य में आदर्शवादी सुधारवाद का। तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गौरव की भाव-भूमि रहते हुए भी कथावस्तु और पात्रों का चुनाव इतिहास में प्राप्त सामन्ती और उच्च वर्ग से ही किया गया है; उनके जीवन-व्यापार में ही वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजा गया है। यही नहीं, प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती हिन्दी उपन्यासों में—चाहे वे तिलस्मी हों या जासूसी, सामन्ती प्रेमकथा के हों या सुधारवादी—नायक और प्रधान चरित्र राजा-महाराजा या ताल्लुकेदार के खानदान का ही है और उनका जीवन-चित्रण बड़ा यान्त्रिक रूढ़िवादी और रीतिवादी है। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' से 'भूतनाथ' तक हिन्दी का औपन्यासिक शिल्प इसी रूढ़ि-मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। उस समय का पाठक 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्रमोहिनी' और

'भूतनाथ' का पाठक था; उसके लिए कथा-साहित्य मनोरंजन का साधन था। प्रेमचन्द यदि इस प्रवाह में बह जाते तो आज हिन्दी-साहित्य का रूप ही दूसरा होता। किन्तु वह उस प्रवाह के द्रष्टा थे और उन्हें उसकी अपर्याप्तता का भान हो चुका था। वह देख रहे थे कि तूफान की गति से बदलती हुई सामाजिक चेतना और राजनीतिक जागरण के स्तर किस तरह तत्कालीन राष्ट्रीयता के आवरण में आच्छादित आर्थिक शोषण और वर्ग-भेद के मूलाधारों को उद्घाटित करते जा रहे हैं। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक-सङ्घ' के अध्यक्षपद से दिये गए अपने भाषण में उन्होंने लिखा था—

"हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये-अजायब की दास्तान थी, कहीं 'बोस्ताने-ख्याल' की और कहीं 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर व्यक्तिवाद का रङ्ग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को।"

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने पूर्व के और सम-सामयिक साहित्य-प्रवाह में अपर्याप्तता, जीवन का असाम्पर्क्य और रूढ़ि के शिलाखण्डों को देखा था, और देखा था कि जन-मानस की अनन्त मरु-प्यास की तृप्ति इस जीवनहीन प्रवाह से नहीं होगी। यह सब उन्होंने जीवन-अनुभव और जन-दर्शन की आँखों से देखा था, किसी दृष्टिकोण का चश्मा लगाकर नहीं; उनके दृष्टिकोण का आधार ही जनता का सतत प्रवाही जीवन-दर्शन था, जिसमें असन्तोष की आग, रूढ़ियों की घुटन, जातीय परम्पराओं के प्रति अन्ध आस्था और बदलते हुए समय के नवनूतन के प्रति कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा होती है। प्रेमचन्द ने अपने समय की शिल्प-रूढ़ियों और भाव-रूढ़ियों की संकीर्णताओं को छिन्न-भिन्न किया; वह न तो तत्कालीन आदर्शवाद के पथगामी बने और न रोमांटिसिज्म से अनुरक्त हुए। यद्यपि उनकी प्रारम्भ की रचनाओं में आदर्शवाद का प्रभाव है, फिर भी उनका आन्तरिक झुकाव सामाजिक यथार्थवाद की ओर था। उन्होंने अपने विचारों में कई स्थानों पर यथार्थ का विरोध किया है, इसका कारण उनका अपना अन्तर्विरोध था, जिसने उनमें प्रकृतवाद (नेचुरलिज़्म) को ही यथार्थवाद समझने का भ्रम पैदा कर दिया था और जिसे वह 'नग्न यथार्थ' के नाम से पुकारते थे। उन्होंने जैनेन्द्रजी को एक पत्र में लिखा था—

"...Realist हम में से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी नहीं हूँ।"

'है' में से 'होना चाहिए' को ध्वनित करने वाला चित्रण यथार्थवादी चित्रण है और जो केवल 'है' या 'उपस्थित' का फोटोग्राफिक चित्रण मात्र होता है, जिसमें अन्तर्निहित 'होना चाहिए' का उद्घाटन साथ-साथ नहीं होता, वह प्रकृतवादी चित्रण है। प्रकृतवादी ढङ्ग से मानव समाज की कमजोरी, पामाली और शोषण का चित्रण मानवता को निराशा, अविश्वास, और भय की ओर खींचता है और यथार्थवादी ढंग से किया गया जीवन का चित्रण मानवता को असन्तोष, जीवन में विश्वास और संघर्ष की ओर आकर्षित करता है। प्रेमचन्द ने प्रकृतवाद के

तत्वों को यथार्थवाद के साथ जोड़कर, अपने युग के आदर्शवादी प्रभाव की प्रतिक्रिया का परिचय दिया है किन्तु उनका आदर्शवाद यथार्थ की पृष्ठभूमि पर खड़ा है।

उन्होंने अपने प्रारम्भ के कई उपन्यासों में समस्याओं को प्रस्तुत तो यथार्थवादी ढंग से किया है किन्तु उनका समाधान यान्त्रिक, आदर्शवादी है जिसे राजनीतिक दृष्टि से गांधीवादी प्रभाव भी कहा जाता है। समस्याओं के आदर्शवादी समाधान को प्रेमचन्द ने दो रूपों में प्रस्तुत किया है, कहीं तो संस्थाओं और आश्रमों द्वारा और कहीं व्यक्ति को ही एक संस्था बनाकर। इन समाधानों में उनकी अपनी आन्तरिक असंगतियों और अपने युग के गांधीपंथी राष्ट्रीय आन्दोलन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। बावजूद तमाम असंगतियों और अन्तर्विरोधों के इन समाधानों में सामाजिक चेतना प्रबल है, वे व्यक्ति-प्रयत्न नहीं; क्योंकि समाज से पलायन करके किसी हल को पेश करने की कोशिश प्रेमचन्द ने नहीं की है। साथ ही उन्होंने इस प्रकार के समाधानों को प्रस्तुत करने के आदर्शवादी जोश में कहीं भी समस्याओं और जीवन के यथार्थ चित्रण को अयथार्थ या आदर्शवादी बनाने की यान्त्रिक कोशिश नहीं की है। जैसे जमींदारों के किसानों पर, अछूतों पर सवर्णों के, महाजनों के, गरीबों पर होने वाले अत्याचार को सिर्फ इसलिए कम करके चित्रित करने की आदर्शवादी कमजोरी उन्होंने नहीं दिखाई कि वह वर्ग-संघर्ष जन्य क्रान्ति के वैज्ञानिक विकास को नहीं जान जान पाए थे और समन्वय एवं समझौते की बात सोचते थे। उनके ऐसे समाधान और परिणाम उनके उपन्यासों की यथार्थवादी पृष्ठभूमि को कभी विकृत नहीं करते थे। वह मूलतः यथार्थवादी कलाकार थे किन्तु उनपर प्रभाव अपने युग के आदर्शवाद का था। जिस उपन्यास में वह समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करते और यथार्थ समस्याओं को ही चित्रित करके सन्तोष कर लेते हैं या समाधान या परिणाम उस समस्या की यथार्थता से स्वयं ध्वनित होने लगता है, उस उपन्यास में वह अपने युग के एकमात्र यथार्थवादी कलाकार के रूप में सामने आते हैं। या यों कहा जा सकता है कि समस्याओं को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने एवं जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करने में वह सफल थे।

प्रेमचन्द ने इस यथार्थ और आदर्श की समस्या को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के माध्यम से सुलझाया, किन्तु इसे 'यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचन्द का समझौता' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अपनी रचनाओं में—उपन्यासों में 'वरदान' से 'गोदान' तक और कहानियों में प्रारम्भ की कहानियों से 'कफ़न' तक—क्रमशः उनकी कला का विकास यथार्थवाद की ओर ही हुआ। जैसे कहानियों में 'कफ़न' उनकी पिछली कहानियों की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी है, वैसे ही उपन्यासों में 'गोदान'। 'गोदान' न केवल हिन्दी कथा-साहित्य का एक सीमाचिह्न है, बल्कि प्रेमचन्द की कला के विकास का भी सीमाचिह्न है। यह विकास भारतीय जीवन की ऐतिहासिक पृष्टभूमि में समझौता परस्त नहीं, अभूतपूर्व और साहित्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी है।

'गोदान' के पूर्ववर्ती हिन्दी कथा-साहित्य और परवर्ती कथा-साहित्य की विकास-धाराओं के अध्ययन से पता चलता है कि 'गोदान' आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वस्तु और शिल्प, विचार और विवेचन, जीवन और वास्तविकता, और यथार्थ और आदर्श तथा भाषा की दृष्टि से युग-सन्धि स्थापित करने वाली महान् कला सृष्टि है, वह अपने युग को ही केवल प्रतिबिम्बित नहीं करती, बल्कि भावी युग की भूमिका भी है। वह साहित्य के सामन्ती संस्कारों, रीति रूढ़ियों, संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट भाषा की कृत्रिमताओं के प्रति साहित्यिक विद्रोह का प्रतीक है, उसमें सर्वप्रथम

भारतीय जन-जीवन की यथार्थ झाँकी अपनी तमाम दुर्बलता और सबलता, परम्परा और जातीयता, संस्कृति और सामाजिकता के साथ वर्ग-भेद जन्य शोषण और अत्याचार और उनके विरुद्ध जीवन-संघर्ष के सुख-दुख, आघात-प्रतिघातों एवं उत्थान-पतनों के विविध रूपों में चित्रित हुई है, जिसकी मिसाल 'गोदान' के पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में तो मिलती ही नहीं; परवर्ती कथा-साहित्य में भी इस यथार्थवादी परम्परा को और अधिक विकसित करने वाली प्रतिभा की खोज करना कठिन है।

'गोदान' भारतीय ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण है। इसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है किन्तु वह केवल व्यक्ति नहीं, भारतीय किसान के जीवन का प्रतीक है, वह व्यक्ति होते हुए भी एक वर्ग है, उसके व्यष्टि-जीवन में भारतीय कृषक की परम्पराओं, सांस्कृतिक विरासतों, उसकी रूढ़ियों और रीति-रिवाजों, उसकी कष्ट-कथाओं और अतृप्त अभिलाषाओं, दूसरे जमींदार, महाजन और हाकिम आदि विविध वर्गों से उसके अनेक-रूप-सम्बन्धों की समष्टिगत व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। होरी एक होते हुए भी अनेक का चित्र है।

देहात और किसान का जीवन और मरण का सम्बन्ध है। देहात की कहानी किसान की कहानी और किसान की कहानी देहात की कहानी है। इसलिए 'गोदान' की आधिकारिक कथा-वस्तु का वातावरण नागरिक नहीं देहाती (rural atmosphere) है। इस प्रकार 'गोदान' की कथावस्तु भारत की अस्सी प्रतिशत जनता के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। इससे पूर्व हिन्दी में क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में भी देहाती वातावरण और किसान के जीवन से इस भाँति की प्रतिनिधि-परक कथा-वस्तु का चुनाव किसी उपन्यास में नहीं किया गया।

आधिकारिक कथा का प्रारम्भ होरी की गाय के पालने की चिर-लालसा की देहाती भावभूमि से होता है और अन्त भी गोदान की ग्रामीण परम्परागत संस्कारी भावना से होता है, जो कृषक-संस्कृति की लोकपरम्परा के वातावरण का प्रतीक है। होरी और उसकी पत्नी धनिया के वार्तालाप से कथा का उद्घाटन होता है और होरी की मौत और धनिया की नीरव व्यथा में कथा की समाप्ति। लगता है कि जैसे सारा कथा-प्रवाह होरी और धनिया के जीवन की सतत गूँज है, जो अन्त में एक करुण प्रतिध्वनि करके शान्त हो जाती है, या होरी जैसे ग्राम-देवता का शरीर है और धनिया उसकी आत्मा, जो ग्रामीण-संस्कृति की परम्परा के प्रवाह में थपेड़े खाते हुए उसी के बीच अपनी जीवन नौका को अपने बाहुबल और आस्था के आत्मबल के सहारे खींचते जा रहे हों। इस प्रकार 'गोदान' भारतीय ग्राम-देवता की करुण आत्म-पुकार है, उसके शरीर और मन का यथार्थ चित्रण।

होरी—एक किसान का यथार्थ चरित्र है। उसमें उसके अपने सारे अन्तर्विरोधों और गुण-दोषों की सजीव कहानी है। वह मन से बड़ा उदार है किन्तु 'महाजनी सभ्यता' की मार से उसकी दरिद्रता उसे संकीर्ण और नीच बनने पर भी मजबूर कर देती है, बहुत-सी दुर्बलताएँ उसे विरासत में भी मिली हैं। गरीबी के कारण वह अपने भाइयों से ५) की बेईमानी तक करने को तैयार हो जाता है किन्तु जब उसका भाई हीरा उसकी गाय को द्वेष और ईर्ष्या के कारण विष देकर मार डालता है, तब होरी जानकर भी अपने भाई के इस पाप को छिपाना चाहता है। किन्तु वह धनिया से कुछ नहीं छिपा पाता है और धनिया यह बात जब कहती है तो उसे पीटता है। हीरा गाँव से भाग जाता है तब होरी उसकी खेती का सारा काम खुद करता है, अपना पीछे पहले उसके काम को

करता है। दरोगा आकर जब हीरा के पीछे उसके घर की तलाशी लेना चाहता है तो होरी कर्ज लेकर भी दरोगा को रिश्वत देकर अपने भाई के घर की प्रतिष्ठा बचाना चाहता है। उसकी दुर्बलता के प्रति हमें सहानुभूति पैदा होती है और उसके कर्मरत संकटग्रस्त जीवन-व्यथा के प्रति करुणा। वह अपने शरीर पर सब-कुछ झेलता है किन्तु अपनी आस्था से अडिग नहीं होता, वह अपनी जमीन और अपने घर की प्रतिष्ठा के लिए अपने को होम देता है। लेकिन जब हम देखते हैं कि महाजन और जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध वह विद्रोह नहीं करता तो हमें कहीं-कहीं उस पर क्रोध भी आता है। कर्ज से मुक्ति पाने के लिए, अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए सतत परिश्रम उसका जीवन-क्रम बन जाता है। वह चुपचाप सारे अन्यायों और कष्टों को सहता रहता है किन्तु अपने इस क्रम से नहीं हटता। अन्त में वह मजदूरी करता है, किन्तु झुकता नहीं। इस सतत विश्राम-हीन परिश्रम के यज्ञ में वह अपने जीवन की आहुति चढ़ा देता है। लू लगने से वह मर जाता है। लू लगने से पहले जब एक मजदूर उसे देख कर पूछता है—"तुम भी तो बहुत दुबले हो गए, दादा।" तो होरी हंसकर कहता है—

"तो क्या यह मोटे होने के दिन हैं? मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।"

जैसे ये शब्द होरी के जीवन-अनुभव का निचोड़ हों, उसके मन के किसी कोने में नाचने वाले धुँधले स्वप्न की एक झाँकी हो, मानो यह सारे उपन्यास में प्रकट यथार्थ के 'है' में से ध्वनित होने वाले अन्तर्निहित 'होना चाहिए' की युग-माँग की पुकार हो।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में तो वर्ग और व्यक्ति का एक साथ चित्र उपस्थित करने वाला इतना उदार स्वाभाविक मानव-चरित्र तो मिलता ही नहीं, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में भी, जो शिल्प की दृष्टि से कई बातों में 'गोदान' से आगे हैं ऐसा पौरुष-चरित्र पाना कठिन ही है। परवर्ती उपन्यासों में व्यक्ति-वैचित्र्य और व्यक्ति-कौतुक तो बहुत हैं किन्तु उनमें जन-जीवन के इतना सहज प्रतीक चरित्र नहीं मिलते। होना तो चाहिए था कि प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण की इस यथार्थवादी परम्परा का विकास परवर्ती उपन्यासों में होता किन्तु शिल्प-प्रयोग की रीतिवादी मनोवृत्ति में परवर्ती उपन्यासों में पुंसत्वहीन, सनकी और मरीज नायकों की सृष्टि ही अधिक की है। कई आलोचकों को होरी के चरित्र में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की छाया भी दिखाई देती है।

धनिया का चरित्र एक दृढ़, साहसी और कर्मठ ग्राम-नारी का चरित्र है। परिवार की गाड़ी को वह अपनी व्यवहार-कुशलता से आर्थिक शोषण और सामाजिक रूढ़ियों के दलदल में भी खींचती चली जाती है। जो बात उसके सहृदय हृदय को उचित प्रतीत हो फिर वह उसके लिए बड़ी से बड़ी सामाजिक श्रृङ्खला की परवाह नहीं करती। वह अपने पुत्र गोबर के किये हुए असामाजिक प्रेम को अपने साहस के द्वारा पाप बनने से बचा लेती है। गोबर विधवा झुनिया के यौवनासक्ति में उसे गर्भवती बना देता है और जब उसे इस कार्य के दायित्व के बोझ का पता चलता है तब वह झुनिया को अपने घर पर छिपाकर छोड़ जाता है और खुद शहर भाग जाता है। धनिया तब समाज के भय से झुनिया को अपने घर से भगाती नहीं, बल्कि उसे स्वीकार करके अपने पुत्र की कायरता को धिक्कारती है। इसी प्रकार ग्राम-विप्र की रखैल चमारिन सिलिया को भी परित्यक्ता होने पर वह अपने घर में स्थान देती है। जब दरोगा उसकी अपनी गाय को

मारने का अभियोग उसी पर लगाता है और धमकी देता है तो वह सब आदमियों के सामने निर्भीकता से कहती है—

"हाँ, दे दिया अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारी जाँच में यही निकलता है तो यह लिखो, पहना दो हाथों में हथकड़ी।"

इसी प्रकार झुनिया का मामला लेकर गाँव के पंच जब होरी को दण्ड देते हैं तो वह कहती है—

"मुझसे इतना बड़ा जरीवाना इसलिए लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा ? क्यों उसको निकाल कर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया ? यही न्याय है, एँ ?—"

वह पंच परमेश्वर की भी परवाह नहीं करती; उनके अमानवीय न्याय को धिक्कारती है। धनिया जैसे नारी-चरित्र भी दूसरे हिन्दी उपन्यासों में मुश्किल से ही मिलेंगे।

गोबर इन दोनों का बेटा है। वह नई पीढ़ी के असन्तोष का प्रतीक है। वह जमींदार और महाजन जैसी गाँव की जोंकों को मिटाने की बात सोचता है। उसका यह असन्तोष और आन्तरिक विद्रोह गाँव से शहर की ओर खींच ले जाता है। वहाँ वह मजदूरी करके, खोंचा लगाकर जो रुपया पैदा करता है, वह सूद पर उठाने लगता है। कुछ रुपया पैदा करके वह पहली बार जब गाँव लौटता है तो भी उसमें गाँव के महाजनों और जमींदार के विरुद्ध एक बगावत की भावना काम करती है। वह होली के अवसर पर नौजवानों की टोली बनाकर स्वाँग करता है और उसमें गाँव के महाजनों की मजाक उड़ाई जाती है। किन्तु होरी के सन्तोषी स्वभाव से चिढ़कर वह फिर शहर चला जाता है। गाँव से विद्रोह की भावना लेकर शहर में आने पर उसके जिस चारित्रिक विकास की प्रारम्भ में अपेक्षा की जाती है वह पूरी नहीं होती। प्रेमचन्द गोर्की के 'मदर' उपन्यास के मजदूर बेटे की तरह 'गोदान' में गोबर के चरित्र का क्रान्तिकारी विकास कर सकते थे। किन्तु गोबर की सामाजिक चेतना महाजनी सभ्यता का शिकार बन जाती है और उसका क्रान्तिकारी विकास रुक जाता है। संभवतः प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता की विकृति का चित्रण करने में ही गोबर के चरित्र की यथार्थता समझी हो, क्योंकि 'गोदान' किसान के आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्र है, जो मिटती हुई जमींदारी सभ्यता के स्थान पर अपने पैर जमाने वाली महाजनी सभ्यता के छोटे-बड़े प्रतीकों द्वारा खींचा गया है। 'गोदान' में ह्रासोन्मुखी जमींदारी सभ्यता के प्रतीक हैं रायसाहब, जो स्वयं बड़े महाजनों के कर्जदार हैं। किसान यदि गाँव के छोटे महाजनों का शिकार है, तो जमींदार बैंकों और बड़े महाजनों का, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध शब्दों में, वह भी साधारण आदमी की तरह करता है। रायसाहब, मेहता से कहते हैं—"किसी को भी दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती।···हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया।"

इस कथन से स्पष्ट है कि जब जमींदार कर्ज के बोझ से दबता है तो वह भी पूँजीवाद को कोसता है और दूसरी ओर गाँवों में किसानों का स्वयं उपजीवी बनकर रहता है। वह किसान के सामने अपने को उसके समान ही दुखी और परेशान बताता है ताकि किसान अपने प्रति किये

गए अत्याचार को जमींदार की मजबूरी समझकर उसके प्रति सहानुभूति रखे। राय साहब होरी से कहते हैं—"दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ क्या नहीं हैं; लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो आदमी नहीं है।···जो भोग-विलास के नशे में, अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता।···लक्षण कर रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।"

एक ओर तो यह वर्ग अपने मरणोन्मुख जीवन को देखकर दुखी होता है और दूसरी ओर इस स्थिति में भी वह अपने शोषणकारी चक्र की गति को नहीं रोकना चाहता है। राय साहब होरी के सामने यह कह ही रहे थे कि उन्हें पता चलता है कि बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है। यह सुनते ही 'राय साहब के माथे पर बल पड़ गए। आँखें निकाल कर बोले—'चलो मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूँ।' कथन और कृत्य में कितना अन्तर है; मिटता हुआ वर्ग भी अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए क्या नहीं करता ? प्रेमचन्द ने इस प्रकार मिटनेवाले जमींदार वर्ग का कितना यथार्थ चित्रण किया है !

प्रेमचन्द ने जमींदारों के अत्याचारों का चित्रण अपने पिछले उपन्यासों और कहानियों में काफी किया है 'प्रेमाश्रम' में इसी वर्ग के शोषणकारी चक्र की तस्वीर खींची गई है किन्तु 'गोदान' में गाँव से लेकर शहर तक फैले हुए छोटे-बड़े पूँजीपतियों और उनके एजेण्टों का यथार्थ चित्रण है। भारतीय जीवन में पूँजीवाद के प्रवेश को उन्होंने महाजनी सभ्यता की संज्ञा दी थी। प्रेमचन्द की धारणा थी "इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पने वाला है, दूसरा हड़पा जाने वाला। इस महाजनी सभ्यता का अन्त हुआ है केवल रूस देश में और जो समाज-व्यवस्था उस देश के लिए हितकर हुई है, वह हिन्दुस्तान के लिए भी हो सकती है।" फिर भी प्रेमचन्द ने इस व्यवस्था का नारेबाजी के साथ कभी प्रचार नहीं किया, यद्यपि वह साहित्य को 'प्रोपेगण्डा' मानने से हिचकते नहीं थे। वर्ग-भेद, मिटते बनते नये-पुराने वर्गों के रूप, शोषण के अनेक धार्मिक, जातीय और सामाजिक प्रकार—सब बातें उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति बनकर साहित्य में अभिव्यक्त हुई थीं, वह जनता के लिए जनता से सीखकर जनता के साहित्य की सृष्टि करते थे।

गाँवों में फैले हुए 'महाजनी सभ्यता' के विभिन्न रूपों के चित्र भी जन-जीवन की व्यापक अनुभूति के फल हैं। होरी कहता है—"जमींदार तो एक ही है; मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग।" झींगुरीसिंह शहर के बड़े महाजन का गाँव में छोटा एजेण्ट है। होरी इन महाजनों के कर्ज से जीवन-भर नहीं उबर पाता है। मूलधन का सूद-ब्याज द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता जाता है और इस चक्की में पिसते-पिसते आखिर उसका अन्त हो जाता है। धनिया सुतली बेचकर जो बीस आने पैसे लाई थे वे भी होरी के मरते समय उसने गोदान में दे दिए। दातादीन से वह कहती है—"महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" यहीं उपन्यास भी करुण वातावरण में समाप्त हो जाता है। गोदान के बीस आने भी महाजन ब्राह्मण को ही मिलते हैं। जीवन-भर जो महाजन खून चूसता रहा, वही अन्त समय में भी पुरोहित बनकर दक्षिणा वसूल करता है। किसान के जीवन-रक्त को चूसने वाली इन सामाजिक जोंकों का अभिशाप मानों

किसान की अन्तर्व्यथा की करुण-चीत्कार बनकर इस उपन्यास में फूट पड़ा है।

'गोदान' की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ एक प्रासंगिक कहानी भी चलती है। वह है देहात के साथ शहर की कहानी। मालती और मेहता की कहानी। यह प्रासंगिक-कथा मुख्य-कथा से अलग दिखाई पड़ती है, और लगता है कि यदि होरी के ग्राम-जीवन की कथा-वस्तु तक ही सीमित होता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता था। किन्तु प्रेमचन्द के 'गोदान' के पहले के उपन्यासों में भी कथा-वस्तु का क्रम इसी प्रकार है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। केवल शिल्पद्रष्टा आलोचक भले ही इस कथा का सुगठन न मानें किन्तु इस प्रकार की कथाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं और दोनों ही मिलकर उपन्यास के व्यापक चित्र को पूर्ण बनाती हैं। वर्गभेद और वर्ग-विरोध एवं शोषण के रूप ही दो कथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। एक ओर किसान है, दूसरी ओर जमींदार, दोनों वर्गों के दो क्षेत्र हैं और दोनों के सम्बन्ध भी। जब तक चित्र के दोनों पहलू सामने न रखे जायँ जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति उसकी वास्तविकता और यथार्थ समस्याओं को उभारकर सामने नहीं रख सकती। 'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने इसी वर्गविरोध के विविध सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए दो कथाओं को एक में गूँथने का प्रयत्न किया है। गूँथने में या कथा-सन्धि में भले ही विशेष शिल्प-चातुर्य न हो किन्तु दोनों कथाओं के पात्र एक-दूसरे की पृष्ठभूमि में कन्ट्रास्ट के साथ उभरकर सामने आते हैं।

प्रेमचन्द चमत्कारवादी नहीं थे कि उपन्यास के शिल्प-कौशल के चक्कर में जीवन-वस्तु की यथार्थता की विराट् अनुभूति को ही कुण्ठित करके नये-नये प्रयोग करते। उनका शिल्पवस्तु को वहन करने वाला साधन था, साध्य नहीं। इसलिए उनकी रचनाओं में कलात्मक चमत्कार खोजनेवालों को निराशा होगी। प्रेमचन्द ने एक पत्र में लिखा भी था—

"कथा को बीच में शुरू करना, या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।"

वह जीवन के इतने समीप थे कि अपनी कला और जीवन में उन्होंने तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इसीलिए उनका कहानी कहने का ढंग बड़ा स्वाभाविक था। उनका शिल्प सरल और सुबोध शिल्प है। 'गोदान' में ही चरित्र शब्दचित्रों, वार्तालापों द्वारा स्वाभाविक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उभरते हैं। वार्तालाप में वह ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिनमें लगता है कि यह जीवन की वाणी है। 'गोदान' का गद्य प्रेमचन्द की हिन्दी को अभूतपूर्व और ऐतिहासिक देन है। देहात के वातावरण का चित्रण करने में उनके शब्द ही सजीव हो उठते हैं। 'गोदान' के अवध के गाँव और ताल्लुकेदार और किसानों का चित्रण है इसलिए भाषा में मुहाविरों के सहज-प्रयोग और खानगी के अतिरिक्त अवधी का पुट वातावरण को सजीव बना देता है। जन-जीवन से सम्पर्क रखने वाली ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग हिन्दी के दूसरे उपन्यासकारों ने नहीं किया, उनकी भाषाओं में गद्य-कौशल और कृत्रिमता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचन्द के गद्य के विषय में लिखा है—

"शैलीकार की दृष्टि से प्रेमचन्दजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में असाधारण है। सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप में वह पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आए। हिन्दी-शैली

की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मंज नहीं पाई है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासम्भव बचाने का उद्योग किया जाता है।······इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्दजी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उसपर चलने के लिए आमन्त्रित किया।"

विद्वान् मौलाना शिबली की राय में भी प्रेमचन्द के मुकाबले का सुन्दर और संवरा हुआ गद्य लिखने वाला सात करोड़ मुसलमानों में भी दूसरा नहीं था। 'गोदान' की भाषा उनकी रचनाओं में सबसे अलग विशेषता रखती है और वह यह कि उपन्यास में जिस सामाजिक जीवन के महासागर को तरंगायित दिखाया गया है, गर्जन और स्वर भी उसी जीवन का है, उधार लिया हुआ नहीं।

'गोदान' प्रेमचन्द की एक कृति होते हुए भी बीसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध के हिन्दी-साहित्य के विकास का अग्रदूत है।

'गोदान' हिन्दी पाठक को तिलस्म के मायाजाल से निकाल कर सामाजिक रस के स्तर तक खींच कर लाने की प्रेमचन्द की कला साधना का ऐतिहासिक प्रतीक है।

'गोदान' साहित्य को मनोरंजकता के रङ्गमहल से निकालकर जनता के जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करने की कहानी है।

'गोदान' भारतीय संस्कृति और लोक-परम्परा को साथ लेकर चलने वाले भारतीय कृषक वर्ग के संघर्षरत जीवन की तपस्या का यथार्थचित्र है और है संस्कृति-विरोधी शोषक वर्गों की महाजनी सभ्यता के काले कारनामों का इतिहास।

हमारे जीवन-संघर्ष की अपूर्णता ही 'गोदान' की अपूर्णता है और हमारे वर्ग-जीवन की पूर्णता ही 'गोदान' की पूर्णता है।

'गोदान' में अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसव-व्यथा भी।

'गोदान' उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य है।

ड्रिल्स
रीमर्स
कटर्स
इण्डियन टूल मैन्युफैक्चरर्स लिमिटेड
१०१ ग्रीव रोड
बम्बई २२

आलोचना

के

अगले अंक में

★ ि
ि
ि
ि

ुमार तिवारी
ाचन्द्र माथुर
ान भटनागर
अग्रवाल
सत्यार्थी
द्विवेदी
न शर्मा
ाश गुप्त
चौहान
: माथुर
देवराज
बाहरी
स्वामी
्स्यायन
त्रिपाठी

मैल